प्रास्ताविक निवेदन

तत्त्वज्ञान, वाङ्मय, समाजशास्त्र इत्यादि शास्त्रोंके चिकित्सक अभ्यासकोंको व्याकरणशास्त्रके गहरे अनुशीलनकी अत्यंत आवश्यकता होती है; परन्तु कई विशिष्ट और क्लिष्ट रचनाप्रकारोंके कारण संस्कृत-व्याकरण-शास्त्रका अध्ययन अति जटिल हो जाता है। इसीलिये महाभाष्य जैसे असामान्य और विद्वत्ताप्रचुर ग्रंथका अधिकृत, सुलभ तथा संपूर्ण भाषान्तर मराठीके सिवा अन्य किसी भाषामें आज तक नहीं हुआ है। इस मौलिक और संशोधनकार्यके लिये नितान्त आवश्यक ग्रंथका राष्ट्रभाषा हिंदीमें यदि अनुवाद किया जाय तो समूचे भारतवर्षमें उसका प्रचार होकर अन्यान्य घटक राज्योंके विद्वानोंको उसका लाभ होगा इस दृष्टिसे सन १९५४ ईसवीमें हमारी संस्थाके द्वारा प्रकाशित किये हुए महामहोपाध्याय–वासुदेवशास्त्री–अभ्यंकरकृत मराठी-भाषानुवादके आधारपर इस ग्रंथका राष्ट्रभाषा हिंदीमें अनुवाद करनेका हमने संकल्प किया; और तदनुसार भारतके कुछ विद्यापीठोंसे इस कार्यमें आर्थिक साहाय्य देनेकी प्रार्थना की।

हमें हर्ष है कि हमारी प्रार्थनाके अनुसार पंजाब विद्यापीठने ढाई हज़ार रुपये और नागपुर विद्यापीठने पांच सौ रुपये शीघ्र ही प्रदान किये। इस प्राप्त निधिसे कार्यारम्भ करनेके उद्देश्यसे महाभाष्यका पहला नवाह्निकी-विभाग प्रकाशित करनेका हमने निश्चय किया और उसके चार आह्निकोंका प्रथम खण्ड आज हम प्रसिद्ध कर रहे हैं। समग्र मूलग्रंथ, उसका राष्ट्रभाषामें अनुवाद, विवेचक टिप्पणियाँ तथा विस्तृत प्रस्तावना आदिके साथ यह पूरा ग्रंथ प्रकाशित करनेके लिये लगभग चालीस हजार रुपयोंकी आवश्यकता है।

महाभाष्यके इस हिन्दी अनुवादका कार्य श्रीयुत पाण्डुरङ्ग नारायण मुळे, एम्. ए., बी. टी. (बम्बई), राष्ट्रभाषा-विशारद (मद्रास), को सौंप दिया, और इस अनुवाद कार्यका मार्गदर्शन तथा सूक्ष्म निरीक्षण एवं मूल संस्कृत ग्रंथका संपादन प्राध्यापक काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकरको सौंप दिया, और आप दोनोंने वह कार्य भार सहर्ष मान्य किया। प्रा. अभ्यंकरशास्त्रीजी उपर्युक्त महाभाष्यके मराठी-भाषानुवादका संपादन कर चुके हैं और उस ग्रंथको आपने विद्वत्ताप्रचुर प्रस्तावना भी जोड़ दी है। संप्रति आप डाक्टर कीलहार्नद्वारा संपादित महाभाष्यके प्रथम और द्वितीय संस्करणोंका पुनःसंपादन भी कर रहे हैं।

विद्वानोंके लिये यावच्छक्य अल्प मूल्यपर यह ग्रंथ उपलब्ध हो इस एक ही सदिच्छासे प्रेरित होकर हिन्दी भाषान्तरकार और संपादक महाशयोंने अत्यन्त निःस्वार्थतासे यह कार्य किया, तथा पंजाब और नागपुर विद्यापीठोंने इस कार्यके लिये

तीन हज़ार रुपये प्रदान करके हमें उपकृत किया, इसीलिये इस ग्रंथका इतना स्वल्प मूल्य रखना शक्य हुआ है। हमें विश्वास है कि संस्कृत शास्त्रों और विद्याओंका अध्ययन, अध्यापन, संशोधन आदि कार्य करनेवाली संस्थाएँ तथा संस्कृताभिमानी जिज्ञासु अभ्यासक व्यक्ति इस सुविधासे पूरा लाभ उठा लेंगी।

इस कार्यमें आर्यभूषण मुद्रणालयके चिकित्सक व्यवस्थापक श्रीयुत विश्वनाथ अनन्त पटवर्धनजीने बहुत परिश्रम उठाके और समय-समयपर मुद्रणसंबंधी उपयोगी सूचनाएँ देकर जो अमोल सहायता की, उसके लिये संस्थाकी ओरसे मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

फर्ग्युसन कॉलेज, पुणे ४।
भारतीय दि. १ सौर चैत्र १८८१
२२ मार्च, १९५९

विश्वनाथ विष्णु आपटे
कार्यवाह,
डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी, पुणे.

श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचितं

व्याकरणमहाभाष्यम्

(नवाह्निकीविभागः)

तत्र 'पस्पशा'नामकं प्रथममाह्निकम्

हिन्दी भाषान्तर

पस्पशाह्निक (अ. १ पा. १ आह्निक १)

['पस्पशा' नामका विवेचन—व्याकरणमहाभाष्य पाणिनिसूत्रोंपर रचा गया है। अतः सूत्रपाठके समान उसके भी आठ अध्याय और प्रत्येक अध्यायके चार पाद इसी प्रकारके विभाग होते हैं। प्रत्येक पादके प्रतिपाद्य विषयके प्रकरणात्मक भाग करके भाष्यकारने स्वयं उपविभाग किये हैं और उन विभागोंको 'आह्निक' नाम दिया है। व्याकरणशास्त्रमें योग्य प्रवेश प्राप्त किये हुए अत्यन्त बुद्धिमान् शिष्यको एक दिनमें जितना विषय प्रतिभासम्पन्न गुरु पढा सकता है उतना विषय साधारणतः इस उपविभागमें होनेके कारण उसको आह्निक (अह्ना निर्वृत्तम्) यह नाम भाष्यकारने दिया हो। इस प्रकारके ८५ आह्निक महाभाष्यमें हैं। उनमेंसे पहले पादके नौ आह्निक हैं। उनको 'नवाह्निकी' ऐसी संज्ञा देनेकी वैयाकरणोंकी प्रथा है। उनमेंसे पहला आह्निक प्रस्तावनाके रूपमें है। भाष्यकारने आह्निकोंको यद्दि नाम न दिये हों, तो भी इस प्रस्तावनाह्निकको 'पस्पशाह्निक' कहनेकी वैयाकरणकुलोंमें प्रथा है। 'पस्पशाह्निक' संज्ञा नागेशभट्टके लेखनमें पायी जाती है; पर यह बहुत पुरानी है। माघ कविके 'शिशुपालवध' काव्यमें—

" अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ " (शिशु० २।११२)

इस श्लोकमें 'अपस्पशा' शब्द श्लिष्ट है, और उसमें 'पस्पशा' संज्ञा इस प्रस्तावनाह्निकको कविने लगायी हुई स्पष्ट दीख पडती है। स्पश् धातुका अर्थ है ग्रहण करना; और अप-उपसर्गपूर्वक स्पश् धातुको स्त्रीलिंगी 'अ' प्रत्यय लगाकर और उपसर्गके अकारका लोप करके 'पस्पशा' शब्द सिद्ध किया गया है, और उसका अर्थ है दूरसे किया हुआ निरीक्षण किंवा अवलोकन। 'स्पश्' धातुके यङ्लुगन्तके आगे 'अ' प्रत्यय लगाकर 'पस्पशा' शब्दकी सिद्धि हो सकती है, और उसका 'सूक्ष्म निरीक्षण' यह अर्थ होगा। पस्पशा शब्दका यह यौगिक अर्थ इस आह्निकको पूर्णतया लागू होता है। व्याकरणशास्त्रके महाभाष्य जैसे सर्वमान्य ग्रंथको पस्पशा यह प्रस्तावनाह्निक अत्यन्त समुचित है।

"शास्त्रेभ्यश्च व्याकरणं मुख्यं तत्रापि पाणिनेः। रम्यं तत्र महाभाष्यं रम्या तत्रापि पस्पशा॥" ऐसा वर्णन किया जाय तो इस आह्निकको वह पूर्णतः लागू पडता है।

व्याकरणाध्ययनके प्रयोजन—पाणिनिकी अष्टाध्यायीका व्याख्यान यही इस महाभाष्य ग्रन्थका स्वरूप है। अतः इस पस्पशाह्निकमें प्रथमतः प्रस्तुत ग्रन्थका अर्थात् अष्टाध्यायीका प्रतिपाद्य विषय क्या है यह विचार किया गया है, और शब्दानुशासन' यह इसका विषय निर्दिष्ट किया गया है। [शब्दका अर्थ है ध्वनि। यह कहकर भाष्यकारने प्रतिपादन किया है कि द्रव्य, गुण और आकृति (जाति) इनका ज्ञान शब्दके उच्चारणसे होता है,] अतः शब्द द्रव्य-आदिसे भिन्न होनेपर भी उसका वाचक होता है। इस प्रकरणमें प्रदीपकारने यह वाचक [शब्द क्षणिक ध्वनिसे भिन्न स्फोटस्वरूप नित्य शब्द है ऐसा कहकर भर्तृहरिके वाक्यपदीयका आधार दिया है] [शब्द, द्रव्य-आदिका वाचक है सही, पर वह शब्द अर्थात् ध्वनि नहीं, बल्कि स्फोटके नाते शास्त्रकारोंद्वारा वर्णित नित्य शब्द है] यह कहकर स्फोटके वर्णस्फोट आदि आठ प्रकार शब्दकौस्तुभकारने दिये हैं और मीमांसकमतका खण्डन भी किया है (शब्दकौस्तुभ आह्निक १)।[तदनन्तर [भाष्यकारने व्याकरण शास्त्रके अध्ययनके प्रयोजन दिये हैं। 'प्रयोजन' शब्द भाष्यकारने हेतु और उपयोग (लाभ) इन दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त किया है। प्रथमत. वेदका रक्षण (रक्षा), वेदके वाक्योंका आवश्यकतानुसार विभक्ति-विपरिणाम (ऊह) इत्यादि अध्ययनके हेतु बतानेके बाद भाष्यकारने 'तेऽसुराः०' आदि वाक्य दिये हैं, और उनके आधारपर व्याकरणशास्त्रके अध्ययनके ये फल बताये हैं कि दुष्ट शब्दोंके उच्चारणसे उच्चारण करनेवालेका पराभव और नाश होता है, पर शुद्ध शब्द उच्चारनेसे अच्छा फल मिलता है, लोकमें उच्च स्थान मिलता है, ऋत्विजका सम्मान प्राप्त होता है, वैदिक कर्म यथाशास्त्र करना शक्य होता है, प्रायश्चित्तेष्टि नहीं करनी पडती है, मुखमेंके स्थानोंकी शुद्धि होती है, शब्दस्वरूपका यथार्थज्ञान होता है, वाग्देवी अपना यथार्थस्वरूप प्रकट करती है, और उससे शब्दब्रह्मसे ऐक्य होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है] ये सब फल निस्सन्देह व्याकरणशास्त्रके ज्ञाताको ही मिलते हैं। पर पहले जैसे अत्यावश्यक रूपमें वेदाध्ययनके समान उपनयनके बाद लोग व्याकरणाध्ययन अब नहीं करते, इसलिए भाष्यकारने कहा है कि [वेदाध्ययनके बाद वेदार्थ समझनेके लिए व्याकरण सीखनेका उपदेश सर्वथा इष्ट है।] ये व्याकरणाध्ययनके प्रयोजन कहनेवाले कौन हैं—स्वयं पाणिनि, वार्तिककार, अथवा स्वयं भाष्यकार? इस विषयमें टीकाकारोंमें मतभेद है। भाष्यकारने ये स्वयं न कहे हों, कारण कि स्वयंके बारेमें वह 'आचार्यः सुहृद् भूत्वा अन्वाचष्टे' यह कभी नहीं कहता। 'अन्वाचष्टे' शब्दसे यों कहना शक्य है कि प्रथमतः पाणिनिने ही वे उस समय उपलब्ध किसी ग्रन्थमेंसे प्रयुक्त किये और आचार्योंने अर्थात् उस कालके प्रसिद्ध वैयाकरण व्याख्या-कारोंने उनका अन्वाख्यान किया। वार्तिककारोंने भी प्रथमतः प्रयोजन स्वयं नहीं कहे, कारण कि 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' यह वार्तिककारोंका पहला वार्तिक है ऐसा भाष्यकार ही कहते हैं। कदाचित् 'अथ शब्दानुशासनम्' इस वचनसे ऐसा ज्ञात होता है कि शब्दशास्त्रके अपने

' संग्रह ' ग्रथका आरम्भ करके तदनन्तर संग्रहकार (व्याडि) ने ' रक्षोहागम० ' इत्यादि वचनोंसे व्याकरणके प्रयोजन कहे हों। वार्तिककार और भाष्यकार इन दोनोंको भी पाणिनिके ' अष्टक ' को ' व्याकरण ' संज्ञा योग्य है यह अभिप्रेत हो, ऐसा ' सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः ' इस वार्तिकवचनसे और उसके व्याख्यानसे सूचित होता है।

शब्दनित्यत्व—शब्द अनन्त होनेके कारण प्रत्येक शब्द उच्चार करके कहना शक्य नहीं; उसी प्रकार जो शब्द शुद्ध नहीं हैं, वे सब अपशब्द होनेके कारण, सभी अपशब्दोंका पठन और भी अशक्य है। अतः शब्दोंकी सिद्धिके लिए कुछ सामान्य नियम और उनके अपवाद कहनेसे अनेक शब्द थोड़े प्रयत्नसे सध जाते हैं। पाणिनिने इस पद्धतिका अवलम्ब करके अपना अष्टाध्यायी ग्रन्थ रचा। शब्द नित्य किंवा अनित्य है इसके संबंधमें दोनों प्रकारके मत प्रचलित हैं और व्याकरणशास्त्रको दोनों मत संमत हैं यह बताकर व्याडिने इसके बारेमें विस्तृत विवेचन ' संग्रह ' में किया है ऐसी भाष्यकारने हामी भर दी है। फिर भी ' घटेन कार्यं करिष्यन्० ' इस वाक्यसे शब्दनित्यत्वकी ओर ही भाष्यकारका झुकाव हो ऐसा दीखता है। वार्तिककारने ' सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ' इस वार्तिकमें कहा है कि ' शब्द नित्य है, अर्थ नित्य है और उनका सम्बन्ध भी नित्य है '। और भाष्यकारने प्रतिपादन किया है कि द्रव्य परिणामिनित्य है, और आकृति (जाति) एक व्यक्तिके नष्ट होनेपर भी दूसरे व्यक्तिमें रहती है, अतः वह स्वरूपनित्य है, इसलिए शब्दका अर्थ चाहे द्रव्य हो चाहे आकृति, शब्दका अर्थ नित्य ही है। उसी प्रकार कुम्हार जैसे घट बनाता है वैसे शब्दको कोई बनाता नहीं। कौनसे शब्द उच्चारने योग्य हैं और कौनसे उच्चारने योग्य नहीं यह यद्यपि लोकव्यवहारपर निर्भर है, तो भी शब्दोंके ही उच्चारणसे पुण्य लगता है यह नियम है। अब कुछ शब्द व्याकरणसिद्ध होनेपर भी लोकव्यवहारमें नहीं दीख पड़ते। इसका कारण यह है कि उस अर्थके अन्य शब्द अधिकमात्रामें प्रचारमें रहते हैं; कुछ शब्द एक प्रान्तमें प्रचारमें रहते हैं, तो दूसरे प्रान्तमें रहते नहीं ऐसा भाष्यकारने कहा है। अन्तमें भाष्यकारने ' लक्ष्य ' अर्थात् शब्द, और ' लक्षण ' अर्थात् उसका विवेचन, ये दोनों करनेवाला पाणिनिका सूत्र ऐसी ' व्याकरण ' शब्दकी ' लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम् ' व्याख्या कहकर ' व्याकरणके सूत्र ' इस प्रयोगका समर्थन किया है, और तदनन्तर महेश्वरने पाणिनिको जो ' अइउण् ', ' ऋलृक् ' इत्यादि ध्वनियोंसे अ, इ, उ इत्यादि वर्णोंका डोल बजाकर उपदेश किया है, वह शुद्ध वर्णोंका ही है, अस्पष्ट दोषयुक्त वर्णोंका नहीं, यह कहकर द्वितीय प्रत्याहाराह्निकका प्रस्ताव करके पहला प्रस्तावनाह्निक समाप्त किया है।

व्याकरणशास्त्रकी अधिकृत प्रस्तावनाकी दृष्टिसे यह आह्निक बहुत महत्त्वका है और उसकी भाषा भी अतिशय सुन्दर और हृदयंगम है। "घटेन कार्यं करिष्यन्०," "द्विविधा अपि हेतवो भवन्ति० " इत्यादि वाक्य तो पढ़ते ही ध्यानमें रह जाते हैं। ग्रन्थारम्भमें न्यासकारका ' शब्दानुशासन ' इस शब्दके अर्थके विषयमें किया हुआ विवेचन तथा शब्दकौस्तुभकारका नित्यशब्द अर्थात् स्फोटके सम्बन्धमें किया हुआ विवेचन विद्वत्तापूर्ण और उद्बोधक है।]

॥ अथ शब्दानुशासनम् ॥

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् ॥ केषां शब्दानाम्। लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत्। गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि। शं नो देवीरभिष्टये। (अथ स १।१।१) इषे त्वोर्जे त्वा। (यजु स १।१।१) अग्निमीळे पुरोहितम्। (ऋ स. १।१।१) अग्न आ याहि वीतये (साम स १।१।१) इति ॥

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः। किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः। नेत्याह। द्रव्यं नाम तत् ॥ यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितं स शब्दः। नेत्याह। क्रिया नाम सा ॥ यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कृष्णः कपिलः कपोत इति स शब्दः। नेत्याह। गुणो नाम सः ॥ यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः। नेत्याह। आकृतिर्नाम सा ॥ कस्तर्हि शब्दः।

अब शब्दशास्त्र लिखनेका आरंभ करता हूँ।

यहाँ 'अथ' शब्द अधिकारके अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। 'शब्दानुशासन' नामक शास्त्रका अधिकार (अर्थात् प्रारंभ) किया गया है, ऐसा समझा जाय।

किन शब्दोंका शास्त्र?

लौकिक और वैदिक दोनों शब्दोंका शास्त्र। उनमेंसे लौकिक शब्द, जैसे— गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती, शकुनि, मृग, ब्राह्मण इत्यादि। वैदिक शब्द, जैसे— 'शं नो देवीरभिष्टये' (अ वे १।१।१), 'इषे त्वोर्जे त्वा।' (य वे १।१।१), 'अग्निमीळे पुरोहितम्।' (ऋ वे १।१।१), 'अग्न आ याहि वीतये।' (सा वे १।१।१) इत्यादि।

ठीक, तो 'गौ' में शब्द कौनसा? (अर्थात् शब्द किसे कहा जाय?) क्या जो गलकंबल, पूँछ, ककुद, खुर और सींगवाला पदार्थ (अर्थात् प्राणी) है, वह शब्द है? वैयाकरण कहता है कि वह शब्द नहीं, वह द्रव्य है।

तो क्या संकेत करना, हलचल करना, आँख मूँदना और खोलना, शब्द है? वैयाकरण कहता है कि वह (भी) शब्द नहीं, वह क्रिया है।

तो क्या जो शुक्लपन, नीलपन, कृष्णपन या कपोतपन है, वह शब्द है? वैयाकरण कहता है कि वह (भी) शब्द नहीं, वह गुण है॥

तो फिर भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें जो सर्वसामान्यत्व दिखाई देता है, अथवा व्यक्तिके छिन्न-विच्छिन्न होनेपर भी कायम रहनेवाला जो सामान्य स्वरूप है, क्या वह शब्द है? वैयाकरण कहता है कि वह स्वरूप शब्द नहीं, वह आकृति है॥

तो फिर, शब्द किसे कहा जाय?

येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः ॥ अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तद्यथा । शब्दं कुरु । मा शब्दं कार्षीः । शब्दकार्ययं माणवक इति । ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते । तस्माद्ध्वनिः शब्दः ॥

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि । रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम् ॥ रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यति ॥ ऊहः खल्वपि । न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे

शब्द वही है, जिसके उच्चारणसे गलकंबल, पूँछ, ककुद, खुर और सींगवाले व्यक्तिका ज्ञान होता है। अथवा व्यवहारमें पदार्थका ज्ञान करानेवाली जो ध्वनि है, उसे लोकमें शब्द कहा जाता है, जैसे, मुँहसे वर्णोच्चार करनेवालेको कहा जाता है– 'चलने दो तुम्हारा शब्दोच्चार', 'शब्दोच्चार मत करो', 'यह माणवक बार-बार शब्दोच्चार करनेवाला है' इत्यादि। अतः ध्वनि[2] (अथवा वर्णोच्चार ही) शब्द है।

तो फिर, शब्दशास्त्रके अध्ययनके क्या लाभ हैं?

रक्षा, विभक्ति-विपरिणाम, वेदाध्ययन, सुलभता और संशयरहितता ये शब्दशास्त्रके अध्ययनके लाभ हैं।

वेदोंकी रक्षाके लिए व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि जो मनुष्य लोप, आगम और वर्ण विकारोंका ज्ञाता हो, वही वेदोंकी रक्षा अच्छी तरह करेगा।

---

१ वैयाकरणोंके मतमें शब्द नित्य है और अर्थ उस नित्यशब्दका ही है। इस नित्यशब्दको ही स्फोट कहते हैं। उस स्फोटकी न तो उत्पत्ति होती है, न नाश। जब मनुष्य बोलने लगता है तभी केवल उस वचन अर्थात् ध्वनिसे वह स्फोटरूप नित्य शब्द प्रकाशित होता है और श्रोतृगणके मनमें अपना अर्थ खींच लाता है।

२. ध्वनि केवल स्फोटका दर्शक है। उसका अपना कुछ भी अर्थ नहीं है। वैयाकरणके मतमें उसे शब्द नहीं कहा जाता, फिर भी संप्रति यह विवाद भाष्यकारोंने अलग रखा है। यहाँ केवल वह (ध्वनि), परन्तु किंवा उसकी जाति आदि नहीं, यही कहनेका भाष्यकारोंका प्रधान उद्देश्य है।

३. वेदमें 'जहार' क्रियाके बदले 'जभार' क्रियाका उपयोग किया हुआ दिखाई देता है। जो व्याकरणका अनभिज्ञ है उसकी दृष्टिसे 'जभार' रूप सामान्यतः अशुद्ध है, यहाँ 'जहार' रूप चाहिये यह समझकर कदाचित् वह वैसा कहने भी लगेगा, और इससे वेदमें कई स्थानोंमें शब्दोंका बदल होनेका सम्भव है। किन्तु जिसको व्याकरणशास्त्रका ज्ञान है वह, 'हृ' क्रियाके हकारका वेदमें भकार होता है इस ज्ञानके कारण 'जभार' क्रिया शुद्ध है, ऐसाही समझेगा। और इस प्रकार वेदकी अक्षरशः आनुपूर्वीकी रक्षा की जायगी।

मन्त्रा निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ॥ आगमः खल्वपि । ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति । प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति ॥ लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् । ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति । न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम् ॥ असंदेहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिकाः पठन्ति । स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति । तस्यां संदेहः स्थूला चासौ

ऊह (अर्थात् विभक्ति-विपरिणाम) भी लाभ है। वेदोंमें जिन मंत्रोंका उच्चारण किया जाता है, उनमें सब लिंगों और विभक्तियोंका उपयोग करके शब्दोंका प्रयोग नहीं किया जाता। यज्ञकर्ताको यज्ञके समय उनमें आवश्यक विभक्तियों अथवा लिंगोंका विपरिणाम करना पड़ता है; और जिसने व्याकरणका अध्ययन नहीं किया है, वह उचित विभक्ति-विपरिणाम करनेमें असमर्थ होता है। अतः (ऊह अर्थात् शब्दोंकी लिंगविभक्तियोंका विपरिणाम करनेके लिए) व्याकरणका अध्ययन आवश्यक है।

आगम अर्थात् वेद; यह भी व्याकरणके अध्ययनका प्रयोजक है। "ब्राह्मणको चाहिये कि, बिना कारण पूछे, धर्मस्वरूप और छः अंगोंसे संपन्न जो वेद है, उसका वह अध्ययन करे तथा अर्थज्ञान प्राप्त करे" यह वचन सर्वश्रुत है। वेदके छः अंगोंमें व्याकरण तो मुख्य अंग है। और मुख्य अंगके लिए किये गये प्रयत्नमें ही अच्छी सफलता प्राप्त होती है ॥ तथा सुलभतासे यथार्थ ज्ञान होनेके लिए व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये। यह जानी हुई बात है कि ब्राह्मणको शब्दोंका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये; और व्याकरणके बिना अन्य किसी भी सुलभ उपायसे शब्दोंका ज्ञान अशक्य है ॥ उसी तरह संशयराहित्यके लिए व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये। याज्ञिक यह वाक्य कहते हैं—" स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाही-

---

४. 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' ऐसा वेदमें वाक्य है। अग्निदेवताको लक्ष्य करके निर्वाप करते समय यह मंत्र पढ़ा जाता है, परन्तु जब सूर्यदेवताको उद्देश्य करके निर्वाप किया जाता है, तब 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' ऐसा पढ़ना पड़ता है। यह परिवर्तन वैयाकरण ठीक कर सकेगा।

५. व्याकरणशास्त्रके प्रयोग बताते समय भाष्यकारोंने व्याकरणशास्त्र पढ़नेका यह एक कारण बताया है। पहले रक्षा-आदि जो प्रयोजन है ऐसा जो कहा गया है, वहाँ प्रयोजन शब्दका अर्थ प्रयोजक भी है।

६. संदेह निर्माण न हो इसलिए तथा निर्माण हुआ संदेह दूर होनेके लिए।

तेऽसुराः। तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद्ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ तेऽसुराः॥

दुष्टः शब्दः।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधादिति॥

दुष्टाञ्शब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्॥ दुष्टः शब्दः॥

यदधीतम्॥

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

हुए। इसलिए ब्राह्मणोंको म्लेच्छन नहीं कहना चाहिये अर्थात् अशुद्ध शब्द नहीं बोलना चाहिये। म्लेच्छ अर्थात् अपशब्द। हम व्याकरणका अध्ययन इसलिए करें कि हमारे मुँहसे अपशब्द न निकलें।

अब 'दुष्टः शब्दः०' का अर्थ — स्वर किंवा वर्णकी दृष्टिसे अशुद्ध शब्द ठीक तरहसे प्रयुक्त न करनेके कारण वह योग्य अर्थका प्रतिपादन नहीं करता है। ऐसा शब्द वज्रके समान होता है, और जिस तरह 'इन्द्रशत्रु' शब्दने स्वरके प्रमादसे प्रत्यक्ष यजमानका ही नाश किया, उसी तरह यह शब्द भी यजमानका नाश करता है। अशुद्ध शब्दोंका प्रयोग हम न करें इसलिए व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये।

'यदधीतम्०' का अर्थ — जिसका अध्ययन किया किन्तु अर्थ ध्यानमें नहीं आया, थोडेमें, ऐसा शुष्क अध्ययन कि जिसका केवल शब्दत ही उच्चारण किया जाता है, जिस प्रकार सूखी लकडी अग्निके बिना जल नहीं सकती, उसी प्रकार (वह अध्ययन भी) प्रकाशमान नहीं [11] होता है। अतः बिना अर्थके अध्ययन

९ 'हेलय हेलय' पढ़नेमें 'हे अलय' इस प्रकार दोनों शब्दोंका द्वित्व किया है, यह एक दोष है। वैसे ही 'अरय' रूपमें लकारका उच्चारण किया है, यह दूसरा दोष है। इस तरह अशुद्ध उच्चारण यही म्लेच्छन है।

१०. 'इन्द्रशत्रु' में 'शत्रु' शब्दका अर्थ है 'घातक'। इन्द्रको मारनेवाला पुत्र प्राप्त हो इस उद्देश्यसे किए हुए यज्ञमें 'इन्द्रशत्रु जैसा पुत्र दे' ऐसी देवतासे प्रार्थना की गयी। यह प्रार्थना करते समय ऋत्विजोंने 'इन्द्रशत्रु' शब्दके साथ बहुव्रीहि समासके स्वरोंको जोड़कर 'इन्द्रशत्रु' ऐसा उच्चारण किया। वस्तुत यजमानकी इच्छाके अनुसार 'इन्द्रशत्रु' शब्दको तत्पुरुष समासके स्वर जोडना आवश्यक था, जिससे इन्द्रको मारनेवाला पुत्र निर्माण हो जाता। अत इस स्वरकी भूलसे इन्द्र जिसे मारनेवाला है ऐसा पुत्र निर्माण हुआ और आगे चलकर युद्धमें उस पुत्रको इन्द्रने ही मार डाला।

११ निष्फल होता है।

तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ यदधीनम् ॥

यस्तु प्रयुङ्क्ते ।

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले ।

सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः ॥

कः । वाग्योगविदेव । कुत एतत् । यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा । गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । अथ योऽवाग्योगवित् । अज्ञानं तस्य शरणम् । नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् ॥ एवं तर्हि सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति

नहीं करना चाहिये, और इसलिए व्याकरणका पठन करना चाहिये।

'यस्तु प्रयुङ्क्ते०' श्लोकका अर्थ — शब्दके व्यवहारमें सूक्ष्म भेदों और विशिष्ट उपयोगोंका सम्यक् ज्ञान रखनेवाला जो व्यक्ति ठीक तरहसे शब्दोंका प्रयोग करता है वह शब्दप्रयोगकुशल विद्वान् स्वर्गमें अक्षय्य जय प्राप्त करता है; किन्तु अशुद्ध शब्दोंकी योजनासे तो वह दोषी ठहरता है।

परन्तु, यह दोष किसको लगता है? (शब्दप्रयोग जाननेवालेको अथवा न जाननेवालेको?)

शब्दप्रयोग जाननेवालेको ही न? सो कैसे? तो जो शुद्ध शब्द जानता है, उसीको 'यह अशुद्ध शब्द है' ऐसा अशुद्ध शब्दका भी ज्ञान होता है; और जिस प्रकार शब्दज्ञानसे पुण्य लगता है वैसेही अपशब्दज्ञानसे पाप। वास्तवमें देखा जाय तो उसमें पाप ही अधिक लगेगा; क्योंकि अपशब्द बहुत हैं, और शुद्ध शब्द तो थोड़ेही। एक-एक शुद्ध शब्दके अनेक अशुद्ध शब्द होते हैं; जैसे, 'गौः' इस शुद्ध शब्दके 'गावी', 'गोणी', 'गोता,' 'गोपोतलिका' इत्यादि बहुत अपभ्रंश होते हैं। (अतः इस शब्दज्ञान और अपशब्दज्ञानसे जो पुण्य और पाप लगता है वह शब्दप्रयोग जाननेवालेके सम्बन्धमेंही कहा गया है।) अब जो शब्दप्रयोग नहीं जानता उसकी रक्षा तो उसका अज्ञानही करता है। (उसको न पुण्य लगता है, न पाप।)

(यह कहना उचित नहीं।) शब्दप्रयोगके ज्ञानके बिना संपूर्णतया रक्षा संभवनीय नहीं। क्योंकि हम जानते हैं कि, अनजानमें क्यों न हो, जो ब्राह्मणका वध करता है किंवा मदिरा पीता है वह भी जातिसे बहिष्कृत होता ही है॥ तो

चापशब्दैः । कः । अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगवित् । विज्ञानं तस्य शरणम् ॥ क पुनरिदं पठितम् । भ्राजा नाम श्लोकाः । किं च भोः श्लोका अपि प्रमाणम् । किं चातः । यदि प्रमाणमयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति ।

यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ।
पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेदिति ॥

प्रमत्तगीत एष तत्रभवतो यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम् ॥ यस्तु प्रयुङ्क्ते ॥

अविद्वांसः ।

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः ।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥

फिर 'सोऽनन्तमाप्नोति०' पंक्तिका अर्थ इस प्रकार करना होगा—'वह शब्दप्रयोगमें कुशल विद्वान् स्वर्गमें अक्षय्य जय प्राप्त करता है, परन्तु अशुद्ध शब्दप्रयोग करे तो वह दोषी ठहरता है।' कौन दोषी ठहरता है? जिसको शब्दप्रयोगका ज्ञान नहीं वही। क्योंकि शब्दप्रयोगका ज्ञान रखनेवालेकी रक्षा स्वयं उसका ज्ञान ही कर सकता है॥

किन्तु यह श्लोक कहाँ (और किसने) पढ़ा है?

भ्राजे नामसे प्रसिद्ध श्लोकोंमेंसे ही यह एक है।

पर, क्यों जी, क्या श्लोक भी (आपके लिये) प्रमाण है?

फिर उसमें क्या हानि है?

यदि 'यस्तु प्रयुङ्क्ते०' श्लोक प्रमाण है, तो यह अगला श्लोक भी प्रमाण होने योग्य है। —"घड़ों ताम्रवर्ण मदिरा पीके भी यदि (लोकमें) स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, तो सौत्रामणि नामक यज्ञमें थोड़ीसी मदिरा पीनेसे स्वर्ग कैसे मिल सकता है?"

यह श्लोक प्रमाण नहीं है; क्योंकि यह प्रमत्तका पढ़ा हुआ श्लोक है। जो श्लोक समंजसका पढ़ा हुआ हो, वह प्रमाण ही होता है।

'अविद्वांसः०' श्लोकका अर्थ—जो व्याकरणसे अनभिज्ञ गुरु प्रत्यभिवादनके समय नामोंमें प्लुत करके उच्चारण करना नहीं जानते हैं, उनके सामने यात्रा समाप्त करके लौटे हुए शिष्यको चाहिये कि वह अपना नामोच्चार न करते हुए,

---

१२. ये भ्राज नामके श्लोक कात्यायनके रचे हुए हैं। (कैयट)

१३. नमस्कार करनेके बाद नमस्कार करनेवालेको बड़े लोग जो आशीर्वाद देते हैं वह नमस्कार करनेवालेके नामका उच्चारण करके तथा उस नामके अन्तिम अक्षरको प्लुत करके दिया जाय यह विधि है। उदा० आयुष्मानेधि देवदत्ता३।

अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ अविद्वांसः ॥

विभक्तिं कुर्वन्ति । याज्ञिकाः पठन्ति । प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति । न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् ॥ विभक्तिं कुर्वन्ति ॥

यो वा इमाम् । यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति । आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ यो वा इमाम् ॥

चत्वारि ।

> चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥
>
> ऋ. सं ४।५८।३

चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादास्त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः

स्त्रियोंके सामने जैसे सीधे शब्दोंमें 'यह मै आया हूँ' कहकर उच्चार किया जाता है, वैसे ही उच्चार करे। व्याकरणका अध्ययन इसलिए किया जाय कि, शिष्योंके द्वारा अभिवादनके अर्थात् नमस्क्रियाके समय, अपने सामने वैसे नमस्कार न किया जाय जैसे स्त्रियोंके सामने किया जाता है।

'विभक्ति कुर्वन्ति' अर्थात् विभक्ति लगाना। इसके संबधमें विवरणः— याज्ञिक कहते हे कि, प्रयाज मंत्रोंका उच्चारण (समुचित) विभक्तियँ लगाकर करना चाहिये। परन्तु बिना व्याकरण-पठनके प्रयाज मन्त्रोंको विभक्ति लगाकर उनका उच्चारण करना शक्य नहीं है।

'यो वा इमाम्०' का अर्थ—प्रत्येक पद, प्रत्येक स्वर और प्रत्येक अक्षर स्पष्ट करके जो इस वाणीका उच्चार करता है, वह यज्ञकी अधिकारी होता है। यह अधिकार प्राप्त करनेके लिए हमें व्याकरणका अध्ययन करना आवश्यक है।

अब 'चत्वारि०' का अर्थ—'इसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ भी हैं। तीन स्थानोंपर बँधा हुआ यह बलवान् वृषभ बडा शब्द करता है। यह बडा (शब्दरूपी) देवता मर्त्यलोकमें प्रविष्ट हुआ।' (ऋ. सं. ४।५८।३)। यहाँ चार सींगोंका अर्थ है चार प्रकारके पद—नाम, क्रियापद,

---

१४. अग्नि शब्दको 'अग्न आग्ने' इस तरह संबोधन विभक्ति लगाकर।

१५. 'यज्ञ करनेके लिए' इस विधानमें, यज्ञ करना अर्थात् ऋत्विजोंसे यज्ञ कराना और यजमानके आदेशके अनुसार ऋत्विजोंने अपना अपना काम करना, इन दोनों बातोंका समावेश होता है।

कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धस्त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्। रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्यॉं आविवेशेति। महान्देवः शब्दः। मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्याः। तानाविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्॥

अपर आह।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
ऋ. सं. १।१६४।४५

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग-

उपसर्ग और निपात। तीन पैर अर्थात् तीन काल—भूत, भविष्य और वर्तमान। दो सिर अर्थात् शब्दके दो स्वरूप—नित्य[16] और उत्पाद्य। इसके सात हाथ हैं प्रथमा आदि सात विभक्तियाँ। तीन स्थानोंपर अर्थात् छाती, कण्ठ और सिरपर बँधा हुआ। इसको वृषभ कहा गया है; क्योंकि यह इच्छा पूर्ण करता है। 'रोरवीति' का अर्थ है 'शब्द करता है'। यह अर्थ कैसे लगाया जाता है? 'रु' धातुका अर्थ है 'शब्द करना'। 'महो देवो मर्त्यॉं आविवेश' अर्थात् बड़ा देव मर्त्योंमें प्रविष्ट हुआ। बड़ा देव अर्थात् शब्द; मर्त्य अर्थात् मृत्यु पानेवाले प्राणी अर्थात् मनुष्य; उनमें प्रविष्ट हुआ। बड़े देवसे (अर्थात् शब्दसे) अपना साधर्म्य[17] हो इसलिये व्याकरणका अध्ययन आवश्यक है।

कोई अन्य व्याख्याकार 'चत्वारि०' पदसे 'चत्वारि वाक्परिमिता०' ऋक् समझते हैं। उसका अर्थ—वाणीके निश्चित चार पद (अर्थात् स्थान) हैं; जो मनीषी अर्थात् मनको संयमित किये हुए विद्वान् ब्राह्मण हैं वे ही ये चार पद जान सकते हैं; क्योंकि चार पदोंमें से तीन भीतरी भागमें गहराईमें रखे जानेसे चमकते नहीं; केवल चौथे पद अर्थात् वाणीके चौथे[18] भागका ही लोग उच्चारण कर सकते हैं। (ऋ. सं. १।१६४।४५)। 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' का अर्थ—वाणीके नियत चार पद हैं (अर्थात् चार प्रकारके पद हैं)—नाम, क्रियापद,

---

१६. नित्य अर्थात् स्फोटरूप शब्द और उत्पाद्य अर्थात् स्फोटका व्यंजक ध्वनि।

१७. शब्दसे तादात्म्य होनेपर स्वयं ही उस शब्दके परब्रह्म अर्थसे भी वैयाकरणका तादात्म्य हो जाता है।

१८. वर्णोच्चार होते समय नाभिसे वायु उत्पन्न होकर मुँहसे बाहर निकलती है। उस वायुके संबंधसे नाभिप्रदेशके नीचेकी ओर एक, नाभिप्रदेशमें दूसरा और हृदयमें तीसरा, इस तरह अन्दरकी ओर सूक्ष्म शब्दका उच्चार होता है वह ध्यानमें नहीं आता। केवल मुँहमें उस वायुके आघातसे होनेवाली ध्वनि सबके ध्यानमें आती है।

निपाताश्च । तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । मनस ईषिणो मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति । गुहाया त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति । न चेटन्ते । न निमिषन्तीत्यर्थः । तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति । तुरीय ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते । चतुर्थमित्यर्थः ॥ चत्वारि ॥

उत त्वः ।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

ऋ स. १०।७१।४

अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम् । अविद्वांसमाहार्धम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे । तनुं विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासाः । तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं

उपसर्ग और निपात । 'तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण.।' 'मनीषिण.' अर्थात् मन के ईश्वर (अर्थात् मनको व्याकरणाध्ययनसे पूर्णतया नियन्त्रणमें रखनेवाले)। 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति'—गुहामें रखे हुए तीन स्थान हिलते डुलते नहीं अर्थात् प्रकाशित नहीं होते। 'तुरिय वाचो मनुष्या वदन्ति'—मनुष्योंमें वाणीका जो स्थान दिखाई देता है, वह वास्तवमें चौथा भाग ही है।

'उत त्व पश्यन्०' श्लोक—'वाणीका अध्ययन करके भी कुछ लोग वाणी क्या है सो ठीक तरहसे नहीं जानते। उसी तरह कुछ लोग वाणीका श्रवण करके भी सच्ची वाणी नहीं सुन सकते। परन्तु जैसे कामसपन्न भार्या सुन्दर वस्त्र पहनकर पतिके सामने अपनी तनु प्रकट करती है, वैसे ही इस वैयाकरणके सामने यह वाणी अपनी तनु प्रकट करती है।' (ऋ. स १०।७१।४)।

श्लोकका पदश. स्पष्टीकरण—कोई व्यक्ति अवलोकन करके भी वाणीको पूर्णतया नहीं जानता, वैसेही कोई सुनकर भी उसका सच्चा श्रवण नहीं करता[१९]। श्लोकका यह पहला आधा भाग व्याकरणका अध्ययन न किये हुए व्यक्तिको लक्ष्य करके लिखा गया है। 'उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे' इस अगले आधे भागमेंसे 'तन्व विसस्रे' अर्थात् तनु प्रकट करती है। 'जायेव पत्य उशती सुवासा.' इस अगले अर्धभागमें उपमा देकर अर्थ स्पष्ट किया है—जिस प्रकार प्रेमयुक्त भार्या

---

१९ क्योंकि व्याकरणका अध्ययन न हो, तो उसके कानोंमें केवल शब्द पडने मात्रसे उसके मन्त्रे अर्थका ज्ञान न होनेके कारण उसका वह श्रवण पशुपक्षियोंकी तरह निरर्थक सिद्ध होता है।

विवृणुत एवं वाग्वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते। वाङ् नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम् ॥ उत त्वः ॥

सक्तुमिव।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

ऋ. सं. १०|७१|२

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सन्तः सख्यानि

उत्तम वस्त्र पहनकर पतिको अपनी तनु दिखाती है, उसी प्रकार वाणीका अर्थात् शब्दका यथार्थ ज्ञान रखनेवाले व्यक्तिपर वाणी अपना स्वरूप प्रकट करती है। वाणी अपना स्वरूप हमारे सामने प्रकट करे इस हेतु व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये।

'सक्तुमिव०' का अर्थ—'जिस प्रकार चालनीसे सत्तू छानते हैं, उस प्रकार जहाँ विद्वान् लोग बुद्धिसे वाणी शुद्ध करके उसका उच्चारण करते है, वहाँ एक दूसरेके स्नेही-साथी विद्वान् लोग ऐक्यभावनाके साथ बर्ताव करते है, क्योंकि उनकी वाणीमें कल्याणकारक लक्ष्मीका निवास होता है।' (ऋ. सं. १०।७१।२)। श्लोकके 'सक्तु' शब्दका अर्थ है सत्तू। 'सक्तु' शब्द 'सच्' धातुसे निकला है। 'सच्' अर्थात् चिपकना। सत्तू निर्मल करनेमें कठिन होता है। अथवा 'सक्तु' अर्थात् विकसित होनेवाला यह भी अर्थ हो सकता है। और 'कस' धातुसे भी वर्णों का विपर्यय करके 'सक्तु' शब्द सिद्ध हो सकता है। 'तितउ' वस्तु निर्मल करनेका साधन है। तितउ अर्थात् चालनी। ततवत् अर्थात् वह फैलसी विस्तृत होती है अथवा तुन्नवत् अर्थात् उसमें छेद होते है, इसलिए उसको 'तितउ' कहते हैं। 'धीराः' अर्थात् मनन करनेवाले, 'मनसा' अर्थात् बुद्धिसे; 'वाचमक्रत' में 'अक्रत' का अर्थ है 'अकृषत' अर्थात् 'छानते थे'। 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते' अर्थात् इस स्थानपर ये विद्वान् लोग एक दूसरेके स्नेही होनेके कारण दृढ स्नेह प्राप्त करते

---

२०. इस मन्त्रका अर्थ उद्योतकारने यों किया है:—जिस प्रकार चालनीसे सत्तू छानकर शुद्ध किया जाता है, उस प्रकार व्याकरणशास्त्रमें पंडित लोग अपनी बुद्धिके अनुसार वाणी शुद्ध करते हैं अर्थात् उसके अपशब्दरूपी कंकड़ दूर हटाकर उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करते हैं; उससे उन पंडित वैयाकरणोंकी शब्द और अर्थसे ऐक्यभावना निर्माण होती है। और उससे वे मानते है कि इन वस्तुओंसे उनका ऐक्य है अर्थात् वे ब्रह्मज्ञानी होते हैं; क्योंकि उनकी वाणीमें कल्याणकारक लक्ष्मीका निवास होता है।

जानते । सायुज्यानि जानते । क्व । य एष दुर्गो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः । के पुनस्ते । वैयाकरणाः । कुत एतत् । भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि । एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति । लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात्परिवृढा भवति ॥ सक्तुमिव ॥

सारस्वतीम् । याज्ञिकाः पठन्ति । आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेदिति । प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ सारस्वतीम् ॥

दशम्यां पुत्रस्य । याज्ञिकाः पठन्ति । दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद्घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितं तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितमिति । न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम् ॥ दशम्यां पुत्रस्य ॥

हैं। इस स्थान पर अर्थात् कहाँ? यह जो दुर्गम (मोक्ष-) मार्ग है, कि जो केवल ज्ञानसे ही प्राप्य है और जो वेदवाणीका विषय है, उस स्थानपर। ये स्नेही कौन हैं? वैयाकरण। दृढ़ स्नेह कैसे संपादन करते हैं? उत्तर—'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि' अर्थात् उनकी वाणीमें कल्याणकारक लक्ष्मी वास करती है इससे। लक्षण किंवा भासन अर्थात् प्रकाशित होना इस गुणके कारण लक्ष्मी अज्ञान दूर करनेमें समर्थ होती है, इसलिए उसे लक्ष्मी कहते हैं।

अब 'सारस्वतीम्०' वाक्यको लें। याज्ञिक लोग कहते हैं—"जो गृहाग्निका पालन करता है, वह यदि अपशब्दका प्रयोग करे तो वह प्रायश्चित्तके हेतु 'सारस्वती इष्टि[21]' करे।" हमें प्रायश्चित्त की आवश्यकता न हो इसलिये व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये।

अब 'दशम्यां पुत्रस्य' वाक्यको लें। याज्ञिक लोग कहते हैं,—"दसवें दिनके बाद नवजात पुत्रका नाम रखा जाय। नामका आरंभ घोषवत्[22] व्यंजनसे हो; नामके बीच अन्तःस्थ व्यंजन हो; वह वृद्ध न हो (अर्थात् उसका आरंभ आ, ऐ, औ इन वृद्धिसंज्ञक स्वरोंसे न हो); वह तीन पुरुषोंके नामोंमेंसे हो; और वह 'अनरि' हो अर्थात् मानवका न हो (अर्थात् देव-आदिका हो) अथवा शत्रुमें प्रतिष्ठित न हो। ऐसा जो नाम है वह अत्यन्त प्रतिष्ठित होता है। नामके अक्षर दो अथवा

---

२१. सरस्वती देवताको लक्ष्य करके की जानेवाली इष्टि 'सारस्वती' कहलाती है।

२२. वर्णोंमें तीसरा, चौथा और पाँचवाँ वर्ण और य, र, ल, व, ह इन वर्णोंको घोष कहते हैं। य, र, ल, व इन चार वर्णोंको अन्तस्थ कहते हैं। जिस शब्दमें स्वरोंमेंसे पहला स्वर आ, ऐ किंवा औ इनमेंसे कोई एक होता है, उस शब्दको 'वृद्ध' कहते हैं। (देखिये सूत्र १।१।७३)। पुत्रका नामकरण करते समय पिता अपने बाप, दादा और परदादा इन तीनोंमेसे किसी एकका नाम रखे। वह नाम मनुष्यसे भिन्न अर्थात् किसी देवताके अर्थमें रूढ हो गया हो; और वह नाम शत्रुके लिए रूढ न हुआ हो।

सुदेवो असि ।

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ ऋ. सं. ८।६९।१२

सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। अनुक्षरन्ति काकुदम् । काकुदं तालु । काकुर्जिह्वा सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम् । सूर्म्यं सुषिरामिव । तद्यथा शोभनामूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहत्येवं तव सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति । तेनासि सत्यदेवः । सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ सुदेवो असि ॥

किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमन्वाख्यायते न पुनरन्यदपि किंचित् । ओमित्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्येवमादीञ्शब्दान्पठन्ति ॥

चार हों। वह कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो।" व्याकरणके अध्ययनके बिना कृत्प्रत्ययों वा तद्धितप्रत्ययोंका ज्ञान होना शक्य नहीं। (इसलिए व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये।)

अब 'सुदेवो असि०' का अर्थ—'हे वरुण, तू सचमुच ही देव है। क्योंकि, जिस प्रकार अग्नि खोखली प्रतिमामें प्रवेश करके (अन्दरका मैल जलाकर) प्रतिमाको शुद्ध करती है, उस प्रकार तुझसे निकलकर सात प्रवाह अर्थात् सात विभक्तियाँ तालुतक पहुँचकर उसे प्रकाशित करती है।' (ऋ. सं. ८।६९।१२)। 'सुदेवो असि वरुण' अर्थात् हे वरुण, तू सुदेव अर्थात् सत्यदेव है। 'यस्य ते सप्त सिन्धवः'—यहाँ सप्त सिन्धु अर्थात् सात विभक्तियाँ। 'अनुक्षरन्ति काकुदं'—यहाँ 'काकुदं' पदका अर्थ है तालु। 'काकु' अर्थात् जीभ, वह जिस भागकी ओर 'नुद्यते' अर्थात् घुमाई जाती है वह भाग 'काकुद' है। 'सूर्म्यं सुषिरामिव' यह दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार अग्नि खोखली सुन्दरसी प्रतिमाके अन्दर प्रवेश करके उसका मैल जलाती है और उसे तेजस्वी बनाती है, उस प्रकार (तुझसे निकलकर) ये सात विभक्तियाँ तालुका भाग स्वच्छ करती हैं[24]। अतः तू सत्यदेव है। हम सत्यदेव हों इसलिये हमें व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये।

ठीक, तो व्याकरण पढ़नेकी इच्छा करनेवालोंको ही व्याकरणाध्ययनसे होनेवाला लाभ यहाँ बताया गया है; और कुछ वेद आदिका अध्ययन करनेवालोंको

२३. धातुको जो प्रत्यय लगाकर नाम तैयार होता है, उस प्रत्ययको 'कृत्' कहते । (देखिये सूत्र ३।१।९३)। नामको ही केवल जो प्रत्यय लगाकर फिर दूसरा नाम तैयार होता है उस प्रत्ययको 'तद्धित' कहते है। (देखिये सूत्र ४।१।७६)।

२४. शब्दोच्चार करते समय विभक्ति प्रत्यय तालुप्रदेशमें प्रकाशित होकर शरीरके पातकोंको मिटाते है, उससे स्वर्ग प्राप्त होता है यह व्याकरणका फल है।

पुराकल्प एतदासीत् । संस्कारोत्तरकाल ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते । तेभ्यस्तत्र स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते । तद्यत्वे न तथा । वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति । वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः । अनर्थक व्याकरणमिति । तेभ्य एव विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य आचार्य इद शास्त्रमन्वाचष्टे । इमानि प्रयोजनान्यध्येय व्याकरणमिति ॥

उक्तः शब्द. । स्वरूपमप्युक्तम् । प्रयोजनान्यप्युक्तानि । शब्दानुशासन-मिदानीं कर्तव्यम् । तत्कथ कर्तव्यम् । किं शब्दोपदेशः कर्तव्य आहोस्विद-पशब्दोपदेश आहोस्विदुभयोपदेश इति । अन्यतरोपदेशेन कृत स्यात् । तद्यथा । भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते । पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्युक्ते गम्यत एतदतो-

---

वेदाध्ययनसे होनेवाले लाभ क्यों नहीं बताये गये? (पहले बिना लाभ का विचार किये वेदाध्ययनके लिए प्रवृत्त होकर) ॐ अक्षर से आरभ करके पाठ के बाद पाठ इस क्रमसे 'शं नो देवी.०' इत्यादि वेदवाक्य (अनेक लोग) पठन करते है। (क्यों न उन्हें कोई वेदाध्ययन के लाभ बताता है?) प्राचीनकालमें यह स्थिति थी कि, (उपनयन) संस्कार के पश्चात् ब्राह्मण पहले व्याकरण का अध्ययन किया करते थे, और उन्हें भिन्न भिन्न स्थानों,[२५] करणों, अनुप्रदानों इत्यादि बातों का ज्ञान होनेपर ही वेद पढाये जाते थे। आज वह स्थिति नहीं रही। वेदों का अध्ययन पूरा होत ही तुरन्त गृहस्थाश्रमी बनने की इच्छा रखनेवाले लोग यों कहने लगते है:— 'वेदाध्ययनसे हमें वैदिक शब्दोंका ज्ञान हुआ और लोगोंमें चलनेवाले हमारे दैनंदिन व्यवहारके कारण हमें लौकिक शब्दोंका भी ज्ञान हुआ है, अब व्याकरण सीखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।' इस तरह विपरीत मार्गसे सोचनेवाले शिष्यको (मित्रकी तरह स्नेहसे) आचार्यजी,[२६] 'ये लाभ है, व्याकरणशास्त्रका अध्ययन किया जाय' यह हेतु ध्यानमें रखकर, व्याकरणशास्त्रका प्रतिपादन करते हैं।

शब्दका विवेचन किया गया। शब्दके स्वरूपका भी विवेचन किया गया। शब्दशास्त्रके अध्ययनके लाभ भी बताये गये। अब शब्दशास्त्रका प्रतिपादन किया जाय। वह कैसे? शुद्ध शब्दोंका प्रतिपादन किया जाय, अथवा अपशब्दोंका प्रतिपादन किया जाय, अथवा शुद्ध शब्दों और अपशब्दोंका?

शुद्ध शब्द अथवा अपशब्द इन दोनोंमेंसे एकका प्रतिपादन करना पर्याप्त होगा। जैसे, जब खानेयोग्य पदार्थ कौनसे यह हम नियमके स्वरूपसे (अर्थात् अमुक ही ऐसा) बताते है, तब अमुक पदार्थ खानेयोग्य नहीं है इस तरह अभक्ष्य

---

२५ कंठ, तालु इत्यादि स्थान हैं। स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट इत्यादि आभ्यन्तर प्रयत्नोंको करण कहते हैं। नाद आदि बाह्य प्रयत्न हैं।

२६ उद्योतकार कहते है कि यहाँ मूलके 'आचार्य' शब्दका अर्थ भाष्यकार समझा जाय। अत यों लगता है कि उद्योतकारने यह वाक्य एकदेशीके मुँहका है ऐसा माना होगा।

ऽन्येऽभक्ष्या इति। अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा। अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकर इत्युक्ते गम्यत एतदारण्यो भक्ष्य इति। एवमिहापि यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोपशब्दा इति। अथापशब्दोपदेशः क्रियते गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद् गौरित्येष शब्द इति॥ किं पुनरत्र ज्यायः। लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। लघीयाञ्शब्दोपदेशो गरीयानपशब्दोपदेशः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकादयोऽपभ्रंशाः। इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति॥

अथैतस्मिञ्शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः। गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः।

पदार्थोंके निषेधका आप ही ज्ञान होता है। पाँच नखोंवाले पाँचें ही प्राणी खाये जाएँ ऐसा कहनेसे पाँचके अतिरिक्त अन्य पाँच नखोंवाले कोई भी प्राणी खाये न जायँ यह अपने आप समझमें आता है। उसी प्रकार अभक्ष्य पदार्थोंका निषेध करनेसे भक्ष्य पदार्थोंके बारेमें भी नियम ध्यानमें आता है; जैसे, ग्राम्य कुक्कुट अभक्ष्य है, ग्राम्य शूकर अभक्ष्य है ऐसा बतानेसे वन्य शूकर अथवा वन्य कुक्कुट खानेमें बाध नहीं, यह विदित होता है। एवं यहाँ यदि शुद्ध शब्दोंका प्रतिपादन किया जाय, जैसे, यदि 'गौः' शुद्ध शब्द है ऐसा बताया जाय, तो उससे ज्ञान होता है कि गावी आदि अन्य शब्द अपशब्द हैं। तथा अपशब्दोंका प्रतिपादन किया जाय, उदा० गावी आदि अन्य अपशब्द कहे जायँ, तो उससे ज्ञात होता है कि 'गौः' शब्द शुद्ध है।

इन दोनोंमें से अच्छा मार्ग कौनसा?

लघुत्वके कारण शुद्ध शब्द बताना अच्छा मार्ग है। शुद्ध शब्द बताना अल्प काम है, और अपशब्द बताना बड़ा भारी काम है; क्योंकि एक एक शुद्ध शब्दके अनेक अपभ्रंश हो सकते हैं; जैसे, 'गौः' शुद्ध शब्दके गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि बहुत अपभ्रंश होते हैं। इसके अतिरिक्त शुद्ध शब्द बतानेसे इष्ट (अर्थात् जो हम चाहते हैं वे) शब्द बताये जाते हैं[२८]।

यदि इस प्रकार शुद्ध शब्दों का उपदेश करना हो, तो फिर शब्दोंका ज्ञान होनेके लिए प्रत्येक शब्दका उच्चारण करना चाहिये न? 'गौः', 'अश्वः', 'पुरुषः', 'हस्ती', 'शकुनिः', 'मृगः', 'ब्राह्मणः' इत्यादि सब शब्द पढ़ने चाहिये न?

---

२७. शशक, शल्यक, खड्गी, कूर्म और गोध ये पाँच नखोंवाले पाँच प्राणी हैं।

२८. अपशब्द चाहे जितने बताये गये हों, तो भी शुद्ध शब्द का स्वरूप ध्यान में नहीं आता है। और हमें तो शुद्ध शब्दकी ही आवश्यकता है; क्योंकि शुद्ध शब्दका उच्चारण करनेसे ही उससे बड़ा पुण्य उत्पन्न होता है।

नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते। बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्तेन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवत्यागमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति। तत्र चागमकालेनैवायुः पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः॥ कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः। किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यं येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत्। उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः कश्चिदपवादः। कथंजातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्तव्यः कथंजातीयकोऽपवादः। सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः। तद्यथा। कर्मण्यण्

हम कहते है कि नहीं। शब्दोंका ज्ञान होनेके लिए प्रत्येक शब्द पढ़ना यह कोई यथार्थ उपाय नहीं है। सुना जाता है कि बृहस्पतिने इन्द्रको देवोंके एक सहस्र वर्ष तक प्रत्येक शब्दका उच्चारण करके शब्दशास्त्र पढ़ाया, फिर भी शब्द समाप्त नहीं हुए। बृहस्पति जैसा ख्यातनाम वक्ता, इन्द्र जैसा (सुज्ञ) शिष्य, देवोंके एक सहस्र वर्ष अध्ययन का काल, तो भी शब्दोंका अन्त ज्ञात नहीं हुआ। फिर आजकल की बात ही क्या? जो सब प्रकारसे निरोगी रहकर दीर्घकाल जीता है, वह अधिकसे अधिक सौ वर्ष तक जीता है। और विद्या का उपयोग चार प्रकारसे होता है:—गुरुमुखसे समझ लेते समय अर्थात् सीखते समय, मननके समय, दूसरों को सिखाते समय और व्यवहारमें (अर्थात् सभा तथा यज्ञके समय)। तब (यदि सब शब्दोंका अध्ययन करना हो) तो पूरा जीवन गुरुमुखसे विद्या सीखनेमें ही बीत जायगा। अतः शब्दोंका ज्ञान होनेके लिए प्रत्येक शब्द पढ़ना यह कोई यथार्थ उपाय नहीं।

तो फिर ये शब्द किस रीतिसे सिखाये जाय? सामान्य धर्म और विशेष धर्मसे युक्त शास्त्र (सूत्र) कहे जायें *जिनसे थोड़ेही परिश्रममें बड़े बड़े शब्दसमूह सिखाये* जा सकें।

ऐसा सामान्य धर्म और विशेष धर्मसे युक्त शास्त्र किस स्वरूपका बताया जाय?

सामान्य नियम और अपवादके स्वरूपका:—एकाध सामान्य नियम बताया जाय, उसके पश्चात् उसका अपवाद।

किस प्रकारका सामान्य नियम बताया जाय और किस प्रकारका अपवाद? बहुलसे स्थानोंमें लागू हो इस प्रकारका सामान्य नियम किया जाय। जैसे, "कर्मण्यण्"

२९. यह अर्थवाद वाक्य है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक साधु शब्द पढ़ते जाना सर्वथा असंभवनीय है।

[३. २. १]। तस्य विशेषेणापवादः। तद्यथा। आतोऽनुपसर्गे कः [३. २. ३]॥

किं पुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद्द्रव्यम्। उभयमित्याह। कथं ज्ञायते। उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम् [१. २. ५८] इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा सरूपाणाम् [१. २. ६४] इत्येकशेष आरभ्यते॥

.. किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित्कार्यः। संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितं नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयो यद्येव नित्योऽथापि कार्य उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति॥ कथं पुनरिदं

(३।२।११)। कर्मरूप उपपदयुक्त धातुको 'कर्ता' अर्थमें 'अण्' प्रत्यय लगाया जाय। उसके कुछ विशिष्ट अपवाद कहे जायँ; जैसे, "आतोऽनुपसर्गे कः" (३।२।३)। उपसर्गरहित आकारान्त धातुओंको 'कर्ता' अर्थमें 'क' प्रत्यय लगाया जाय।

ठीक। किन्तु पदोंका अर्थ आकृति अर्थात् जाति होता है, अथवा द्रव्य अर्थात् व्यक्ति?

(पदोंका अर्थ) दोनों (जाति और व्यक्ति) होते हैं ऐसा कहा जाता है।

यह कैसे समझा जाय?

आचार्य पाणिनिके लिखे हुए दोनों प्रकारके सूत्रोंसे। पदका अर्थ जाति होता है, इस अभिप्रायसे आचार्यजीने "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" (१।२।५८) सूत्र लिखा है। पदका अर्थ व्यक्ति होता है, इस अभिप्रायसे आचार्यजीने "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" (१।२।६४) सूत्र लिखकर एकशेष प्रकरणका आरंभ किया है[10]।

ठीक! क्या शब्द नित्य है अथवा उत्पन्न होनेवाला (होनेके कारण अनित्य[11]) है?

व्याडि आचार्यजीके लिखे हुए "संग्रह[12]" नामक ग्रंथमें, शब्द नित्य हो अथवा कार्य हो, इस प्रश्नका प्रमुखतया विचार किया गया है। दोनों मतोंपर कौनसे दोष लागू होते हैं यह भी वहाँ बताया गया है। यह भी बताया गया है कि दोनों मतोंको स्वीकारनेका प्रयोजन क्या है। वहाँ यह निर्णय दिया गया है कि, 'शब्द नित्य

---

१०. एवं जातिसे युक्त व्यक्ति, अभिव्यक्तिसे युक्त जाति, इस प्रकार दोनों अर्थ वैयाकरणोंको मान्य हैं। प्रयोगमें वक्ताका तात्पर्य क्या है इस पर ध्यान देकर जातिको प्राधान्य देना अथवा व्यक्तिको, यह निश्चित किया जाय।

११. यहाँ नित्य किंवा अनित्यका विचार करनेका कारण यह है कि, यदि शब्द नित्य हो तो व्याकरणशास्त्र लिखनेका कारण ही नहीं रहता।

१२. उद्योतमें कहा गया है कि व्याडि नामक आचार्यजीने 'संग्रह' नामकी पुस्तक लिखी है। प्राचीन वैयाकरणोंके ग्रंथोंमें इस ग्रंथकी गणना है।

भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम् ।

सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे

सिद्धे शब्देऽर्थे संबन्धे चेति। अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः। नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः। कथं ज्ञायते। यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। तद्यथा। सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी सिद्धमाकाशमिति। ननु च भोः कार्येष्वपि वर्तते। तद्यथा। सिद्ध ओदनः सिद्धः सूपः सिद्धा यवागूरिति। यावता कार्येष्वपि वर्तते तत्र कुत एतन्नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणं न पुनः कार्ये यः सिद्धशब्द इति। संग्रहे

हो अथवा कार्य हो, दोनों तरहसे शब्दशास्त्र लिखा जाना चाहिये।'

परंतु, भगवान् पाणिनि आचार्यजीका लिखा हुआ यह शब्दशास्त्र शब्दके अर्थके विषयमें किस अभिप्रायको लेकर लिखा है[34]?

(वा०) शब्द, अर्थ और उनका संबंध सिद्ध रहनेपर—

किन्तु 'सिद्ध' शब्दका अर्थ क्या है?

नित्य शब्दके पर्यायशब्दके रूपमें यहाँ 'सिद्ध' शब्द प्रयुक्त किया गया है।

यह कैसे ज्ञात होता है?

इससे कि, नष्ट न होनेवाली और न हिलने-डुलनेवाली वस्तुओंके संबंधमें 'सिद्ध' शब्दका प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—"सिद्धा द्यौ.", "सिद्धा पृथिवी," "सिद्धमाकाशम्" (स्वर्ग सिद्ध अर्थात् नित्य है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है)।

पर, क्यों जी, कार्यों अर्थात् उत्पाद्य वस्तुओंके बारेमें भी सिद्ध शब्दका प्रयोग दिखाई देता है। जैसे, "सिद्ध ओदनः" (चावल पका), "सिद्धः सूपः" (दाल पकी), "सिद्धा यवागूः" (माँड पका)। अतः कार्य अर्थात् 'बना हुआ' इस अर्थमें यदि 'सिद्ध' शब्दका प्रयोग किया जाता है, तो 'नित्य' शब्दकेही पर्यायके रूपमें 'सिद्ध' शब्द क्यों लिया जाय? 'कार्य' अर्थात् 'बना हुआ' इस अर्थमें 'सिद्ध' शब्द क्यों न लिया जाय? (आचार्य व्याडिके) 'संग्रह' ग्रंथमें (शब्द नित्य है अथवा कार्य है इसकी चर्चा छेड़कर) 'कार्य' अर्थसे विपरीत अर्थ दिखानेके

---

३३. यद्यपि शब्द नित्य हों और पाणिनि उन शब्दोंका उत्पादक न होकर केवल स्मरण करनेवाला ही हो, तो भी व्याकरणशास्त्र आवश्यक है। क्योंकि भ्रमवश लोग अपशब्द बोलने लगें, तो उनकी निवृत्ति होनेके लिए व्याकरणशास्त्र अवश्य चाहिये।

३४. शब्द नित्य हो अथवा अनित्य हो, व्याकरणशास्त्र लिखना चाहिये यह निश्चित बात है; फिर भी पाणिनिने यह जो व्याकरण रचा है, वह शब्दको नित्य मानकर अथवा अनित्य?

३५. यहाँ 'सिद्ध' शब्दका अर्थ 'नित्य' है।

तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति। इहापि तदेव। अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि। तद्यथाब्भक्षो वायुभक्ष इत्यप एव भक्षयति वायुमेव भक्षयतीति गम्यत एवमिहापि सिद्ध एव न साध्य इति॥ अथवा पूर्वपद-लोपोऽत्र द्रष्टव्यः। अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति। तद्यथा। देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति॥ अथवा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणमिति नित्यपर्याय-वाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः॥ किं पुनरनेन वर्ण्येन किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तो यस्मिन्नुपादीयमानेऽसंदेहः स्यात्। मङ्गलार्थम्। माङ्गलिक

उद्देश्यसे 'सिद्ध' शब्दका प्रयोग किया जानेके कारण 'नित्य' अर्थमेंही वहाँ 'सिद्ध' शब्द है ऐसा ज्ञात होता है; अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ भी उसी तरह 'सिद्ध' शब्द 'नित्य' अर्थमें प्रयुक्त किया गया है।

अथवा कुछ स्थानोंपर 'एव' आदि दूसरा शब्द रखे बिना ही केवल एकही शब्द रखा जाय, तो भी निश्चयार्थका ज्ञान होता है; जैसे, 'अब्भक्षः', 'वायुभक्षः' कहनेसे 'केवल पानीकाही प्राशन करता है, (दूसरा कुछ खाता पीता नहीं)', 'केवल वायुभक्षण करके ही रहता है, (कुछ खाता पीता नहीं)' इस अर्थका बोध होता है। इसी तरह यहाँपर भी 'सिद्ध' शब्दसे 'जो सदा सिद्ध ही है, साध्य नहीं' इस अर्थका बोध[36] होगा।

अथवा यों समझिये कि प्रस्तुत स्थानपर 'अत्यन्त-सिद्ध' शब्द लेकर पूर्वपद 'अत्यन्त' का लोप करके 'सिद्ध' शब्द रखा है; जैसे 'देवदत्त' को 'दत्त' कहते हैं, अथवा 'सत्यभामा' के बदले 'भामा' कहते हैं, (वैसे ही यहाँ भी 'अत्यन्त-सिद्ध'[37] के बदले 'सिद्ध' शब्द रखा गया है)।

अथवा व्याकरणशास्त्रमें "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" अर्थात् "अर्थ लगाते समय यह अर्थ अथवा वह अर्थ इस प्रकार संदेह निर्माण हो जाय तो शास्त्रकारोंके किये हुए विशिष्ट विवेचनके आधारपर अर्थ निश्चित करना होता है, 'संदेह निर्माण हुआ' इस कारणसे शास्त्रका त्याग नहीं किया जाना चाहिये", यह नियम होनेके कारण यहाँ यह व्याख्या करें कि 'सिद्ध' शब्द 'नित्य' अर्थ का है।

ठीक, परन्तु इतने विवरणरूप स्पष्टीकरणकी झंझट वार्तिककारोंने क्यों निर्माण की? 'सिद्ध' शब्दका प्रयोग न करके स्पष्टतया 'नित्य' शब्दका प्रयोग क्यों नहीं किया? यदि 'नित्य' शब्दका प्रयोग किया होता, तो कोई संदेह न रह जाता।

---

३६. साध्य अर्थात् उत्पन्न होनेवाले जो पदार्थ होते हैं उनका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव होनेके कारण वे पदार्थ हमेशा सिद्ध ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता।

३७. हमेशाके लिए सिद्ध अर्थात् नित्य।

आचार्यो महत शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादित प्रयुङ्क्ते मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति । अय खल्वपि नित्यशब्दो नावश्य कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते । किं तर्हि । आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते । तद्यथा । नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति । यावताभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते तत्राप्यनेनैवार्थं स्याद् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सदेहादलक्षणमिति । पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदित प्रयुक्तो भविष्यति शक्ष्यामि चैन नित्यपर्यायवाचिन वर्णयितुमिति । अत सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्द ॥ अथ क पुन पदार्थं मत्वैष विग्रह क्रियते सिद्धे शब्देऽर्थे सबन्धे चेति । आकृतिमित्याह । कुत एतत् । आकृतिर्हि नित्या

यह सारी खटपट मगलके लिए है । मगल करनेके लिए प्रवृत्त आचार्य वार्तिककार वार्तिकपाठरूपी बडे शास्त्रप्रवाहके प्रारभमें मगलके रूपमें ‘सिद्ध’ शब्दका प्रयोग करते हैं । प्रारभमें मगल करके लिखे हुए शास्त्रमय प्रसिद्धि पाते है, उनका श्रवण करनेवाले शिष्य शूर बनते ह, दीर्घायु होते ह, थोडेमें, अध्ययन करनेवाले शिष्योंकी सब इच्छाएँ पूरी होती है ।

(इसके अतिरिक्त, यदि वार्तिककारोंने ‘सिद्ध’ शब्दके बदले ‘नित्य’ शब्दका प्रयोग किया होता तो भी काम बनही जाता, सो बात नहीं । क्योंकि) ‘नित्य’ शब्दका प्रयोग केवल उन्हीं वस्तुओंके लिए हाता हो कि जो ज्यों की त्यों रहती हैं और जिनका स्वरूप बदलता नहीं, सो बात नहीं । तो ‘पुन पुन’ अर्थमें भी ‘नित्य’ शब्दका प्रयोग किया जाता है, जैसे, ‘नित्यप्रहसित’, ‘नित्य प्रजल्पित’ (पुन पुन हँसनेवाला, पुन पुन बडबड करनेवाला)। (अत ‘नित्य’ शब्दका उच्चारण किया, तो भी) “अर्थ लगाते समय सदेह निर्माण होनेपर शास्त्रकारोंकी की हुई व्याख्याके अनुसार ही विशिष्ट अर्थ लगाना चाहिये, सदेह होनेमात्रसे शास्त्रको अनर्थक नहीं ठहराना चाहिये,” यह नियम ध्यानमें लेकर ही ‘नित्य’ शब्दका अर्थ निश्चित करना आवश्यक होगा । अतएव आचार्य सोचते है—“मगलके लिए ‘सिद्ध’ शब्दका प्रयोग भले ही किया गया हो, हम व्याख्याके द्वारा बता सकेंगे कि उसका अर्थ ‘नित्य’ है ।” अत मगलके लिए ही ‘सिद्ध’ शब्दका प्रयोग किया है, न कि ‘नित्य’ शब्दका ।

ठीक, पदका कौनसा अर्थ (जाति अथवा व्यक्ति) लेकर ‘शब्दार्थसम्बन्धे समासका ‘शब्द, अर्थ और सम्बन्ध ये नित्य होनेपर’ ऐसा विग्रह किया जाय?

आकृति अर्थात् जाति यह अर्थ लेकर वैसा विग्रह किया है ऐसा कहते है ।

सो कैसे?

इसलिए कि आकृति नित्य होती है, द्रव्य अनित्य ।

द्रव्यमनित्यम् ॥ अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्तव्यः । सिद्धे शब्देऽर्थसंबन्धे चेति । नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसंबन्धः ॥ अथवा द्रव्य एव पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः सिद्धे शब्देऽर्थे संबन्धे चेति । द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । कथं ज्ञायते । एवं हि दृश्यते लोके । मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति । पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते । घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते । तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति । पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते । रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते । कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते । पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे

परन्तु द्रव्य अर्थात् व्यक्ति ऐसा पदका अर्थ समझा जाय, तो विग्रह कैसे किया जाय ?

शब्द और उसका अर्थके साथ संबंध नित्य होनेपर यह विग्रह किया जाय । क्योंकि शब्दोंका अर्थात् वाचकोंका अर्थके साथ संबंध (जिसे शक्ति कहते हैं वह) नित्य होता है । (इसलिए शब्द और अर्थसंबंध सिद्ध होनेपर ऐसा विधान किया जाय ।)

अथवा पदका अर्थ द्रव्य लिया जाय तभी उपर्युक्त विग्रह 'शब्द, अर्थ और संबंध' सिद्ध होनेपर योग्य होगा । क्योंकि वास्तवमें द्रव्यही नित्य होता है; आकृति अनित्य होती है ।

यह कैसे समझा जाता है कि द्रव्य नित्य होता है और आकृति अनित्य ?

लोकमें दिखाई देता है कि, मिट्टीको ही विशिष्ट आकृति देनेसे पिण्ड अर्थात् गोला बनता है; पिण्डकी आकृति तोड़कर छोटी छोटी गगरियाँ बनायी जाती हैं; गगरियोंकी आकृति तोड़कर गमले बनाये जाते हैं, उनको तोड़कर छोटी मटकियाँ बनायी जाती हैं । वैसे ही सोना लीजिये । उसको विशिष्ट आकृति देनेपर गोला बनता है; गोलेकी आकृति तोड़कर उसके रुचक[४०] बनाते हैं; रुचक तोड़कर कड़े बनाये जाते हैं; कड़े तोड़कर स्वस्तिक[४१]; फिरसे उसी सोनेका गोला बनाया जा सकता है और उसे एक अलग आकार देकर खैरके अंगार जैसे लाल लाल दो

---

३८. अब 'अर्थ अर्थात् पदार्थ यदि अनित्य है, तो अर्थ न होते हुए उसके साथ संबंध कैसे हो सकता है' ऐसी शंका न ली जाय । क्योंकि शब्दका अर्थके साथ संबंध अर्थात् अर्थ बतानेकी योग्यता । तो अर्थ अर्थात् पदार्थ यदि अस्तित्वमें न हो, तो भी अर्थ बतानेकी योग्यता शब्दमें नित्य ही है ।

३९. यहाँ आकृति शब्दका अर्थ आकार है ।

४०. घोड़ेके गलेमें पहनानेका एक विशेष प्रकारका सुवर्णालंकार ।

४१. स्वस्तिकके आकारका सुवर्णालंकार ।

कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते॥ आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः सिद्धे शब्देऽर्थे संबन्धे चेति। ननु चोक्तमाकृतिरनित्येति। नैतदस्ति। नित्याकृतिः। कथम्। न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति। द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते॥ अथवा नेदमेव नित्यलक्षणं ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्ययोगि यत्तन्नित्यमिति। तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्त्वम्।

कुण्डल बनाये जा सकते है। साराश, (दोनों उदाहरणोंसे स्पष्ट होता है कि,) आकृति बदलती है और अलग अलग होती है, परन्तु द्रव्य (सोना अथवा मिट्टी) प्रत्येक आकृतिमें वही कायम रहता है। यद्यपि आकृति तोड़ी जाय तो भी द्रव्य कायम रहता है।

अब यद्यपि पदका अर्थ आकृति लिया जाय, तो भी 'शब्द, अर्थ और संबंध सिद्ध होनेपर' ऐसा विग्रह करना योग्य है।

पर अभी तो ऊपर कहा गया है न कि आकृति अनित्य होती है। (और आकृति यदि अनित्य मानी जाय, तो सिद्ध अर्थात् नित्य शब्द, अर्थ (आकृतिरूप) और संबध यह विग्रह ठीक नहीं होगा।)

आकृति अनित्य होती है यह कहना ठीक नहीं। आकृति नित्य होती है।

कैसे?

किसी स्थानपर कोई विशिष्ट आकृति स्पष्ट नहीं दिखाई दी, तो उसका अर्थ यह नहीं कि वह आकृति सर्वत्र नहीं दिखाई देती, दूसरे स्थानपर वह आकृति दीख पडती है।

अथवा, "जो ध्रुव होता है अर्थात् किसी एक रूपमें रहनेवाला, न बदलनेवाला, क्षय और परिणाम विकारोंसे रहित, उत्पन्न न होनेवाला, न बढ़नेवाला और न नष्ट होनेवाला है वह नित्य है" यही 'नित्य' शब्दकी व्याख्या है, सो बात नहीं। तो

---

४२ तब मिट्टीकी पिण्डाकृति होनेपर भी यदि वहा घटका आकार दिखाई नहीं देता, तो घटाकार उस मिट्टीके गोलेमें अस्पष्ट रहता ही है। वही आकार आगे चलकर कुलालके व्यापारसे व्यक्त होता है। अन्यत्र व्यक्त रहनेवाला घटाकार देखकर वही आकार इस मृत्पिण्डको दिया जाय ऐसी कल्पना कुलालके मनमें निर्माण होती है। तो इससे ऐसा सिद्ध होता है कि आकार कहीं अस्पष्ट और कहीं स्पष्ट रहनेपर भी वह सर्वत्र एक और नित्य है।

४३. एक स्वरूपमें नित्य रहनेवाला अर्थात् जिस प्रकार लाखके पास रखा हुआ स्फटिक लाखके समान लाल दिखाई देता है, उसी प्रकार दूसरे पदार्थके संसर्गमें भी निजक स्वरूपमें कभी कोई भिन्नत्व नहीं दिखाई देता ऐसा। न बदलनेवाला अर्थात् जैसे हरे आमका परिवर्तन पीले आममें होता है वैसा परिणाम जिसमें कभी नहीं दीख पड़ता।

तद्भावस्तत्त्वम् । आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते ॥ अथवा किं न एतेनेदं नित्यमिदमनित्यमिति । यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते सिद्धे शब्देऽर्थे संबन्धे चेति ॥

कथं पुनर्ज्ञायते सिद्धः शब्दोऽर्थः संबन्धश्चेति । लोकतः । यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति । ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते । तद्यथा । घटेन कार्यं करिष्यन्कुम्भकारकुलं गत्वाह कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति । न तद्वच्छब्दान्प्रयोक्ष्यमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति । तावत्येवार्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते ॥ यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणं किं शास्त्रेण क्रियते ।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ।

वह भी नित्य होता है, जिसका 'तत्त्व' नष्ट नहीं होता।

तत्त्वका अर्थ क्या है?

किसी वस्तुका जो भाव अर्थात् स्वभाव अर्थात् स्वरूप है वही उस वस्तुका तत्त्व है। आकृति बदलनेपर भी तत्त्व नष्ट नहीं होता है।

अथवा यह नित्य है किंवा अनित्य है इस विचारका यहाँ कोई प्रयोजन ही नहीं है। जो कुछ नित्य है सो पदका अर्थ है यह मानकर "शब्द, अर्थ और संबध" ये सब सिद्ध होनेपर शब्दार्थसंबंध समासका यों विग्रह किया गया है ऐसा समझा जाय।

परन्तु शब्द, अर्थ और संबंध ये तीनों सिद्ध अर्थात् नित्य है यह कैसे जाना जाय?

लोकव्यवहारसे जाना जाता है। क्योंकि, जभी जभी लोकमें भिन्न भिन्न अर्थ मनमें सोचकर भिन्न भिन्न शब्दोंका प्रयोग किया जाता है तभी तभी वे शब्द बनानेके लिए कोई प्रयत्न नहीं करते है। किन्तु जो वस्तुएँ कार्य होती है उनको बनानेमें प्रयत्न किया जाता है। उदाहरणार्थ, घड़ेसे कुछ कार्य साध्य करनेकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य कुम्हारवस्तीमें जाकर कहता है—एक घड़ा बनाओ, मै अपना काम घड़ेसे करूँगा। पर शब्दका प्रयोग करनेकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य वैयाकरणोंके कुलमें जाकर कभी नहीं कहता कि शब्द तैयार करो, मुझे प्रयोग करना है। (वैयाकरणोंके कुलमें गये बिना ही) मनमें अर्थ सोचकर भिन्न भिन्न अर्थमें शब्दोंका प्रयोग करते है।

इस तरह इन शब्दोंके विषयमें यदि लोकव्यवहार ही प्रमाणभूत माना जाय तो शास्त्रका प्रयोजन क्या है?

(वा.) लोकव्यवहारसे अर्थके अनुसार शब्दप्रयोग होता ही है; उसमें शास्त्रसे केवल धर्मनियम किया जाता है।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते। किमिदं धर्मनियम इति। धर्माय नियमो धर्मनियमः। धर्मार्थो वा नियमो धर्मनियमः। धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः।

यथा लौकिकवैदिकेषु ॥ १ ॥

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते। अथवा युक्त एव तद्धितार्थः। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु॥ लोके तावदभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकर इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतीघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्।

धर्मनियम शब्दका अर्थ क्या समझा जाय?

(१) 'धर्माय नियम' अर्थात् धर्मके[44] लिए नियम, (२) 'धर्मार्थ नियम.' अर्थात् धर्मके[45] अर्थ नियम, अथवा (३) 'धर्मप्रयोजन. नियम.' अर्थात् धर्मके[46] कारण कहा हुआ नियम।

(वा. १) जिस प्रकार लोकमें और वेदमें (नियम किये हुए दिखाई देते है, उसी प्रकार यहाँ भी धर्मनियम किया है)।

दाक्षिणात्य लोग तद्धित प्रत्यय लगाना अधिक पसद करते हैं— 'यथा लोके वेदे च' ऐसी वार्तिककी रचना करनेके बदले (वार्तिककार) 'यथा लौकिकवैदिकेषु' यह रचना करते है।

अथवा (यहा तद्धित प्रत्यय केवल रुचिके कारणही लगाया गया है, ऐसा न मानकर) तद्धित प्रत्यय यहा योग्य अर्थमेंही लगाया गया है यह भी माना जाय। 'यथा लौकिकवैदिकेषु' अर्थात् 'जिस प्रकार लौकिक[47] और वैदिक बातोंमें।' लोकमें भी 'ग्राम्यकुक्कुट न खाया जाय,' 'ग्राम्यशूकर न खाया जाय' ऐसा प्रतिपादन किया गया है। खाद्य क्षुधाशान्तिके लिए खाना पडता है। मनुष्य कुत्तेका मास खाकर भी अपनी क्षुधा तृप्त कर सकता है, (ग्राम्यकुक्कुट अथवा ग्राम्यशूकरही खाना चाहिये, सो बात नहीं)। अत यहाँ (विशेषत 'ग्राम्यकुक्कुट न खाया जाय' किंवा ग्राम्य शूकर न खाया जाय' ऐसा जो प्रतिपादन किया है, इससे) नियम बताया जाता

---

[44] अपशब्दका प्रयोग करनेसे प्रत्यवाय निर्माण होगा, वह न हो इसलिए।

[45] धर्म अर्थात् यज्ञ आदि कर्म। यज्ञमें अपशब्दका प्रयोग करनेपर वह यज्ञकर्म ठीक न होगा, अत वह यथोचित हो इसलिए।

[46] किसी साधु शब्दका प्रयोग किया गया, तो भी उससे कुछ पुण्य प्राप्त होता है। उस पुण्यके लिए कहा हुआ अर्थात् वह पुण्य प्राप्त हो इसलिए कहा हुआ।

[47] लोकके बारेमें इस अर्थमें लोक शब्दके आगे 'इक' तद्धित प्रत्यय लगाकर लौकिक शब्द बना है।

तत्र नियमः क्रियत इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्यमिति। तथा खेदात्स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियत इयं गम्येयमगम्येति॥ वेदे खल्वपि पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्य इत्युच्यते। व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन शालि-मांसादीन्यपि व्रतयितुम्। तत्र नियमः क्रियते। तथा बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यादित्युच्यते। यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन किंचिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्द्धुम्। तत्र नियमः क्रियते। तथाग्नौ कपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते भृगूणामङ्गिरसां घर्मस्य तपसा तप्यध्वमिति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि संतापयति। तत्र नियमः क्रियत एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति॥ एवमिहापि समानायामर्थगतौ शब्देन

है :—'अमुक अमुक खाने योग्य और अमुक अमुक खाने अयोग्य।' तथा (लोकमेंसे और भी यह उदाहरण है कि) पुरुषको स्त्रीके पास जानेकी जो इच्छा होती है सो कामवासनाके (इन्द्रियोंके असंयमके) कारण। चाहे गम्य स्त्रीके पास जाय, चाहे अगम्य स्त्रीके पास, कामवासनाकी तृप्ति समान ही होती है। अतः इसके सम्बन्धमें नियम किया जाता है कि अमुक स्त्री योग्य है और अमुक अयोग्य। (वेदमें भी नियम पाये जाते हैं)। एक स्थानपर वेदमें कहा गया है—ब्राह्मण दूध पीनेके व्रतका पालन करता है, क्षत्रिय माँड पीनेका व्रत रखता है और वैश्य आमिक्षा (गरम दूधमें मिलाया हुआ दही) पीनेका व्रत रखता है। किसी भी व्रतका स्वीकार आहारके लिए ही करना होता है। चावल अथवा मांस खानेका भी व्रत रखा जा सकता है। अतः (जब कि 'पयोव्रतो' वाक्यके द्वारा दूध, माँड और आमिक्षा ये तीन पदार्थ व्रतके लिए बतलाये गये हैं, तब 'पयोव्रतो' वाक्यसे) व्रतका नियम ही किया गया है। वैसे ही (दूसरे एक वेदके वाक्यमें) कहा गया है—'यज्ञस्तम्भ बेल किंवा खैरका बनाया जाय।' उस खम्भेका काम है यज्ञका पशु बाँधना। यह काम किसी भी पेड़की लकड़ी लेकर उसे तराशकर अथवा बिना तराशे (भूमिमें गाड़कर अथवा बिना गाड़े) किया जा सकता है। अतः (बेल अथवा खैर की लकड़ी लेकर उसीका खम्भा बनाया जाय) ऐसा नियम किया जाता है। उसी प्रकार यज्ञमें अग्निपर कपाल रखकर मंत्र पढ़ा जाता है—'भृगु और अंगिरसकी कठोर तपस्यासे तप्त हो जाय। वस्तुतः बिना मंत्र पढ़े भी, तप्त करना अग्निका स्वभाव होनेके कारण वह कपालोंको तपाताही है। अतः (मंत्र पढ़नेकी आवश्यकता न होनेपर भी जब कि मंत्र पढ़नेको कहा गया है, तब) नियमके रूपमें माना जाता है कि, मंत्र पढ़कर तपानेसे पुण्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रस्तुत स्थानपर शब्दसे और अपशब्दसे अर्थ समझनेका

---

४८ असंयम अर्थात् इंद्रियोंको नियन्त्रणमें न रखना।

चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेत्येवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति॥

अस्त्यप्रयुक्तः । सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः । तद्यथा । ऊष तेर चक्र पेचेति ।किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः । प्रयोगाद्धि भवाञ्शब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः ॥ इद विप्रतिषिद्ध यदुच्यते सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता इति । यदि सन्ति नाप्रयुक्ता अथाप्रयुक्ता न सन्ति सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दाना प्रयोगे साधुः स्यात्॥ नैतद् विप्रतिषिद्धम् । सन्तीति तावद्ब्रूमो यदेताञ्शास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते । अप्रयुक्ता इति ब्रूमो यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति। यदप्युच्यते कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः

काम समान ही होता है, तो भी (व्याकरणशास्त्रमें विशेष हेतुसे शुद्ध शब्द कहे गये ह, इसलिए) यह धर्मनियम किया जाता है.—"शुद्ध शब्दसे ही अर्थ कहा जाय, अपशब्दसे कभी नहीं।" इस नियमके पालनसे मनुष्यका अभ्युदय होता है।

किन्तु अप्रयुक्त शब्द भी दीख पडता है। कुछ शब्दोंका प्रयोग दिखाई नहीं देता, जैसे, 'ऊष' (तुम रहे), 'तेर' (तुम तैर गये), 'चक्र' (तुमने किया), 'पेच' (तुमने पकाया) इत्यादि।

फिर यदि शब्द हों और उनका प्रयोग न दीख पडे, तो क्या हुआ?

प्रयोगसे आप ही निश्चित करते है कि शब्द शुद्ध है अथवा अशुद्ध, तो शब्दोंका यदि प्रयोग न हों तो वे शब्द (व्याकरणमें यद्यपि ठीक तरहसे सिद्ध हों तो भी) शुद्ध नहीं ठहरेंगे।

किन्तु 'शब्द है और उनका प्रयोग नहीं' यह वचन क्या विसगत नही होता? यदि शब्द हैं, तो यह सभव नहीं कि उनका प्रयोग न हो, यदि प्रयोग न हो तो वे शब्द ही न होंगे। यह वचन विसंगत है कि 'शब्द है और उनका प्रयोग नहीं।' और आप ही शब्दोका उच्चारण करके आप ही स्वय कहते है कि उन शब्दोंका प्रयोग नहीं है। तो शब्दका स्वयं उच्चारण करके 'उसका प्रयोग नहीं' कहनेवाला आपके समान दूसरा कौन चतुर आदमी शब्दोंका प्रयोग करनेमें निष्णात समझा जायगा?

हम जो कहते है उसमें कुछ भी विसगत नहीं। 'शब्द है' ऐसा जो हम कहते है उसका कारण यह है कि, शास्त्रकार ही शास्त्रसे उन शब्दोंको सिद्ध करते है। तथा जो हम कहते है कि '(उन शब्दोंका) प्रयोग नहीं दिखाई देता' उसका अर्थ यह है कि 'लोकमें प्रयोग नहीं दिखाई देता।' अब 'आपके समान दूसरा कौन चतुर आदमी शब्दोंका प्रयोग करनेमें निष्णात समझा जायगा?' ऐसा जो आप

शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति। किं तर्हि। लोकेऽप्रयुक्ता इति। ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके। अभ्यन्तरोऽहं लोके न त्वहं लोकः॥

अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात्॥ २॥

अस्त्यप्रयुक्त इति चेत्तन्न। किं कारणम्। अर्थे शब्दप्रयोगात्। अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते॥

अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्॥ ३॥

अप्रयोगः खल्वेषां शब्दानां न्याय्यः। कुतः। प्रयोगान्यत्वात्। यदेतेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्शब्दान्प्रयुञ्जते। तद्यथा। ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व यूयमुषिताः।

कहते है उसके बारेमें हमारा यह कहना है कि उसका अर्थ 'उन शब्दोंका हम प्रयोग नहीं करते' यह न होकर 'उन शब्दोंका लोग प्रयोग नहीं करते' ऐसा है।

पर क्या लोगोंमें आप भी समाविष्ट है न?

हम लोगोंमें है ही, (ना नहीं कहते,) परन्तु हम ही लोग नहीं होते है।

(वा २) अप्रयुक्त शब्द भी दीख पड़ता है यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि शब्दका प्रयोग अर्थके अनुसार होता है।

'प्रयोग दीख नहीं पढता' (इससे उन शब्दोंको असाधुत्व आयेगा) यह कहना ठीक नहीं।

क्यों?

कारण कि शब्दप्रयोग अर्थके लिए होता है। अर्थबोधके लिए शब्दप्रयोग किया जाता है। जिन अर्थोंमें उन शब्दोंका प्रयोग होता है, वे अर्थ उन शब्दोंके होते है।

(वा. ३) उन शब्दोंका प्रयोग दिखाई नहीं देता, क्योंकि उनके बदले अन्य शब्दोंका प्रयोग किया जाता है।

('ऊष', 'तेर' इत्यादि शब्दोंको अर्थ है, वह अर्थ बतानेके लिए उन शब्दोंका प्रयोग होना शक्य है,) परन्तु उन शब्दोंका प्रयोग नहीं दिखाई देता, यह न्याय्य है। कारण कि दूसरे शब्दोंका प्रयोग दीख पडता है, अर्थात् इन शब्दोंके ही अर्थमें अन्य शब्दोंका प्रयोग लोग करते है। उदाहरणार्थ, 'ऊष' शब्दके बदले लोग बहुश. 'क्व यूयम् उषिता.' ऐसा कहते है। उसी प्रकार 'तेर' के स्थानपर 'किं यूय

---

४९. ऊष क्रियापद वस् धातुसे सिद्ध किया गया है। यहॉ लिट् प्रत्यय करके उसके स्थानमे मध्यम पुरुष बहुवचन थ प्रत्यय हुआ है। वस् धातुका अर्थ 'रहना' किया। वह क्रिया प्रत्यक्ष नहीं हुई है, ऐसा लिट् प्रत्ययसे बोध होता है। इस क्रियाकी अप्रत्यक्षता दिखानेके लिए 'क्व' पद यहॉ रखा है. उसी प्रकार मध्यम पुरुष बहुवचनसे जिस अर्थका बोध होता है वह अर्थ व्यक्त करनेके लिए 'यूयं' पद डाला है।

तेरेत्यस्यार्थे किं यूयं तीर्णाः । चक्रेत्यस्यार्थे किं यूयं कृतवन्तः । पेचेत्यस्यार्थे किं यूय पक्कवन्त इति ॥

अप्रयुक्ते दीर्घसत्त्रवत् ॥ ४ ॥

यद्यप्यप्रयुक्ता अवश्यं दीर्घसत्त्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः । तद्यथा । दीर्घसत्त्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च न चाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति केवलमृषिसंप्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते ॥

सर्वे देशान्तरे ॥ ५ ॥

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरे प्रयुज्यन्ते । न चैत उपलभ्यन्ते । उपलब्धौ यत्नः क्रियतां महान्हि शब्दस्य प्रयोगविषयः । सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्शब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रम् ॥ एतस्मिन्नतिमहति

तीर्णाः', 'चक्र' के बदले 'किं यूयं कृतवन्तः', और 'पेच' के अर्थमें 'किं यूयं पक्कवन्तः।'

(वा. ४) यद्यपि प्रयोग न दिखाई दे, तो भी दीर्घसत्रके समान शब्द सिद्ध करने चाहिये।

और यद्यपि इन शब्दोंका प्रयोग न किया जाय तो भी दीर्घकाल तक चलनेवाले सत्रके समान ये शब्द सूत्र देकर सिद्ध करने ही चाहिये। जैसे, सौ वर्ष तक अथवा सहस्र वर्ष तक चलनेवाले सत्र लें। यद्यपि आज ऐसे यज्ञ कोई नहीं करते, फिर भी 'ऋषिप्रणीत संप्रदायही धर्म है' इसलिए याज्ञिक लोग शास्त्रोंमें इन यज्ञोंका वर्णन करते हैं।

(वा. ५) ये सब (शब्द) अन्य देशोंमें (प्रयुक्त होते हैं)।

और इन सब शब्दोंका अन्य देशोंमें प्रयोग किया जाता है।

तो फिर वे क्यों नहीं पाये जाते?

खोजनेका प्रयत्न करना चाहिये। शब्दोंके प्रयोगका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। सात द्वीपोंसे युक्त पृथ्वी, तीन लोक, अंगों और रहस्यवादी ग्रथोंसे युक्त तथा जिनकी कई शाखाएँ है ऐसे चार वेद, अध्वर्युवेद अर्थात् यजुर्वेदकी एक सौ शाखाएँ है, सामवेदकी एक सहस्र शाखाएँ है, ऋग्वेदके इक्कीस प्रकार है, अथर्ववेद नौ शाखाओंका है और सभाषणात्मक ग्रंथ, इतिहास, पुराण, वैद्यक इत्यादि सब मिलकर शब्दोंके

शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते । तद्यथा । शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति । हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमध्येषु गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते । दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु ॥ ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमता. शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क । वेदे। यद्वो रेवती रेवत्य तद्ूष। यन्मे नरः श्रुत्य ब्रह्म चक्र । (ऋ वे १।१६५।११) यत्रा नश्चक्रा जरस तनूनाम् । (ऋ वे १।८९।९)

किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्म आहोस्वित्प्रयोगे । कश्चात्र विशेष ।

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाधर्मः ॥ ६ ॥

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाधर्म· प्राप्नोति । यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ

प्रयोगका क्षेत्र होता है । अत शब्दोंके प्रयोगका इतना विस्तृत क्षेत्र न देखकर 'शब्दोंका प्रयोग दिखाई नहीं देता' यह कहना केवल साहस है। शब्दोंके प्रयोगके इतने अत्यन्त विस्तृत क्षेत्रमें कुछ कुछ शब्द कुछ कुछ विशेष देशोंमें ही उपयोगमें दिखाई देते है। जैसे, 'जाना' अर्थमें 'शव्' धातु कम्बोज देशमें ही प्रचारमें है, परन्तु आर्य लोग जीवदेहका विकार अर्थात् 'मृतदेह' इसी अर्थमें 'शव' शब्दका प्रयोग करते है, ('शव् धातुका स्वतन्त्र प्रयोग कभी नहीं करते)। उसी प्रकार 'जाना' अर्थमें 'हम्म्' धातु सौराष्ट्र देशमें प्रयुक्त किया जाता है, 'रंह्' धातु पूरबमें तथा मध्यदेशमें प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु आर्य लोग 'गम्'धातुका ही प्रयोग करते है। वैसे ही 'काटना' अर्थमें 'दा' धातु (दाति शब्द) पूरब देशमें प्रयुक्त किया जाता है, 'दात्र' शब्द ही केवल उत्तर देशमें उपयोगमें लाते है। और जो शब्द 'प्रयोगमें प्राप्त नहीं' ऐसा आप मानते हैं उनका भी प्रयोग दीख पड़ता है।

वह (प्रयोग) कहाँ दिखाई देता है ?

वेदमें । आगे दिये हुए वैदिक वाक्य देखे—'यद्वो रेवती रेवत्य तद्ूष,' 'यन्मे नर श्रुत्य ब्रह्म चक्र।' (ऋ वे १।१६५।११), 'यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।' (ऋ वे १।८९।९) इत्यादि ।

किन्तु (ऊपर धर्मनियम किया जाता है ऐसा कहा गया है,) वहाँ शुद्ध शब्दोंके केवल ज्ञानसे धर्म होता है अथवा केवल प्रयोगसे धर्म होता है, क्या समझा जाय ?

दोनोंमें भेद क्या है ?

(वा ६) ज्ञानसे धर्म होता है, तो अधर्म भी होता है ।

यदि ज्ञानसे धर्म होता है, तो अधर्म भी होने लगेगा। कारण कि जो मनुष्य शुद्ध शब्द जानता है, वह अपशब्द भी जानता है । जैसे शुद्ध शब्दके ज्ञानसे धर्म

५• 'शव्' धातुका अर्थ है 'विकृत होना'। 'शव' शब्दका अर्थ है 'विकार-प्राप्त देह'।

जानाति । यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा । गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ॥

आचारे नियमः ॥ ७ ॥

आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते । तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुरिति ॥ अस्तु तर्हि प्रयोगे ।

प्रयोगे सर्वलोकस्य ॥ ८ ॥

यदि प्रयोगे धर्मः सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत । कश्चेदानीं भवतो मत्सरो यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत । न खलु कश्चिन्मत्सरः । प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति । फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यं न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः । ननु

होता है, वैसे ही अपशब्दके ज्ञानसे अधर्म भी होता है । अथवा अधर्म ही बहुत होने लगेगा । क्योंकि अपशब्द बहुत हैं, शुद्ध शब्द थोड़े हैं । प्रत्येक शुद्ध शब्दके अनेक अपभ्रष्ट शब्द हो सकते हैं । जैसे, 'गौः' इस एक शुद्ध शब्दके गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अनेक अपभ्रंश होते हैं ।

(वा. ७) आचारके बारेमें नियम है ।

और आचारके बारेमें अर्थात् प्रयोगके बारेमें ही ऋषि अर्थात् वेद धर्मके संबंधमें नियम निश्चित कर देता है । क्योंकि वेदमें ही कहा है—वे राक्षस, 'हेलयो हेलयः' ऐसा बोले और पराभूत हुँऍ ।

तब तो प्रयोगसे ही धर्म होता है ऐसा माना जाय ।

(वा. ८) यदि प्रयोगसे धर्म हो, तो सब लोगोंका अभ्युदय होगा ।

यदि कहा जाय कि शब्दोंके प्रयोगसे धर्म होता है, तो यद्यावत् सब लोगोंका अभ्युदय होगा ।

यदि सब लोगोंका अभ्युदय हो जाय, तो आपको इससे मत्सर क्यों ?

मत्सरकी बात नहीं; पर व्याकरण शास्त्र सीखनेका प्रयत्न अर्थात् परिश्रम व्यर्थ होगा । कोई बड़ा व्यक्ति जब कोई प्रयत्न करता है, तब उसका प्रयत्न फलयुक्त होता है । प्रयत्न और फल इन दोनोंका वियोग न हो । (क्योंकि वैसा होनेमे प्रयत्न व्यर्थ होता है ।)

---

५१. यज्ञमें असुरोंने शत्रुओंके नाते देवोंको पुकारा उस समय 'हेऽरय' अर्थात् 'हे शत्रुओ' ऐसा बोलनेके बदले वे 'हेऽलयः' ऐसा बोले । इस अपशब्दके उच्चारणसे उनको पाप लगा और आगे चलकर उनका युद्धमें पराभव हुआ । अतएव इससे यह सिद्ध होता है कि शुद्ध और अशुद्ध शब्दोंके केवल ज्ञानसे धर्म और अधर्म नहीं होता, तो उनके प्रयोगसे होता है ।

न ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान्प्रयोक्ष्यन्ते त एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते । व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते । दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणा अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः । तत्र फलव्यतिरेकोऽपि स्यात् ॥ एवं तर्हि नापि ज्ञान एव धर्मो नापि प्रयोग एव । किं तर्हि ।

शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन ॥ ९ ॥

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते । तत्तुल्यं वेदशब्देन । वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति । योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद । योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद ॥ अपर आह । तत्तुल्यं वेदशब्देनेति । यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्त्येवं यः शास्त्रपूर्वकं

तो फिर जो प्रयत्न करेंगे वे ही ठीक तरहसे शब्दोंका प्रयोग करेंगे और वे ही उत्तम रीतिसे उदयशाली होंगे ।

सो भी नहीं; विरुद्ध प्रकार भी दिखाई देते हैं । कोई लोग प्रयत्न करके भी प्रयोग करनेमें अनिष्णात दीख पड़ते हैं और कोई लोग बहुतसे प्रयत्नोंके बिना भी निष्णात बने हुए दीखते हैं । अतः (प्रयत्नके बिना भी फल मिलेगा और प्रयत्नका भी फल न मिलेगा, इस प्रकार) प्रयत्न और फलका वियोग भी होगा। ऐसा होगा तो हम कहते हैं कि, केवल शुद्ध शब्दोंके ज्ञानसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती, किंवा शुद्ध शब्दोंके प्रयोगसे भी धर्मप्राप्ति नहीं होती ।

तो फिर किससे धर्मप्राप्ति होती है ?

(वा. ९) *शास्त्रपूर्वक प्रयोगसे अभ्युदय होता है, यह विधान वेदशब्दके समान है।*

शास्त्रके अनुसार जो शब्दोंका प्रयोग करता है उसका अभ्युदय होता है । यह बात वेदशब्दके समान ही है । वेदशब्द भी यही प्रतिपादन करते हैं। जैसे, आगे दिये हुए वाक्य लें—"योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद।"; "योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद।" यहाँ यों कहा है कि, जो अग्निष्टोम यज्ञ करता है और अग्निष्टोम यज्ञ जानता है (उसको पुण्य लगता है), उसी प्रकार जो नाचिकेत अग्निका चयन करता है और जो यह जानता है (उसको पुण्य लगता है)। (उससे वैदिक वाक्य कहते हैं कि "जानना अर्थात् वेदार्थज्ञानपूर्वक प्रयोग करना पुण्यकारक है।" यहाँ भी शास्त्रपूर्वक प्रयोगसे अभ्युदय होता है यह कहनेसे वही बात कही जाती है।)

दूसरा व्याख्याकार 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' की व्याख्या इस प्रकार करता है कि—*जिस प्रकार वेदवाक्योंका नियमपूर्वक अध्ययन करनेवालोंको वेदमें बताया* हुआ फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो मनुष्य व्याकरणशास्त्रका अध्ययन करके शब्दप्रयोग करता है उसका अभ्युदय होता है ।

शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति ॥ अथवा पुनरस्तु ज्ञान एव धर्म इति । ननु चोक्तं ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाधर्म इति । नैष दोषः । शब्दप्रमाणका वयम् । यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् । शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह नापशब्दज्ञानेऽधर्मम् । यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धं नैव तद्दोषाय भवति नाभ्युदयाय । तद्यथा । हिक्कितहसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति नाप्यभ्युदयाय ॥ अथवाभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने । योऽपशब्दाञ्जानाति शब्दानप्यसौ जानाति । तदेवं ज्ञाने धर्म इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवत्यपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्म इति ॥ अथवा कूपखानकवदेतद्भविष्यति । तद्यथा कूपखानकः कूपं खनन्यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति येन स च दोषो निर्हण्यते भूयसा

अथवा ज्ञानसे ही धर्म होता है ऐसा कहा जाय तो भी बाधा नहीं।

परन्तु वैसा कहें तो क्या ऊपर ही दोष नहीं बताया गया कि 'ज्ञानसे धर्म होता है यह कहनेसे अधर्म भी होने लगेगा'?

यह दोष नहीं आता है। हम शब्दको प्रमाण माननेवाले है। शब्द अर्थात् वेद जो बताता है वह हमें अक्षरशः प्रमाण है। शब्द बताता है कि 'शुद्धशब्दज्ञानसे धर्म होता है।' 'अपशब्दज्ञानसे अधर्म होता है' ऐसा शब्द नहीं[52] बताता। तब जो बात करनेकी नहीं कही गयी है अथवा न की जानेके बारेमें निषेध भी नहीं किया गया है वह बात करनेसे न पाप लगता है, न पुण्य। जैसे, हिकित (हिचकियाँ देना), हँसना, खुजलाना इनसे पाप भी नहीं अथवा पुण्य भी नहीं।

अथवा यह भी कह सकते हैं कि अपशब्दोंका ज्ञान शब्दोंके ज्ञानका एक उपाय है। क्योंकि जो अपशब्द जानता है वह शुद्ध शब्द भी जानता है। तब ज्ञानसे धर्म होता है ऐसा कहनेपर अवश्य विदित होता है कि अपशब्दज्ञानपूर्वक शब्दज्ञानसे धर्म होता है[53]।

अथवा कुआँ खोदनेवालेके समान यह होगा। जैसे, कुआँ खोदनेवाला कुआँ खोदते समय यद्यपि कीचड़ और धूलसे सन जाता है, तो भी कुएँमें पानी पाये जानेपर उसी पानीसे वह स्वच्छ होता है और उससे उसका दोष (मलिनता) पूर्णतासे नष्ट होता है; इतना ही नहीं तो उसका बहुत उत्कर्ष भी होता है। प्रस्तुत

---

५२. 'हेलयो हेलयः' इत्यादि वाक्योंमें अपशब्दके कारण अधर्म हुआ ऐसा जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि 'अपशब्दके प्रयोगसे अधर्म हुआ', न कि 'अपशब्दके ज्ञानसे अधर्म हुआ।' (उद्योत)

५३ तब धर्मोत्पादक जो साधुशब्दज्ञान है उसका धर्म उत्पन्न करनेके कार्यमें 'अपशब्दज्ञान' एक विशेष प्रकारका साधन होनेके कारण उस अपशब्दज्ञानसे अधर्म होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। (उद्योत)

चाभ्युदयेन योगो भवत्येवमिहापि यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन स च दोषो निर्घानिष्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति ॥ यदप्युच्यत आचारे नियम इति याज्ञे कर्मणि स नियमः । एवं हि श्रूयते । यर्वाणस्तर्वाणो नामर्षयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः । ते तत्रभवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते । तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितं ततस्ते पराभूताः ॥

अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः । सूत्रम् ।

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः ॥ १० ॥

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते व्याकरणस्य सूत्रमिति । किं हि तदन्यत्सूत्राद्व्याकरणं यस्यादः सूत्रं स्यात् ॥

बात भी उसी प्रकारकी है । यद्यपि अपशब्दज्ञानसे अधर्म होता है, तो भी शब्दज्ञानसे जो धर्म होता है, उस धर्मसे अधर्मरूप दोष समूल नष्ट होता है, इतना ही नहीं तो उस मनुष्यका बहुत उत्कर्ष भी होता है[५४] ।

अब 'आचार अर्थात् प्रयोगके संबंधमें ही धर्मका नियम है' ऐसा जो कहा गया है वह नियम केवल यज्ञकृत्योंके संबंधमें ही है, (अन्य स्थानपर कुछ वैसा नियम नहीं)। सुना है कि यर्वन् और तर्वन् नामके बड़े ऋषि हो गये; वे अलौकिक प्रत्यक्षसे धर्मका सत्यस्वरूप जाननेवाले थे, उन्हें पर और अपर विद्याओंका ज्ञान था; जानने योग्य सब बातें उन्हें ज्ञात थीं, और उन्हें आत्मसाक्षात्कार था। ये ऋषि 'यद्वा नः, तद्वा नः' इन शब्दोंका उच्चारण करनेके समय उन शब्दोंका उच्चारण न करके उनके बदले व्यवहारमें 'यर्वाणस्तर्वाणः' ऐसा उच्चारण करते थे; किन्तु यज्ञकर्ममें कभी विपरीत उच्चारण नहीं किया करते थे। (उनका उत्कर्ष ही हुआ।) परन्तु उन प्रसिद्ध असुरोंने यज्ञकर्ममें अपभ्रष्ट शब्दोंका उच्चार किया और वे पराभूत हुए।

अब 'व्याकरण' शब्दका अर्थ क्या है?

व्याकरणका अर्थ है सूत्र-समूह।

(वा. १०) **यदि व्याकरणका अर्थ सूत्र हो, तो षष्ठीका अर्थ ठीक नहीं होगा।**

यदि 'व्याकरण' का अर्थ 'सूत्र' कहा जाय, तो 'व्याकरणका सूत्र' इस स्थानपर षष्ठी-प्रत्ययका अर्थ ठीक नहीं बैठेगा। क्योंकि (व्याकरण और सूत्र ये दोनों एक ही होनेके कारण) सूत्रसे व्याकरण क्या भिन्न होगा कि जिस व्याकरण का सूत्र बताने में कुछ अर्थ रहेगा?

---

५४. टिप्पणी ५१ देखिये।

शब्दाप्रतिपत्तिः ॥ ११ ॥

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति व्याकरणाच्छब्दान्प्रतिपद्यामह इति । न हि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते । किं तर्हि । व्याख्यानतश्च । ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति । न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धिः -आत् ऐजिति । किं तर्हि । उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति ॥ एवं तर्हि शब्दः ।

शब्दे ल्युडर्थः ॥ १२ ॥

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो नोपपद्यते । व्याक्रियतेऽनेनेति व्याकरणम् । न हि शब्देन किंचिद् व्याक्रियते । केन तर्हि । सूत्रेण ॥

(वा. ११) (यदि 'व्याकरण' शब्दका 'सूत्र' अर्थ हो, तो) शब्दका ज्ञान नहीं होगा।

और यदि 'व्याकरण' शब्दका अर्थ 'सूत्र' समझा जाय, तो उससे शब्दका ज्ञान होता है यह नहीं कहा जा सकता। हम हमेशा कहते हैं कि, व्याकरणसे हम शब्द समझते हैं। परन्तु सूत्रसे कहीं किसीको शब्दका ज्ञान नहीं होता है। वह सूत्रोंके व्याख्यानसे होता है। (सूत्र और व्याकरण दोनों एक कहनेसे व्याकरणका अर्थ सूत्रोंका स्पष्टीकरण ऐसा नहीं होगा, और अगर यह अर्थ न होगा तो व्याकरणसे हम शब्द समझते हैं यह वाक्य उचित नहीं होगा।)

परन्तु सूत्र ही उसके पदोंके विग्रहसे व्याख्यान होता है न?

(सो ही नहीं।) सूत्र के अलग अलग लिये हुए पद व्याख्यान नहीं। जैसे, 'वृद्धिः आत् ऐच्' व्याख्यान नहीं है, तो उदाहरण देना, प्रत्युदाहरण देना, वाक्यमें जिन शब्दोंकी कमी हो उनकी पूर्ति करना इन सब बातोंको मिलाकर व्याख्यान होता है।

ठीक, तो फिर 'व्याकरण'का अर्थ 'शब्द' समझें।

(वा. १२) ('व्याकरण'का अर्थ) शब्द लिया जाय, तो ल्युट् (प्रत्यय) का अर्थ (सुसंगत नहीं होता है)।

यदि 'व्याकरण'का अर्थ 'शब्द' लिया जाय, तो 'व्याकरण' शब्दमें जो 'ल्युट्' प्रत्यय है उसका अर्थ सुसंगत नहीं होता है। ('करण' अर्थमें यहाँ ल्युट् (अन) प्रत्यय किया है। उससे) 'जिसके योगसे स्पष्टीकरण किया जाता है वह व्याकरण' यह 'व्याकरण' शब्दका अर्थ होता है। शब्दमें कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया जाता है; (प्रत्युत शब्दका ही स्पष्टीकरण किया जाता है।)।

फिर किससे स्पष्टीकरण किया जाता है?

सूत्रसे।

भवे

भवे च तद्धितो नोपपद्यते। व्याकरणे भवो योगो वैयाकरण इति। न हि शब्दे भवो योगः। क तर्हि। सूत्रे॥

प्रोक्तादयश्च तद्धिताः॥ १३॥

प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। आपिशलम्। काशकृत्स्नमिति। न हि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः। किं तर्हि। सूत्रम्॥ किमर्थमिदमुभयमुच्यते भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति न प्रोक्तादयश्च तद्धिता इत्येव भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात्। पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टं भवे

(वा.) ('व्याकरण' शब्दके आगे) 'भव' अर्थमें (तद्धित-प्रत्यय नहीं लगाया जाता है)।

और यदि 'व्याकरण' शब्दका 'शब्द' अर्थ लिया जाय, तो 'व्याकरण' शब्दके आगे 'भव' अर्थमें तद्धित-प्रत्यय नहीं लगाया जायगा। उदाहरणार्थ, ('वैयाकरण' शब्द लें।) 'व्याकरण शास्त्रमें रहनेवाला सूत्र' इस अर्थके इस 'वैयाकरण' शब्दमें ('तत्र भवः' (४-३-१०३) इस सूत्रसे) 'वहाँ रहनेवाला' इस अर्थमें 'अ' प्रत्यय हुआ है। (योगका अर्थ है सूत्र।) वह योग शब्दमें नहीं रहता है। तो फिर वह कहाँ रहता है? सूत्रपाठमें।

(वा. १३) और 'प्रोक्त' आदि अर्थके तद्धित-प्रत्यय भी (नहीं लगाये जा सकते)।

उसी प्रकार यदि 'व्याकरण' शब्दका 'शब्द' अर्थ लिया जाय, तो 'प्रोक्त' (अर्थात् कहा हुआ) आदि अर्थके तद्धित प्रत्यय पाणिनि आदि शब्दोंको नहीं लगाये जा सकते हैं। जैसे, 'पाणिनिसे उच्चारित' इस अर्थका 'पाणिनीय' शब्द लें, 'आपिशल' शब्द लें, अथवा 'काशकृत्स्न' शब्द लें। (ये सब शब्द) सिद्ध करनेमें बाधा उपस्थित होगी। क्योंकि) पाणिनिने शब्द नहीं बताये हैं। तो फिर क्या बताया है? सूत्रपाठ।

पर 'भवे' और 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' ये दो (वार्तिक) यहाँ अलग अलग क्यों लिखे गये हैं? वैसे न लिखे जायँ। 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इतना ही एक लिखनेसे 'भव' अर्थमें जो तद्धित प्रत्यय हैं उसका भी समावेश होगा।

पहले आचार्यजी के ध्यानमें आया था कि, 'भव' अर्थमें तद्धित प्रत्ययकी उपपत्ति नहीं बतायी जा सकेगी। उससे उन्होंने (वह दोष बतानेके लिए) 'भवे' वार्तिक लिखा। बादमें उन्होंने देखा कि, 'प्रोक्त' आदि अर्थमें रहनेवाले तद्धित

---

५५. 'पाणिनीय' शब्द सूत्रपाठ अर्थमें सिद्ध होगा, परन्तु व्याकरण (अर्थात् शब्दः) इस अर्थमें साधनेमें बाधा पड़ेगी।

तद्धित इति तत्पठितम् । तत उत्तरकालमिदं दृष्टं प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति तदपि पठितम् । न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति ॥ अयं तावद्दोषो यदुच्यते शब्दे ल्युडर्थ इति । नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड् विधीयते । किं तर्हि । अन्येष्वपि कारकेषु कृत्यल्युटो बहुलम् [३.३.११३] इति । तद्यथा । प्रस्कन्दनम् प्रपतनमिति ॥ अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते । तद्यथा । गौरित्युक्ते सर्वे संदेहा निवर्तन्ते नाश्वो न गर्दभ इति॥ अयं तर्हि दोषो भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति । एवं तर्हि

लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम् ॥ १४ ॥

प्रत्यय भी उपपन्न नहीं होंगे। अतः वह दोष भी बतानेके लिए उन्होंने 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' वार्तिक लिखा। क्योंकि आचार्यजी एक बार जो सूत्र लिखते हैं वे फिरसे कदापि वापस नहीं लेते।

अब 'व्याकरण' शब्द 'शब्द' अर्थमें लेनेसे जो ये दोष बताये हैं उनमेंसे 'व्याकरण' शब्दमें जो ल्युट् प्रत्यय है उसका अर्थ ठीक नहीं बैठता है, यह जो ऊपर दोष दिया गया है वह दोष निर्माण नहीं होता है। क्योंकि करण और अधिकरण इन दो ही अर्थोंमें ल्युट् प्रत्यय कहा गया है ऐसा नहीं।

फिर और किस अर्थमें कहा है?

और अन्य जो कारक हैं उन अर्थोंमें भी। पाणिनिने ही (३-३-११३) कहा है कि 'कृत्य' प्रत्यय और 'ल्युट्' प्रत्यय बाहुल्यसे होते हैं (अर्थात् प्रयोगके अनुसार किसी भी अर्थमें होते हैं)। जैसे, 'प्रस्कन्दनम्', 'प्रपतनम्' शब्द देखें।[56]

अथवा ('करण' अर्थमें 'ल्युट्' प्रत्यय लेकर भी 'शब्द' अर्थमें 'व्याकरण' शब्द उपपन्न होगा। क्योंकि) शब्दसे शब्दका व्याकरण किया जाता है। जैसे, 'गौः' (यह बैल है) यह शब्द उच्चारनेसे सब संदेह दूर होते हैं और (ज्ञात होता है कि) 'यह घोड़ा नहीं', 'यह गधा नहीं'।[57]

परन्तु 'भवे' और 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' ये दो दोष क़ायम रहते ही हैं न? तो फिर—

(वा. १४) लक्ष्य और लक्षण ही व्याकरण है।

---

५६. 'स्कन्द्' धातुका अर्थ है 'गति'। जिस स्थानसे वस्तुको गति मिलती है उस स्थानको प्रस्कन्दन कहते हैं। उसी प्रकार जिससे लोगोंका पतन होता है ऐसे पर्वतके कटक आदि प्रदेशको प्रपतन कहते हैं। यहाँ ल्युट् (अन) प्रत्यय अपादान अर्थमें लगाया है।

५७. यहाँ गो शब्दसे घोड़ा आदि शब्दोंका व्याकरण हुआ अर्थात् गो शब्दसे निर्दिष्ट किये प्राणीसे घोड़ा आदि शब्दोंकी निवृत्ति हुई। व्याकरणसे विपरीतकी व्यावृत्ति होती है।

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति । किं पुनर्लक्ष्यं लक्षणं च । शब्दो लक्ष्यः सूत्रं लक्षणम् । एवमप्ययं दोषः समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति । नैष दोषः । समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते । तद्यथा । पूर्वे पञ्चालाः । उत्तरे पञ्चालाः । तैलं भुक्तम् । घृतं भुक्तम् । शुक्लः नीलः कृष्ण इति । एवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेऽपि वर्तते ॥ अथवा पुनरस्तु सूत्रम् । ननु चोक्तं सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्न इति । नैष दोषः । व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति ॥ यदप्युच्यते शब्दाप्रतिपत्तिरिति न हि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते

लक्ष्य और लक्षण दोनों मिलकर व्याकरण होता है।

लक्ष्यका अर्थ क्या है और लक्षणका अर्थ क्या है?

लक्ष्यका अर्थ है शब्द; लक्षणका अर्थ है सूत्र।

तो भी यह दोष आता ही है—दोनोंको मिलाकर लगनेवाला 'व्याकरण' शब्द अवयव अर्थात् केवल सूत्रको किंवा केवल शब्दको नहीं लग सकता है। केवल सूत्र पढ़नेवाले मनुष्यको भी वैयाकरण कहना इष्ट है।

यह दोष नहीं आता है। समुदायके वाचक शब्द अवयवको भी लागू हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'पूर्वे पञ्चालाः' (पूर्वका पञ्चाल देश), 'उत्तरे पञ्चालाः' (उत्तरका पञ्चाल देश), 'तैलं भुक्तम्' (तेल खाया), 'घृतं भुक्तम्' (घी खाया), 'शुक्लः नीलः कृष्णः' (शुक्ल, नील, कृष्ण) इत्यादि शब्द। (यहाँ पञ्चाल देशके अवयवको पञ्चाल कहा है, तथा तेलयुक्त पदार्थ और घृतयुक्त पदार्थ खानेपर तेल खाया और घी खाया ऐसा कहते हैं। वैसे ही अल्पप्रमाणमें शुक्ल, नील और कृष्ण वर्णयुक्त वस्तुको शुक्ल आदि कहते हैं।) उसी रीतिसे सूत्र और शब्द दोनोंको मिलाकर कहा हुआ 'व्याकरण' शब्द अवयवको भी लागू पड़ेगा (अर्थात् सूत्रको भी लागू पड़ेगा और शब्दको भी लागू पड़ेगा)।

अथवा 'व्याकरण' शब्दका केवल 'सूत्र' अर्थ लेनेमें भी बाधा नहीं।

परन्तु क्या ऊपर नहीं कहा गया कि 'व्याकरण' शब्दका 'सूत्र' अर्थ लेया जाय तो "व्याकरणका सूत्र" इस स्थानपर षष्ठीका अर्थ उपपन्न नहीं होता है?

यह दोष नहीं आता है। व्यपदेशिवद्भावसे[५८] काम सध जायगा। (जैसे राहुसे मस्तक भिन्न न होते हुए 'राहुका मस्तक' ऐसा हम कहते हैं, वैसे व्याकरण और सूत्र ये दोनों भिन्न न होते हुए 'व्याकरणका सूत्र' यह हम कह सकेंगे।)

तथा 'सूत्रसे शब्द ज्ञात नहीं होते, तो सूत्रोंके व्याख्यानसे अर्थात् स्पष्टीकरणसे शब्द ज्ञात होते हैं' इससे 'व्याकरण' शब्दका 'सूत्र' अर्थ समझनेसे 'व्याकरणसे

---

५८. सू. १।१।२१. वा. २ देखना।

किं तर्हि व्याख्यानतश्चेति परिहृतमेतत्तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति । ननु चोक्तं न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धिः आत् ऐजिति किं तर्हि उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवतीति । अविजानत एतदेवं भवति । सूत्रत एव हि शब्दान्प्रतिपद्यन्ते । आतश्च सूत्रत एव यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत ॥

अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः ।

वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः ॥ १५ ॥

वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः कर्तव्यः ॥ किमिदं वृत्तिसमवायार्थ इति । वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः । वृत्त्यर्थो वा समवायो वृत्तिसमवायः ।

शब्दका ज्ञान होता नहीं' ऐसा जो कहा है उसका उत्तर उसी स्थानपर दिया है कि 'सूत्रका विग्रह ही सूत्रका व्याख्यान होता है।'

किन्तु इस विधानका वहीं उत्तर दिया न कि "सूत्रके अलग अलग किये वृद्धिः, आत्, ऐच् ये पद व्याख्यान नहीं, तो उदाहरण देना, प्रत्युदाहरण देना, जिन शब्दोंकी कमी हो उनकी पूर्ति करना इन सब बातोंको मिलाकर व्याख्यान होता है?"

अज्ञानी मनुष्यको उदाहरण आदि कहना पडता है। वस्तुतः सूत्रसे ही शब्दोंका ज्ञान होता है। सूत्रसे ही शब्दोंका ज्ञान होता है इसके लिए अधिक आधार दिया जा सकता है। फिर जो सूत्रको छोड़कर और ही कुछ कहता है उसका कथन ग्राह्य नहीं माना जाता है"।

अब वर्णोंका ('अइउण्', 'ऋलृक्' इत्यादि) उपदेश किसलिए किया है?

(वा. १५) वृत्तिसमवायके लिए उपदेश है।

वृत्तिसमवायके लिए वर्णोंका उपदेश करना चाहिये।

वृत्तिसमवायका अर्थ क्या है?

वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः । का पुनर्वृत्तिः । शास्त्रप्रवृत्तिः । अथ कः समवायः । वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः । अथ क उपदेशः । उच्चारणम् । कुत एतत् । दिशिरुच्चारणक्रियः । उच्चार्य हि वर्णानाहोपदिष्टा इमे वर्णा इति ॥

अनुबन्धकरणार्थश्च ॥ १६ ॥

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः कर्तव्यः । अनुबन्धानासङ्क्ष्यामीति । न ह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम् ॥ स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चानुबन्धकरणार्थश्च । वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम् । प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः ॥

प्रयोजनः समवाय.' अर्थात् वृत्ति जिसका प्रयोजन है ऐसा समवाय।

परन्तु वृत्तिका अर्थ क्या है?

वृत्तिका अर्थ है शास्त्रकी प्रवृत्ति।

तो समवायका अर्थ क्या है?

क्रमसे वर्णोंका न्यास ही समवाय है।

अब उपदेशका अर्थ क्या है?

उपदेश अर्थात् उच्चारण।

उपदेशका अर्थ उच्चारण कैसे होता है?

• दिश् धातुका अर्थ है उच्चारण करना। कारण कि उच्चारण करके आचार्य कहते हैं, 'इन वर्णोंका उपदेश किया'।

(वा १६) अनुबन्ध लगानेके लिए भी (वर्णोंका उपदेश करना चाहिये)।

(अनुबन्ध अर्थात् इत्संज्ञायुक्त वर्ण, अर्थात् कुछ विशिष्ट कार्यके लिए चिह्नके रूपमें लगाये हुए वर्ण।) अनुबन्ध लगानेके लिए (अर्थात् 'मैं अनुबन्ध लगाऊँगा' इस उद्देशसे) वर्णोंका उपदेश करना चाहिये। क्योंकि बिना वर्णोंका उपदेश किये अनुबन्ध लगाना शक्य नहीं। अतः इस वर्णोपदेशके दो हेतु हैं (१) शास्त्रप्रवृत्ति सुलभ हो इस उद्देशसे विशिष्ट क्रमसे वर्ण रखे जायँ, और (२) अनुबन्ध लगाये जायँ। विशिष्ट क्रमसे वर्णोंकी रचना और अनुबन्ध लगाना ये दो बातें प्रत्याहार कहनेके लिए उपयुक्त होती हैं, और प्रत्याहार शास्त्रप्रतिपादनमें उपयुक्त होते हैं।

(१।३।१०) इस सूत्रकी प्रवृत्ति होती है। तब 'अदुद्दिनराम्' इस उदाहरणमें लकारके स्थानमें हुए इकारको संप्रसारण संज्ञा नहीं होती, इसलिए 'हल' (६।४।२) सूत्रसे दीर्घ नहीं होता।

६२ इस वर्णसमुदायमें 'आदिरन्त्येन' (१।१।७१) सूत्रसे अच्, अण् इत्यादि प्रत्याहार सिद्ध होते हैं। इससे 'इको यणचि' (६।१।७७) इत्यादि शास्त्रोंकी प्रवृत्ति होती है।

इष्टबुद्ध्यर्थश्च । इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः । इष्टान् वर्णान्भोत्स्य इति । न ह्यनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम् ।

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः ॥१७॥

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः । एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते ॥

आकृत्युपदेशात्सिद्धम् । आकृत्युपदेशात्सिद्धमेतत् । अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ।

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः ॥ १८ ॥

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः । के पुनः

इसके अतिरिक्त (वैयाकरणोंको) जिस तरहका वर्णोंका उच्चारण अभिप्रेत है वैसाही करनेके लिए (वर्णोंका उपदेश किया है)[११]। 'उपदेशसे इष्टवर्ण हम अर्थात् वैयाकरण समझ सकें,' इस उद्देशसे (आचार्य महेश्वरने) वर्णोंका उपदेश किया है। कारण कि बिना वर्णोंका उपदेश किये इष्टवर्णोंका ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है।

(वा १७) इष्टवर्णोंका बोध होनेके लिए (उपदेश करना चाहिये), तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ और प्लुत इनका भी उपदेश करना चाहिये।

यदि कहा जाय कि इष्टवर्णोंका बोध हो इस उद्देशसे उपदेश करना चाहिये, तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ और प्लुत इनका भी उपदेश करना चाहिये। क्योंकि इन प्रकारके गुणोंसे युक्त वर्ण भी इष्ट हैं। (तब केवल ह्रस्व वर्णोंका उपदेश करना पर्याप्त न होगा।)

आकृतिके उपदेशसे (कार्य) सिद्ध होता है अर्थात् आकृति अथवा जातिकी दृष्टिसे उपदेश करनेसे कार्य हो सकता है। सब अ वर्णोंकी (ह्रस्व अ, दीर्घ अ, प्लुत अ उदात्त अ इत्यादि अ वर्णोंकी) जाति इस नातेसे 'अ' वर्णका उपदेश करनेसे सब प्रकारके अकारोंका उचित ज्ञान होता है। उसी प्रकार सब इ वर्णोंके लिए इ वर्णका उच्चारण और सब उ वर्णोंके लिए उ वर्णका उच्चारण।

(वा १८) आकृतिके उपदेशसे कार्य सिद्ध होता है ऐसा कहा जाय, तो संवृत आदिका प्रतिषेध करना चाहिये।

यदि कहा जाय कि जातिबोधक वर्णोंका उपदेश पर्याप्त है, तो संवृत आदि दोषोंसे युक्त वर्णोंका प्रतिषेध करना चाहिये। (संवृत, कल आदि दोषोंसे युक्त वर्णोंका संग्रह होना इष्ट नहीं।)

'संवृत आदि' अर्थात् कौन कौनसे ?

---

११ इसलिए कि वर्णोंका उच्चारण शुद्ध किया जाय।

संवृतादयः। संवृतः कलो ध्मात एणीकृतोऽम्बूकृतोऽर्धको ग्रस्तो निरस्तः प्रगीत उपगीतः क्ष्विण्णो रोमश इति ॥ अपर आह।

ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।

संदष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावना इति ॥

अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ॥ नैष दोषः। गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति। अस्त्यन्यद्गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम्। किम्। समुदायानां

संवृत, कल, ध्मात, एणीकृत, अम्बूकृत, अर्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, उपगीत, क्ष्विण्ण और रोमश। किंवा 'संवृत' आदि शब्दोंसे अन्य वैयाकरणोंके कथनानुसार नीचे दिये वाक्यमें वर्णित वर्ण भी लिये जायँ। 'ग्रस्त, निरस्त, अविलम्बित, निर्हत, अम्बूकृत, ध्मात, विकम्पित, संदष्ट, एणीकृत, अर्धक, द्रुत और विकीर्ण ये स्वरोंके उच्चारणके दोष हैं।' इसके अतिरिक्त व्यञ्जनोंके दोष हैं।

(दुष्ट वर्णोंका संग्रह होगा) यह दोष यहाँ नहीं आता है। 'गर्ग' आदि तथा 'बिद्' आदि शब्दोंका उच्चारण करते समय (आचार्य पाणिनिने शुद्ध अर्थात् दोषरहित ही उच्चारण किया है और इससे) 'संवृत' आदि वर्णदोषोंसे रहित ही शब्द सर्वदा शास्त्रमें लिये जायँगे।

---

६४. जिस वर्णके उच्चारणमें जिह्वा जिस स्थानकी ओर मुड़ती है, वह स्थान उस वर्णका समझा जाता है। उस स्थानकी ओर मुड़कर यदि जिह्वा उस स्थानसे दूर रहे तो उस स्थितिमें उच्चारित वर्णको विवृत कहते हैं, और यदि उस स्थानके समीप जिह्वा आये तो उस स्थितिमें उच्चारित वर्ण संवृत कहलाता है। ए, ओ इत्यादि संध्यक्षरोंका संवृत उचारण करना दोष है। जिस वर्णका जो स्थान नहीं है, उस स्थानकी ओर मुड़कर उस वर्णका उच्चारण करना कलदोष है। उस दोषसे युक्त वर्णको भी 'कल' कहते हैं। श्वासवायुकी गति प्रमाणसे अधिक करके उच्चारित वर्ण 'ध्मात' होता है। यह वर्ण यद्यपि ह्रस्व हो तो भी दीर्घ जैसा लगता है। संशयित उच्चारणवाला वर्ण 'एणीकृत' है। इस स्थानमें अमुक ही वर्ण उच्चारित है ऐसा निश्चय नहीं होता। मुँहमें अस्पष्ट उच्चारित वर्ण 'अम्बूकृत' है। श्वासवायुकी गति प्रमाणकी अपेक्षा कम करके उच्चारित वर्ण 'अर्धक' है। यह वर्ण यद्यपि दीर्घ हो तो भी ह्रस्वके समान लगता है। कण्ठमें उच्चारित वर्ण 'ग्रस्त' है। निठुर उच्चारणयुक्त वर्ण 'निरस्त' कहलाता है। गानेके स्वरमें उच्चारित वर्ण 'प्रगीत' कहा जाता है। प्रगीत वर्णके समीप रहनेवाला प्रगीतके समान लगनेवाला वर्ण 'उपगीत' है। कम्पित उच्चारणयुक्त वर्ण 'क्ष्विण्ण' है। गंभीर उच्चारणका वर्ण 'रोमश' है।

६५. मन्दतासे जिसका उच्चारण नहीं किया है वह वर्ण 'अविलम्बित' कहलाता है। रूक्ष उचारणयुक्त वर्ण 'निर्हत' है। दीर्घस्वरसे उच्चारित वर्ण 'संदष्ट' है। समीपस्थवर्णमें घुलमिलकर उच्चारित वर्ण 'विकीर्ण' है। अन्य शब्दोंका अर्थ टिप्पणी ६४ में देखा जाय।

साधुत्वं यथा स्यादिति ॥ एवं तर्ह्यष्टादशधा भिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि । सा तर्हि वक्तव्या ।

लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः ।

लिङ्गार्था सा तर्हि भविष्यति । तत्तर्हि वक्तव्यम् । यद्यप्येतदुच्यते-ऽथवैतर्ह्यनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यमित्संज्ञा च न वक्तव्या लोपश्च न वक्तव्यः । यदनुबन्धैः क्रियते तत्कलादिभिः करिष्यते । सिध्यत्येवमपाणिनीयं तु भवति ॥

किन्तु 'गर्ग' आदि तथा 'विद्' आदि शब्दोंका उच्चारण करनेमें अन्य हेतु है न ?

वह कौनसा ?

'गर्ग' आदि तथा 'विद्' आदि शब्दोंसे 'गार्ग्य' आदि तथा 'बैद' आदि जो समुदाय निर्माण होते हैं उनका साधुत्व कहना यह उद्देश यहां है।

यह कहें तो अठारह भेदोंसे युक्त, कल आदि दोषोंसे रहित, इस प्रकारका 'अ', 'इ' आदि वर्णोंका जो मूल स्वरूप वह आदेशरूपसे 'अकार इकार' आदि वर्णोंका कहा जायगा।

तो वैसे आदेश कहे जायें; (किन्तु गौरव हो जायगा)।

(वा.) चिह्नके लिए वैसे आदेश उपयुक्त होंगे।

(वैसे आदेश कहे जायें तो भी कुछ गौरव नहीं होगा; कारण कि) चिह्नके लिए वैसे आदेश कहना उपयुक्त होगा। (*अर्थात् भिन्न भिन्न स्थानपर वुद्, ह्रीङ्, इत्यादि स्थानके ङ्, कृञ्, भृञ् इत्यादि स्थानके ञ् इत्यादि जो चिह्न पाणिनिने किये हैं वे करनेके बदले कल आदि दोषोंका उपयोग किया जा सकेगा।*) तब अष्टाध्यायी सूत्रपाठके अन्तमें वैसे आदेश कहे जायें। अब यद्यपि वैसे आदेश कहनेसे गौरव होगा, तो भी वस्तुतः लाघव ही है। वह इस प्रकार कि, भिन्न भिन्न अनेक अनुबन्ध करनेकी अब आवश्यकता नहीं। उनकी इत्संज्ञा कहनेकी आवश्यकता नहीं; उनका लोप भी बतानेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि अनुबन्धोंसे जो करना चाहिये वह कल आदि दोषोंके उच्चारणसे ही किया जायगा।

इस रीतिसे सब कार्य सिद्ध होगा; तथापि आचार्य पाणिनिकी इच्छाके विरुद्ध यह होगा।

---

६६. ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत इन तीनोंके प्रत्येकके उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ऐसे तीन प्रकार मिलकर नौ प्रकार होते हैं। उनमेंसे प्रत्येकके सानुनासिक और निरनुनासिक ऐसे दो प्रकार मिलकर अठारह प्रकार अ, इ इत्यादि वर्णोंके होते हैं। लृ वर्णके केवल बारह प्रकार होते हैं। कारण कि उसका दीर्घ नहीं है। उसी प्रकार संध्यक्षरोंका भी ह्रस्व नहीं है, इसलिए उनके भी प्रत्येकके बारह प्रकार होते हैं।

यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तमाकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेध इति । परिहृतमेतद्गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति । ननु चान्यद्गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनमुक्तम् । किम् । समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति । एवं तर्हुभयमनेन क्रियते पाठश्चैव विशेष्यते कलादयश्च निवर्त्यन्ते । कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम् । लभ्यमित्याह । कथम् । द्विगता अपि हेतवो भवन्ति । तद्यथा ।

आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता इति ।

तो फिर, जैसा सब है वैसा ही रहने दें, (हेर फेर करनेकी किंवा अधिक कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं)।

परन्तु क्या ऊपर ही दोष नहीं बताया गया कि 'यदि कहा जाय कि जाति बोधक अकारादि वर्णोंका उपदेश करना पर्याप्त है, तो संवृत आदि दोषोंका प्रतिषेध करना ही चाहिये'?

उसका उत्तर भी दिया ही है कि, 'गर्ग' आदि तथा 'बिद्' आदि शब्दोंका उच्चारण करते समय आचार्य पाणिनिने शुद्ध अर्थात् दोषरहित ही उच्चारण किया है और इससे 'संवृत' आदि स्वरोंसे रहित ही शब्द सर्वदा शास्त्रमें लिये जायेंगे।

परन्तु 'गर्ग' आदि तथा 'बिद्' आदि शब्दोंका उच्चारण करनेमें पाणिनिका अन्य हेतु है ऐसा कहा है न?

कौनसा वह अन्य हेतु?

'गर्ग' आदि तथा 'बिद्' आदि शब्दोंसे निर्मित 'गार्ग्य' आदि तथा 'बैद' आदि समुदायोंका साधुत्व कहना।

ऐसा हो तो ('गर्ग' आदि तथा 'बिद्' आदि शुद्ध शब्दोंके उच्चारणसे) दोनों कार्य सिद्ध होंगे। 'गार्ग्य' आदि तथा 'बैद' आदि समुदायोंका साधुत्व कहना यह एक काम, और शुद्ध शब्दोच्चारणसे 'कल' आदि दोषोंको स्थान न देना यह दूसरा।

किन्तु एक ही यत्नसे (अर्थात् 'गर्ग' आदि तथा 'बिद्' आदि शब्दोंके वर्ण दोषरहित उच्चारनेसे) दोनों कार्य सिद्ध होंगे?

सिद्ध होनेमें बाधा नहीं यह कहा जा सकता है।

सो कैसे?

एक काम करनेका दो प्रकारका भी हेतु हो सकता है। जैसे, आम्रवृक्षके नीचे बैठके तर्पण करनेसे आम्रवृक्षका भी सिञ्चन किया जाता है और पितरोंकी भी

तथा वाक्यान्यपि द्विधानि भवन्ति । श्वेतो धावति । अलम्बुसानां यातेति॥ अथवेदं तावदयं प्रष्टव्यः । क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्निति । आगमेषु । आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते । विकारेषु तर्हि । विकाराः शुद्धाः पठ्यन्ते । प्रत्ययेषु तर्हि । प्रत्ययाः शुद्धाः पठ्यन्ते । धातुषु तर्हि । धातवोऽपि शुद्धाः पठ्यन्ते । प्रातिपदिकेषु तर्हि । प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते । यानि तर्ह्यग्रहणानि

तृप्ति होती है। वैसे ही कुछ वाक्योंके उच्चारणमें उनके शब्दोंके दो अर्थ होनेसे दो हेतु दिखाई देते हैं। —'श्वेतो धावति' बोलनेसे कुत्ता यहाँसे दौड़ता है ऐसा भी कहा[67] जाता है और उसका वर्ण श्वेत है यह भी बताया जाता है। 'अलम्बुसानां याता' कहनेसे 'अलम्बुस नामके देश जानेवाला' यह कहा जाता है और 'अनाजका बहुत भूसा पानेवाला' ऐसा भी बताया जाता है।

अथवा ऊपरकी पृच्छा करनेवालेसे पूछा जाय कि, संवृत आदि दोषोंसे युक्त ये वर्ण कहाँ सुने जायेंगे ?

वेदमें।

वेदका पाठ शुद्ध है।

आदेश, आगम इत्यादि विकारोंमें।

विकारोंका भी शुद्ध उच्चारण किया है।

ठीक तो, प्रत्ययोंमें।

प्रत्ययों का भी उच्चारण शुद्ध ही किया है।

तो फिर, धातुओंमें।

धातुओंका भी पाठ शुद्ध ही है।

तो फिर, प्रातिपदिकोंमें

प्रातिपदिक भी शुद्ध पढ़े जाते हैं।

ठीक तो, जिन प्रातिपदिकोंका—डित्थ, डवित्थ, देवदत्त इत्यादिका—प्रतिपदोक्त किसी भी सूत्रमें किंवा गणमें उच्चारण नहीं किया गया उनमें।

---

६७. 'कौन दौड़ता है' और 'किस प्रकारका दौड़ता है' इन दो प्रश्नोंका 'श्वेतो धावति' यह एकही उत्तर दिया जाता है। 'श्वा इतः' ऐसा पदच्छेद करनेसे पहले प्रश्नका उत्तर मिलता है, और 'श्वेतः' यह एक पद लेनेसे दूसरे प्रश्नका उत्तर मिलता है। श्वा अर्थात् कुत्ता। इतः अर्थात् यहाँसे। श्वेतः अर्थात् शुभ्र वर्णका।

६८. 'किस देश जानेवाला है?' और 'कौनसा मनुष्य समर्थ है?' इन दो प्रश्नोंका 'अलम्बुसानां याता' ऐसा एकही उत्तर दिया जाता है। अलम्बुस अर्थात् अलम्बुस नामका देश। अलं अर्थात् समर्थ। बुस अर्थात् भूसा।

प्रातिपदिकानि । एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ उपदेशः कर्तव्यः । शशः । षष इति मा भूत् । पलाशः । पलाष इति मा भूत् । मञ्चकः । मञ्जक इति मा भूत् ॥

आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः ।
उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः ॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे प्रथममाह्निकम् ॥

उनके भी स्वरों और वर्णक्रमोंका ज्ञान होनेके लिए कहीं तो उच्चारण करना आवश्यक है। कारण कि वैसा करनेसे 'शश' यह उच्चार लोग करेंगे, 'षष' ऐसा नहीं। उसी प्रकार 'पलाश' शब्दका उच्चारण 'पलाष' कोई नहीं करेगा और 'मञ्चक'का 'मञ्जक' न करेगा।

आगम, विकार, प्रत्यय और धातु इनका साक्षात् शुद्ध उच्चारण किया है; अतः उस उच्चारणमें ये 'कल' आदि वर्णदोष कदापि नहीं आते हैं।

इस प्रकार श्रीभगवान् पतञ्जलिके रचे हुए व्याकरणमहाभाष्यके पहले अध्यायके पहले पादका पहला आह्निक समाप्त हुआ ॥

पहले अध्यायके पहले पादका पहला आह्निक समाप्त।

प्रत्याहारनामकं द्वितीयाह्निकम्

प्रत्याहाराह्निक (अ. १ पा. १ आह्निक २)

[अक्षरसमाम्नायकी वर्णसंख्या और शिक्षाकी वर्णसंख्या—टीकाकारोंने द्वितीय आह्निकको 'प्रत्याहाराह्निक' संज्ञा दी है। कहा जाता है कि नटराजराज महेश्वरने अपना नृत्य समाप्त करनेके बाद चौदह बार ढोलसे निनाद निकालकर 'अइउण्,' ऋलृक्' इत्यादि चौदह सूत्र पाणिनिको सिखाये। इन चौदह सूत्रोंमें ही स्वर और तैंतीस व्यञ्जन दिये गये हैं। इन स्वरोंको और व्यञ्जनोंको 'मातृकावर्ण' भी कहते हैं। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अनुनासिक इत्यादि जो वर्णोंके गुण हैं उनके कारण अ इ आदि वर्णोंके आ ई आदि अन्य भेद होते हैं। पाणिनिने उच्चारणलाघवकी दृष्टिसे यह शास्त्रसंकेत स्थापित किया है कि सूत्रोंमें मातृकावर्णोंका उच्चारण करनेपर पृथक् उच्चारण न किया जाय तो भी तद्भेद-युक्त वर्ण भी लिये जाते हैं। (देखिये पा. सू. १।१।६९)। तथा एक और संकेत उसने स्थापित किया है कि महेश्वरके चौदह सूत्रोंमेंसे किसी भी सूत्रका कोई भी वर्ण लेकर चौदह सूत्रोंका कोई भी अन्त्य व्यञ्जन उसको जोडनेसे जो शब्द सिद्ध होता है उसको 'संज्ञाशब्द' समझा जाय, और उससे प्रथम तथा मध्य सभी वर्णोंका संग्रह हो जाता है। (देखिये पा. सू. १।१।७१)। इन संज्ञाशब्दोंको 'प्रत्याहार' संज्ञा दी जाती है। इन प्रत्याहारोंमेंसे बयालीस प्रत्याहारोंका पाणिनिने प्रयोग किया है। इन प्रत्याहारोंमें सूत्रोंके अन्त्य व्यञ्जनरूप ण् क् आदि वर्णोंका समावेश नहीं होता है; क्योंकि सूत्रमें क्रमसे वर्णोंका उच्चारण किया गया है और उनमें वे नहीं पाये जाते हैं। तथा भाष्यकारने कहा है कि सूत्रोंमें उनका उच्चारण गौण है और पाणिनितन्त्रके अनुसार उच्चारण होने ही उनका लोप भी होता है। पाणिनिकी शिक्षामें ६३ वर्ण—दुःस्पृष्ट (ळ) लेनेसे ६४ वर्ण—कहे गये हैं। २२ स्वर, २५ व्यञ्जन, ४ अन्तःस्थ वर्ण, ४ ऊष्मवर्ण, ४ यम, १ जिह्वामूलीय, १ उपध्मानीय, १ अनुस्वार और १ विसर्ग ये ६३ वर्ण होते हैं जो सभी स्वतन्त्र समझे जाते हैं। माहेश्वरसूत्रोंमें केवल ९ स्वर और ३३ व्यञ्जन हैं। यदि ये बाईस स्वर मूलभूत नौ स्वरोंके तद्भेद हों तथा उनका अन्तर्भाव उन नौ स्वरोंमें ही किया जाता है तो भी यम, जिह्वामूलीय इत्यादि भी वर्णोंका ३३ व्यञ्जनोंमें ही आरम्भमें अथवा अन्तमें अक्षरसमाम्नायमें पाठ है इस प्रकारकी व्यवस्था समझी जानी चाहिये। यह मत वार्तिककारोंका है और भाष्यकारने उसका तर्कशुद्ध विवेचन किया है।

संवृत 'अ' कार और 'लृ' कार—इस आह्निकमें भाष्यकारने कुछ छोटे छोटे तात्त्विक प्रश्नोंकी चर्चा की है:— 'अ' वर्ण 'संवृत' है अर्थात् मुख संकुचित करके उसका उच्चारण किया जाता है, और दीर्घ आ, प्लुत आ तथा अन्य सभी स्वर 'विवृत' हैं अर्थात् मुख फैलाकर उनका उच्चारण किया जाता है; अतः पाणिनिसूत्रोंमें

'अ' कारको कहे हुए कार्य दीर्घ और प्लुत 'आ' कारको नहीं होंगे इस शंकाकी विस्तृत चर्चा करके 'अ' कार शास्त्रमें और लोकरूढ़िमें सर्वत्र एकही है, पर सुबन्त और तिङन्त शब्द सिद्ध होनेके पूर्व धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, आगम, आदेश इत्यादि स्थानोंमें उसका विवृत उच्चारण होता है और शब्द सिद्ध होनेपर उस विवृत 'अ' कारके स्थानमें संवृत 'अ' कार पाणिनिके 'अ अ इति' (८।४।६८) सूत्रसे होता है यह वार्तिककारोंका विधान भाष्यकारने स्पष्ट किया है। ऋ और ऌ सवर्णस्वर होनेके कारण 'ऌ'कारका 'ऋ'कारमें अन्तर्भाव होता है और इससे 'ऋऌक्' सूत्रमें 'ऌ' कार रखनेकी आवश्यकता नहीं थी यह आक्षेपककी शंकाका अनुवाद पहले करके तदनन्तर ऌकारसे आरंभ होनेवाले ऌतक आदि शब्द वास्तवमें ऌकारादि नहीं हैं तो 'ऋ' कारके दोषयुक्त उच्चारणसे वे ऌकारादि समझे जाते हैं; तथा क्लृप्ति आदि शब्दोंमेंका ऌकार यद्यपि वास्तविक हो तो भी शास्त्रकी दृष्टिसे "कृपो रो लः" (८।२।१८) यह सूत्र पूर्वोक्त सूत्रोंको असिद्ध होनेसे उस सूत्रके कार्यकी दृष्टिसे वहाँ ऋकार ही रहता है; साथ ही साथ ऋतक आदि शब्दोंके ऌतक आदि प्रकारोंसे होनेवाले तुतले (अस्पष्ट, अव्यक्त, अस्फुट) अनुकरणमेंका ऌकार भी वास्तविक ऌकार नहीं है; क्योंकि शुद्ध शब्दोंका अनुकरण भी अशुद्ध न करना चाहिये, अशुद्ध अनुकरण अपशब्द ही होता है यह भाष्यकारने स्पष्टतया बताया है। तात्पर्य यह है कि, लौकिक और वैदिक भाषामें पाये जानेवाले ऌकारोंको मूलके ऋकार ही समझनेसे इष्टसिद्धि होनेके कारण 'ऋऌक्' इस माहेश्वरसूत्रमें ऌकारो-च्चारण व्यर्थ है यह यद्यपि वार्तिककार कह सकते हों तो भी उपर्युक्त रटाटोप करके ऌकार अनावश्यक है यह विधान करना लम्बी लकड़ीपर चढ़कर छोटा फल प्राप्त करनेके समान है (खोदा पहाड़ निकली चुहिया) ऐसा भाष्यकारने विनोदसे कहा है।

वर्णोंका अर्थवत्त्व और पदका अर्थवत्त्व—वर्णोंमेंसे कुछ एकाध भाग जैसे के तैसे दूसरे किसी स्वतन्त्र वर्णके समान दिखायी दे तो उस स्वतन्त्र वर्णके बारेमें जो कार्य नियत किये गये हैं वे उस भागके संबंधमें ही प्रयोगमें लाये जायँ अथवा न लाये जायँ इस प्रश्नकी चर्चा भाष्यकारने की है; तथा यह उत्तर भी दिया है कि 'वर्णका भाग वर्णमें एकरूप हो जानेसे वह पृथक् नहीं निकाला जाता है और इससे उसको वे कार्य नहीं किये जा सकते हैं।' अक्षरसमाम्नायमें एक ही वर्ण 'ह' दो बार उच्चारा गया है और उसका उपयोग भाष्यकारने बताया है; तथा 'ह य व र ट्' सूत्रमें 'य व र' इस क्रमकी अपेक्षा 'र य व' यह क्रम अधिक उचित होता अथवा नहीं इस प्रश्नका भी भाष्यकारने ऊहापोह किया है, और कहा है कि 'वर्णोच्चारण' मेंका क्रम ही योग्य है। प्रत्येक वर्णका भिन्न भिन्न अर्थ रहता है अथवा नहीं इसके बारेमें प्रत्येक वर्णका स्वतंत्र अर्थ रहता है इस मतका प्रतिपादन भाष्यकारने पहले किया है और उसके समर्थनार्थ ये कारण दिये हैं कि कुछ स्थानोंमें वर्णोंका अर्थ दीख पड़ता है, वर्ण बदलनेपर अर्थ भी बदल जाता है, समुदायको अर्थ हो तो जिनका समुदाय बना हो उन प्रत्येक अवयवोंको भी अर्थ

प्राप्त होना न्याय्य है यह लोकन्याय है। तदनंतर प्रत्येक वर्णका स्वतंत्र अर्थ नहीं होता है यह मत भी कहा है और उसके लिए यों प्रमाण दिया है कि 'वर्णोंमेंसे प्रत्येकका स्वतंत्र अर्थ होता तो उन सभी अर्थोंको मिलाकर शब्दका अर्थ होता, पर वैसा नहीं दिखायी देता'। उसके समर्थनार्थ भाष्यकारने यह कारण दिया है कि 'वर्णक्रम बदलनेपर अथवा वर्ण अल्पाधिक किये जानेपर भी अर्थ कायम रहता है ऐसा कभी कभी दीख पड़ता है', और इसके बारेमें अपना स्पष्ट मत भी बता दिया है कि 'विशिष्ट वर्णानुपूर्वीयुक्त वर्णसमूहरूप शब्दको अर्थ प्राप्त होता है'।

शिष्टजनकृत व्याख्यानसे संशयनिराकरण—अइउण् और लण् इन दो सूत्रोंमें ण् वर्ण अन्तमें पाया जाता है; अतः यह सन्देह पैदा होता है कि अण् और इण् इन प्रत्याहारोंके बारेमें पहला ण् लेकर प्रत्याहार समझा जाय अथवा दूसरा ण् लेके प्रत्याहार समझा जाय? अन्य बहुत व्यञ्जन सूत्रोंके अन्तमें रखनेयोग्य होनेपर भी, जब कि 'ण्' वर्ण ही दो बार प्रयुक्त किया गया है तो पाणिनिके सूत्रके अर्थके बारेमें सन्देह निर्माण हो तो 'शिष्टजनकृत व्याख्यानके अनुसार विशिष्ट अर्थ ध्यानमें लेकर संशयका निराकरण किया जाय, अर्थसन्देहके कारण सूत्र कभी भी अप्रमाण न समझा जाय' ('व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्') यह पाणिनिके मनका अभिप्राय व्यक्त होता है, एवं भाष्यकारने कहा है। 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' यह परिभाषारूप वचन महाभाष्यमें कई स्थानोंपर संशयित स्थलमें संशय निराकरणके लिए दिया हुआ पाया जाता है। आह्निकके अन्तमें भाष्यकारने 'अक्षर' शब्दकी व्याख्या दी है। उसके विवेचनके अन्तमें इसने कहा है कि "जिस वाणीमें वेदरूप शब्दब्रह्म है उस वाणीका विषय है 'वर्णज्ञान कर देनेवाला शास्त्र'; इस व्याकरण शास्त्रके लिए महेश्वरने यह अक्षरसमाम्नायरूप उपदेश किया है।" यह कहकर अइउण् इत्यादि चौदह सूत्रोंमें कहे हुए अक्षरसमाम्नायका महत्त्व उसने वर्णित किया है। आह्निकके अन्तमें इस अक्षरसमाम्नायका भाष्यकारका किया हुआ वर्णन बहुत चटकीला और कमालका है और भाष्यकारकी सुन्दर लेखन-शैलीका यह उत्तम नमूना है। भर्तृहरिकी लिखी हुई 'महाभाष्यदीपिका' टीकामें उसमेंसे कुछ शब्दोंको उद्धृत करके विस्तार किया गया है।]

अ इ उण् ॥ १ ॥

अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः ॥ १ ॥

अकारस्य विवृतोपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । आकारग्रहणार्थः ।

अ, इ, उ ॥ १ ॥

(वा. १) 'अ' कारका विवृत उपदेश 'आ' कारके ग्रहणके लिए किया जाय।

यहाँ 'अ' अक्षरका विवृत उपदेश किया जाये (अर्थात् विवृत 'अ' का यहाँ उच्चारण किया जाय)।

उसका क्या उद्देश है?

(उद्देश यह है कि) 'आ-' कारका भी ग्रहण हो। (विवृत) 'अ' कारका

---

१. प्रत्येक वर्णका उच्चारण करते समय मुखमें जिह्वाकी क्रिया चालू रहती है। अर्थात् जिह्वा अपना अग्र, उपाग्र, मध्य और मूल इन भागोंमेंसे किसी एक भागसे कण्ठ, नासिका, मूर्धा, तालु, दन्त, ओष्ठ इत्यादि स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानकी ओर मुड़ती है। जिस वर्णके उच्चारणमें जिस स्थानकी ओर जिह्वा मुड़ती है, वह स्थान उस वर्णका समझा जाता है। भिन्न भिन्न स्थानकी ओर जिह्वाके मुड़नेमें 'सर्वत्र समान प्रमाणमें मुड़ती है' यह कोई नियम नहीं है। यद्यपि एक ही स्थानके अनेक वर्ण हों, तो भी उनमेंसे कुछ वर्णोंके उच्चारणमें जिह्वा मुड़कर उस स्थानको छिपकती है। उससे उस वर्णका स्पष्ट प्रयत्न समझा जाता है। कुछ वर्णोंके उच्चारणमें जीभ मुड़कर उस स्थानको किंचित् अर्थात् थोड़ासा स्पर्श करती है, उससे उस वर्णका ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न समझा जाता है। कुछ वर्णोंके उच्चारणमें जीभ मुड़के उस स्थानके पास जाती है, पर स्पर्श नहीं करती है। उससे उन वर्णोंका संवृत प्रयत्न समझा जाता है और उस प्रयत्नके कारण उन वर्णोंको भी संवृत कहनेकी परिपाटी है। तथा कुछ वर्णोंके उच्चारणमें जीभ सिर्फ उस स्थानकी ओर मुड़ती है, पास न जाकर दूर ही रहती है, उससे उन वर्णोंका विवृत प्रयत्न समझा जाता है, और उस प्रयत्न के कारण उन वर्णोंको भी विवृत कहते हैं। दीर्घ 'आ' कारके उच्चारणमें जिह्वाका मूल भाग कण्ठस्थानकी ओर सिर्फ मुड़ता है, उसके पास नहीं जाता है, इसलिए उसका विवृत प्रयत्न समझा जाता है। पर ह्रस्व अकारके उच्चारणमें जिह्वाका वही मूल भाग कण्ठ-स्थानके पास जाता है, इसलिए उसका संवृत प्रयत्न समझा जाता है। वेदमें तथा लोकमें यच्चयावत् सभी स्थानोंमें संवृत ह्रस्व आकारका साहजिक उच्चारण होता है और वही शुद्ध समझा जाता है। अब दीर्घ 'आ' कारकी तरह ह्रस्व अकारका उच्चारण भी जिह्वाका मूलभाग कण्ठस्थानके पास लिये बिना किया जायगा और उस रीतिसे उच्चारित ह्रस्व अकार विवृत ह्रस्व समझा जायगा, पर वह प्रयत्नसाध्य है। उस प्रकारके विवृत ह्रस्व अकारका यहाँ उपदेश किया जाय। अन्यथा ह्रस्व अ संवृत और दीर्घ आ विवृत ये प्रयत्न भिन्न होनेके कारण वे परस्पर सवर्ण नहीं होंगे। सवर्णसंज्ञा कहनेवाला सूत्र (१।१।९) देखा जाय।

अकारः सवर्णग्रहणेनाकारमपि यथा गृह्णीयात्। किं च कारणं न गृह्णीयात्। विवारभेदात्। किमुच्यते विवारभेदादिति न पुनः कालभेदादपि। यथैव ह्ययं विवारभिन्न एवं कालभिन्नोऽपि। सत्यमेतत्। वक्ष्यति तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। [१. १. ९] इत्यत्रास्यग्रहणस्य प्रयोजनमास्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञका भवन्तीति। बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः। तेन स्यादेव कालभिन्नस्य

यहाँ उच्चारण करनेसे 'सवर्णका ग्रहण होता है,' (१।१।९) इस नियमके अनुसार यह 'अ' कार (अपने स्वयंके 'अ' उच्चारणसे) 'आ' कारका भी ग्रहण कर सकेगा।

पर (विवृत उच्चारण न किया जानेसे) वह ('अ'कार) क्यों ('आ'-कारका) ग्रहण न कर सकेगा ?

क्योंकि 'आ' कारका 'विवार' यह आभ्यन्तर प्रयत्न भिन्न होता है। ('अ' कारका प्रयत्न संवार होता है और 'आ' कारका विवार होता है।)

('आ' वर्णका आभ्यन्तर प्रयत्न जो) विवार (वह 'अ' वर्णके 'संवार' प्रयत्नसे) भिन्न होता है इतना ही कारण क्यों दिखाया जाता है ? ('आ' के उच्चारणके लिए और 'अ' के उच्चारणके लिए अल्पाधिक काल लगता है; तब) 'काल भिन्न होता है' यह कारण क्यों नहीं बताया गया है ? जिस प्रकार 'अ' स्वर विवार प्रयत्नके कारण 'अ' कारसे भिन्न होता है, उसी प्रकार कालभेदके कारण भी भिन्न होता है।

(आपका) यह कहना ठीक है। "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" (१।१।९) इस सूत्रमें 'आस्य' शब्दका उच्चारण करनेका उद्देश (वार्तिककार) यों बतलानेवाले हैं कि—'यहाँ आस्य शब्दका उच्चारण करनेका उद्देश यह है कि 'आस्य'में (अर्थात् 'मुख'में) जिनका देश और प्रयत्न एक हैं वे परस्पर सवर्ण होते हैं यह अर्थ किया जाय'। काल आस्यके बाहरका है। तब यद्यपि दोनोंका काल भिन्न हो, तो भी आस्यमेंका देश और काल एक होनेके कारण, जिसका काल भिन्न हो वह भी सवर्ण समझा जायगा; पर विवार आस्यमेंका ही प्रयत्न होनेके कारण वह यदि

---

२. इससे वे परस्परसवर्ण नहीं समझे जाते हैं।

३. ह्रस्व वर्णके उच्चारणके लिए जितना समय लगता है, उसकी अपेक्षा दीर्घ वर्णोंका उच्चारण करनेके लिए दुगुना समय लगता है।

४. अ और आ परस्परसवर्ण न समझनेका कारण।

५. वर्णके उच्चारणमें उस वर्णके स्थानकी ओर जीभ मुड़ती है और उसके लिए कुछ तो प्रयत्न होता ही है। उसमें जिस प्रयत्नसे जीभ मुड़नेपर भी दूर रहती है, उस प्रयत्नको विवृत अथवा विवार कहते हैं। तथा जिस प्रयत्नसे जीभ उस स्थानके पास जाती है उस प्रयत्नको संवृत अथवा संवार कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह प्रयत्न मुँहमें ही होनेवाला है।

ग्रहणं न पुनर्विवाराभिन्नस्य ॥ किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत आहोस्वित्संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते। विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते। कथं ज्ञायते। यदयम् अ अ [८. ४.६८] इत्यकारस्य विवृतस्य संवृततापत्त्यापत्तिं शास्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। अतिखट्वः अतिमाल इत्यत्रान्तर्यतो

भिन्न हो तो वह सवर्ण नहीं समझा जायगा और वह नहीं लिया जायगा।

ठीक, पर ऊपरके वार्तिकमें क्या विधान समझा जाय? (१) विवृत 'अ' कारका 'अइउण्' सूत्रमें जो उपदेश किया है उसका प्रयोजन प्रस्तुत वार्तिकसे बताया गया है (अर्थात् 'आ' कारका ग्रहण होनेके लिए 'अ' कारका उपदेश किया है यह वार्तिकका अर्थ है)? अथवा (२) 'अइउण्' सूत्रमें नित्यका जो संवृत 'अ' कार है उसीका वहाँ उच्चारण किया जाय यह मनमें रखकर उसीका उस सूत्रमें विवृत उच्चारण किया जाय ऐसा बताया है[६] (अर्थात् 'अ' कारका ग्रहण होनेके लिए 'अ' कारका यहाँ विवृत उपदेश किया जाय ऐसा वार्तिकका अर्थ है)?

विवृत 'अ' कारका उपदेश किया गया है और (सभी) 'अ' कारके ग्रहणका प्रयोजन वहाँ बताया गया है। (विवृतका उपदेश किया जाय ऐसा नहीं बताया गया है)।

यह कैसे समझा जाता है?

जब कि "अ अ इति" (८।४।६८) सूत्रमें विवृत 'अ' कारको (शास्त्रके सभी कार्य हो जानेपर) संवृत होता है ऐसा (आचार्य पाणिनि) कहता है (तो 'अ' कारका ही प्रधान उपदेश किया गया है यह समझा जाता है)।[७]

(विवृत 'अ' कारको संवृत 'अ' कार होता है) यह (सूत्र उपर्युक्त विधानका) ज्ञापक नहीं होता है। क्योंकि यह सूत्र बताना व्यर्थ नहीं होता है; उसका अन्य उपयोग है।

---

६. मूल वार्तिकमें 'अकारस्य विवृतोपदेशः' शब्दोंके आगे 'कर्तव्यः' शब्द नहीं है। इससे यह सन्देह निर्माण होता है। अब ह्रस्व अकारका विवार दोष समझा जाता है। वेदमें और लोकमें सभी स्थानोंमें ह्रस्व अकार निर्दुष्ट अर्थात् संवृत (संवार प्रयत्नसे उच्चारित) पाया जाता है। तब यों लगता है कि महेश्वरने भी निर्दुष्ट ही उच्चारण किया हो। कदाचित् यों भी लगता है कि, विवृत अकार यद्यपि दुष्ट हो, तो भी उसके द्वारा दीर्घ अकारका ग्रहण होनेके लिए उसीका उच्चारण किया गया हो।

७. महेश्वरजी मूल उपदेश करते हुए ही यदि अकारका उच्चारण करते, तो विवृत अकार अस्तित्वमें ही न होनेके कारण उसको पाणिनिने संवृत अकार आदेशके रूपमें न बताया होता।

विवृतस्य विवृतः प्राप्नोति संवृतः स्यादित्येवमर्थं प्रत्यापत्तिः। नैतदस्ति। नैव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोऽस्ति। कस्तर्हि। संवृतः। योऽस्ति स भविष्यति। तदेतत्प्रत्यापत्तिवचनं ज्ञापकमेव भविष्यति विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत इति। कः पुनरत्र विशेषो विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायेत संवृतस्योपदिश्यमानस्य वा विवृतोपदेशश्चोद्येतेति। न खलु कश्चिद्विशेषः।

यह क्यों ?

'अतिखट्वः', 'अतिमालः' इन उदाहरणोंमें खट्वा और माला इनमेंका 'आ' कार समीप होनेसे विवृत ही 'अ' कार होगा, वह संवृत होनेके लिए 'अ अ इति' सूत्रकी आवश्यकता है।

यह कहना (शक्य) नहीं है। वेदमें और लोकमें कहीं भी सिद्ध प्रयोगमें विवृत 'अ' कार नहीं पाया जाता है।

तो फिर किस प्रकारका 'अ' कार पाया जाता है ?

'संवृत' पाया जाता है। (तब वास्तवमें जहाँ जहाँ) जो ('अ' आदेश) होता है (वहाँ वहाँ) वह (संवृत ही) होगा; (विवृतका संवृत होता है यह कहनेकी आवश्यकता नहीं)। अतः 'संवृत होता है' इस विधानमें यह ज्ञापित होगा कि विवृत 'अ' कारका ही 'अइउण्' सूत्रमें उच्चारण किया गया है और प्रस्तुत वार्तिकमें उसीका प्रयोजन बताया गया है।

फिर भी, (१) यदि कहा जाय कि 'अइउण्' सूत्रमें विवृत 'अ' कारका उपदेश किया गया है और 'आ' कारका भी संग्रह उसका प्रयोजन है, अथवा (२) यदि कहा जाय कि 'अइउण्' सूत्रमें जो संवृत 'अ' कारका उपदेश किया गया है उसके बदले विवृत उच्चारण किया जाय, तो इन दो विधानोंमें क्या भेद है ?

वास्तवमें देखा जाय तो इन दो विधानोंमें विचार करनेयोग्य कुछ भी भेद नहीं दिखायी देता है। संवृत उच्चारणका विवृत उच्चारण किया जाय यह आपका

---

८ यहाँ 'खट्वा' और 'माला' शब्दोंको 'गोस्त्रियो॰' (१।२।४८) सूत्रमें ह्रस्व हुआ है। विवृत अकारका यद्यपि उपदेश नहीं है तो भी ह्रस्व होते हुए 'स्थानेऽन्तरतमः' (१।१।५०) परिभाषासे विवृत ह्रस्व अकार आदेश होगा ऐसा अभिप्राय है।

९. कारण कि जो वर्ण विवृत स्वरमें भाषामें ही नहीं है, वह 'स्थानेऽन्तरतम' (१।१।५०) परिभाषासे भी नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त विवृत अकारको ह्रस्व संज्ञा भी प्राप्त नहीं होगी। क्योंकि 'अइउण्' में संवृत अकारका उच्चारण किया जानेके कारण और उससे विवृत अकारका ग्रहण न होनेसे विवृत अकारको अण् नहीं कहा जा सकता है। अतः उसको 'ऊकालोऽज्॰' (१।२।२७) सूत्रसे ह्रस्व संज्ञा नहीं होगी।

आहोपुरुषिकामात्रं तु भवानाह संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यत इति। वयं तु ब्रूमो विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत इति ॥

तस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः सवर्णग्रहणार्थः ॥ २ ॥

तस्यैतस्याक्षरसमाम्नायिकस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः कर्तव्यः। क्वान्यत्र। धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातस्थस्य। किं प्रयोजनम्। सवर्णग्रहणार्थः। आक्षरसमाम्नायिकेनास्य ग्रहणं यथा स्यात्। किं च कारणं न स्यात्। विवारभेदादेव॥ आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्याक्षरसमाम्नायिकेन धात्वादिस्थस्य

विधान केवल अभिमानका दिग्दर्शक है। हम तो वार्तिककारोंका अभिप्राय यही समझते हैं कि, विवृत 'अ' कारका ही उपदेश किया गया है और 'आ' कारका भी संग्रह हो यही इसका प्रयोजन है ऐसा कहा गया है"[10]।

(वा. २) ('अइउण्' सूत्रमें किये हुए) 'अ' कारके विवृत उपदेशके अतिरिक्त अन्य स्थानके 'अ' कारका भी विवृत उपदेश सवर्णग्रहणके लिए किया जाय।

('अइउण्' सूत्रमें) जिस 'अ' वर्णका विवृत उच्चारण किया गया है, उसके अतिरिक्त अन्य स्थानके 'अ' वर्णका जो (पाणिनिने) उपदेश किया है वह भी विवृत ही किया जाय।

'अन्य स्थान'का अर्थ क्या है?

धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात इनमें।

(यह करनेका) उपयोग क्या है?

सवर्णग्रहणके लिए; अर्थात् ('अइउण्' इत्यादि)[11] अक्षरसमुदायके 'अ' वर्णसे (धातु, प्रातिपदिक इत्यादिके) 'अ' कारका ग्रहण हो जायें इसलिये।

पर वह ग्रहण क्यों न होगा?

कारण कि 'विवार' इस आभ्यन्तर प्रयत्नसे भेद उत्पन्न होतो है।

पर आचार्य पाणिनिके लेखनसे विदित होता है कि अक्षरसमूहके 'अ' वर्णसे

---

१०. 'वार्तिककारोंने महेश्वरकी भूल सुधार दी है' ऐसा समझनेकी अपेक्षा 'महेश्वरके उच्चारित विवृत अकारका वार्तिककारोंने उपयोग दिखाया' यह समझना अधिक उचित दिखायी देता है।

११. 'अणुदित्सवर्णस्य०' (१।१।६९) सूत्रसे।

१२. तब 'तुल्यास्य०' (१।१।९) सूत्रसे अइउण् सूत्रमेंका विवृत अकार तथा धातु इत्यादिमेंका संवृत अकार परस्पर सवर्ण नहीं होंगे।

ग्रहणमिति यदयमकः सवर्णे दीर्घः [६. १. १०१] इति प्रत्याहारेऽकारो ग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। न हि द्वयोराक्षरसमाम्नायिकयोर्युगपत्समवस्थानमस्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। यस्याक्षरसमाम्नायिकेन ग्रहणमस्ति तदर्थमेतत्स्यात्। खट्वाढकम् मालाढकमिति। सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति। तस्माद्विवृतोपदेशः कर्तव्यः॥ क एष यत्नश्चोद्यते विवृतोपदेशो

धातु, प्रातिपदिक इत्यादिके 'अ' वर्णका ग्रहण होता है, क्योंकि वह (आचार्य पाणिनि) "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) सूत्रमें प्रत्याहारके रूपमें 'अक्' शब्दका उच्चारण करता है। (यदि धातु, प्रातिपदिक इत्यादिका 'अ' वर्ण संवृत होनेके कारण उसका ग्रहण न होता हो, तो 'अक्' शब्द व्यर्थ आया होता; 'इक्' शब्दका ही उच्चारण करना आवश्यक होता।)

यह ज्ञापक कैसे शक्य होता है? (अर्थात् ऊपर जो आचार्य पाणिनिके लेखनका तात्पर्य विदित होता है ऐसा बताया है वह कैसे विदित होता है?)

कारण कि अक्षरसमूहमें दो 'अ' वर्ण एक साथ आये हुए कहीं नहीं पाये जाते हैं। (इतना ही नहीं, तो अक्षरसमूहमें बताया हुआ विवृत 'अ' वर्ण एक भी नहीं पाया जाता है।)

यह ज्ञापक नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि 'अक्' प्रत्याहार देनेका प्रयोजन अन्यत्र पाया जाता है।

वह प्रयोजन क्या है?

अक्षरसमूहमें 'अ' वर्णसे जिसका ग्रहण किया जाता है उस वर्णके लिए ["अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) सूत्रका] अक् शब्द उपयुक्त होता है; जैसे,[१५] 'खट्वाढकम्', 'मालाढकम्' प्रयोग देखिये। जब उपयोग दीख पड़ता है तब ज्ञापक नहीं होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि धातु, प्रत्यय इत्यादिमें जो 'अ' कार है उसका विवृत उच्चारण किया जाय।

'विवृत उच्चारण करना चाहिये' यह जो विधान वार्तिककारोंने जान-बूझकर किया है, उसका कारण क्या है? (धातु, प्रातिपदिक इत्यादि शब्दोंके उच्चारणमें

---

१३. क्योंकि धातु इत्यादिमेंका सभी स्थानोंका ह्रस्व अकार संवृत होनेके कारण उदाहरणमें वहीं भी दो ह्रस्व अकार विवृत नहीं पाये जायेंगे। अकार विवृत केवल अक्षरसमाम्नायमें ही है।

१४. विवृत ह्रस्व अकारके द्वारा विवृत दीर्घ अकार लिया जाता है।

१५. 'खट्वा आढकम्' तथा 'माला आढकम्' में दो दीर्घ आकारोंके स्थानमें 'अक सवर्णे दीर्घे' (६।१।१०१) सूत्रसे दीर्घ आकार एकादेश हुआ है।

नाम। विवृतो वोपदिश्येत संवृतो वा कोन्वत्र विशेषः। स एष सर्व एवमर्थो यत्नो यान्येतानि प्रातिपदिकान्यग्रहणानि तेषामेतेनाभ्युपायेनोपदेशश्चोद्यते। तद् गुरु भवति। तस्माद्वक्तव्यं धात्वादिस्थश्च विवृत इति ॥

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थः ॥ ३ ॥

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थो विवृतोपदेशः कर्तव्यः। दीर्घप्लुतौ संवृतौ मा भूतामिति। वृक्षाभ्याम् देवदत्ता इति। नैव लोके न च वेदे दीर्घ-प्लुतौ संवृतौ स्तः। कौ तर्हि। विवृतौ। यौ स्तस्तौ भविष्यतः ॥

ही) संवृत उच्चारण किया गया, अथवा विवृत उच्चारण किया गया, तो उसमें (प्रयासकी दृष्टिसे) कुछ तारतम्य नहीं है। (तब उच्चारणमें ही वद् इत्यादि धातुओं और गर्ग इत्यादि प्रातिपदिकोंमें विवृत 'अ' कारका ही उच्चारण करना शक्य होगा और इष्ट कार्य सिद्ध होगा।)

(इष्ट कार्य सिद्ध नहीं होगा।) वार्तिककारोंने विशेष हेतुसे जो कहा है उसका कारण यह है कि, जिन प्रातिपदिकोंका कहीं भी उच्चारण नहीं किया गया है उनका ऊपर दिये हुए इस उपायसे विवृत उपदेश होगा।

('सभी प्रातिपदिकोंका प्रत्यक्ष उच्चारण करके उपदेश करना') यह कार्य प्रदीर्घ प्रयासका होता है। इसीलिए 'धात्वादिस्थश्च विवृतः' (धातु, प्रातिपदिक इत्यादि शब्दोंमें विवृत 'अ' वर्णका उच्चारण किया जाय) यह कहना चाहिये।

(वा. ३) और जहाँ दीर्घ और प्लुत कहे गये हैं वहाँ संवृतकी निवृत्तिके लिए (विवृत उपदेश करना चाहिये)।

इसके अतिरिक्त जहाँ 'अ' कारके दीर्घ और प्लुत कहे गये हैं (वहाँ 'अ'-कार संवृत होनेके कारण दीर्घ और प्लुत संवृत होंगे), वे संवृत न हों इसलिए भी 'अ' कारका विवृत उपदेश करना चाहिये, जैसे[१६], 'वृक्षाभ्याम्', 'देवदत्त ३' में (दीर्घ और प्लुत संवृत न हों इसलिए भी सर्वत्र आकारका विवृत उपदेश समझना चाहिये)।

(पर दीर्घ और प्लुत संवृत होंगे कैसे ?) लोकमें भी दीर्घ और प्लुत संवृत नहीं दीख पड़ते, और वेदमें भी नहीं दिखायी देते। (तब यह सिद्ध होता है कि वे वैसे नहीं है ही।)

तो फिर कैसे दीख पड़ते हैं ?

विवृत। और विवृत दीख पड़नेके कारण दीर्घ और प्लुत विवृत ही होंगे।

---

१६. 'वृक्ष' शब्दमेंका ह्रस्व अकार यदि मूलमें संवृत उच्चारित हो, तो उसके स्थानमें 'सुपि च' (७।३।१०२) सूत्रसे होनेवाला दीर्घ आकार 'स्थानेन्तरतमः' (१।१।५०) परिभाषासे स्थानीके समान संवृत होगा। वैसेही 'देवदत्त' शब्दके अन्त्य संवृत ह्रस्व अकारको 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) सूत्रसे होनेवाला प्लुत आदेश स्थानीके समान संवृत होगा।

स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम् ।

संवृतः स्थानी संवृतौ दीर्घप्लुतौ प्रकल्पयेत् । अनुस्वारो यथा यणम् । तद्यथा । सय्यँन्ता सँव्वत्सरः यँल्लोकम् तँल्लोकमिति । अनुस्वारः स्थानी यणमनुनासिकं प्रकल्पयति ॥ विषम उपन्यासः । युक्त यत्सतस्तत्र प्रक्लृप्तिर्भवति सन्ति हि यणः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च । दीर्घप्लुतौ पुनर्नैव लोके न च वेदे संवृतौ स्तः । कौ तर्हि । विवृतौ । यौ स्तस्तौ भविष्यतः ॥ एवमपि कुत एतत्तुल्यस्थानौ प्रयत्नभिन्नौ भविष्यतो न पुनस्तुल्यप्रयत्नौ स्थानभिन्नौ स्यातामीकार

(वा)—(संवृत) स्थानी ('अ' कार) (संवृत दीर्घ और प्लुत) इन दोनोंकी कल्पना करेगा, जिस प्रकार अनुस्वार (स्थानी) (अनुनासिक) यणकी (कल्पना करता है) ।

पर (जिसके स्थानमें विवृत अथवा संवृत आदेश होनेवाले है) वह स्थानी 'अ' वर्ण सवृत होनेके कारण स्वसदृश सवृत दीर्घ और प्लुत आदेशकी ही कल्पना करेगा । 'अनुस्वारो यथा यणम्', जैसे, सय्यँन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकम्, तँल्लोकम् इत्यादि स्थानोंपर अनुस्वार अपने स्थानमें स्वसदृश सानुनासिक यणकी ही कल्पना करता है[17] ।

यह प्रतिपादन ठीक नहीं है । कारण कि, जो वर्ण अस्तित्वमें है वह स्थानीके द्वारा अपने स्थानपर लाया जाता है यह युक्त है । 'यण्' सानुनासिक होते है, अनुनासिकरहित भी होते हैं, पर दीर्घ और प्लुत ('अ' कार) वेदमें अथवा लोकमें कहीं भी सवृत नहीं है ।

फिर कैसे है ?

विवृत । अतः वास्तवमें जब आदेशके रूपमें होंगे, तब वे (विवृत) ही होंगे ।

ठीक । पर किसने बताया है कि, तुल्य स्थानके और तुल्य प्रयत्नके दीर्घ और प्लुत नहीं पाये जाते है, और इसीलिए तुल्य स्थानके और भिन्न प्रयत्नके आदेश किये जायें ? तुल्य प्रयत्नके किन्तु भिन्न स्थानके दीर्घ और प्लुत ई अथवा ऊ क्यों न किये[18] जायँ ?

---

१७. 'सम् यन्ता' ये मूल पद है । यहाँ 'मोऽनुस्वार' (८।३।२३) सूत्रसे मकारका अनुस्वार होनेके बाद उस अनुस्वारको 'वा पदान्तस्य' (८।४।५९) सूत्रसे परसवर्ण अर्थात् अगले यकार, वकार और लकारका सवर्ण यकार इत्यादि जो आदेश होता है वह स्थानी जैसा सानुनासिक होता है ।

१८. 'वृक्षाभ्याम्' में कण्ठस्थानका तथा संवृत प्रयत्नका ह्रस्व अकार है । उसको कण्ठस्थानका विवृत दीर्घ आकार आदेश होता है । प्रयत्नमे आकार यद्यपि स्थानी जैसा अर्थात्

ऊकारो वेति। वक्ष्यति स्थानेऽन्तरतमः [१.१.५०] इत्यत्र स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानेग्रहणस्य प्रयोजनं यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात्॥

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनण्त्वात् ॥ ४ ॥

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति। अस्य च्वौ [७.४.३२]

इसका कारण आगे यों बताया जायगा कि—"स्थानेऽन्तरतमः" (१।१।५०) सूत्रमें पिछले सूत्रसे 'स्थाने' पद आनेपर भी फिरसे 'स्थाने' पद रखा गया है। इसका प्रयोजन यह विधान है कि, 'जिस स्थानपर अनेकविध वर्णोंके संबंधोंका तारतम्य करना पड़ता है, उस स्थानपर स्थानकी समीपता अन्य प्रकारकी समीपताकी अपेक्षा अधिक प्रबल समझी जाती है।'

(वा. ४) तथापि अनुवृत्तिसे जहाँ निर्देश किया गया है, वहाँ सवर्णोंका ग्रहण शक्य न होगा, क्योंकि वे अण् नहीं हैं।

(यद्यपि सर्वत्र 'अ' कारका विवृत उच्चारण किया जाय, तो भी उदाहरण पूर्ण करनेके लिए 'अ' कार आदि वर्णोंके दर्शकके नाते जहाँ 'अ' कार आदि वर्णोंका उच्चारण किया गया है वहाँ[19] उस वर्णके सवर्णोंका (दीर्घ और प्लुतका) ग्रहण नहीं होगा; जैसे, "अस्य च्वौ" (७।४।३२), "यस्येति च" (६।४।१४८)।

संवृत आकार जैसा नहीं है, तो भी स्थानसे समान है। पर वैसाही दीर्घ ईकार उस संवृत आकारको क्यों न किया जाय? कारण कि दीर्घ ईकार तालुस्थानका होनेके कारण स्थानसे यद्यपि अकार जैसा नहीं है, तो भी उस ईकारके संवृत प्रयत्न होनेके कारण प्रयत्नसे स्थानी जैसा है। केवल स्थानमें समानता देखकर दीर्घ आकार होता है, तथा केवल प्रयत्नसे सदृश देखकर दीर्घ ईकार भी होगा। उसी प्रकार दीर्घ ऊकार भी होगा।

१९. अनुवृत्ति=अनुकरण। उदाहरणमेंके अकारका जो 'अस्य च्वौ' इत्यादि सूत्रमें 'अस्य' का अनुकरण किया गया है उसमें।

२०. इस सूत्रमें 'अस्य' यह ह्रस्व अकार उच्चारित हुआ है। उससे दीर्घ आकारका ग्रहण होनेके कारण 'खट्वीकरोति' उदाहरणमें दीर्घ आकारको भी ईकार आदेश होता है। उसी प्रकार 'यस्येति च' सूत्रमें भी इ और अ ये दो वर्ण यद्यपि ह्रस्व उच्चारित हैं, तो भी उनके द्वारा दीर्घोंका भी ग्रहण होता है। अतएव 'गाङ्गेय नादेयः' उदाहरणमें 'गंगा नदी' शब्दके आगे ढक् (एय) प्रत्यय लगाया जानेपर, उस शब्दके अन्त्य आकार तथा ईकारका उस सूत्रसे लोप होता है।

यस्येति च [६ ४.१४८]। किं कारणम्। अनण्त्वात्। न ह्येतेऽणो ये ऽनुवृत्तौ। के तर्हि। येऽक्षरसमाम्नाय उपदिश्यन्ते ॥

एकत्वादकारस्य सिद्धम् ॥ ५ ॥

एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये यश्चानुवृत्तौ यश्च धात्वादिस्थः ॥

अनुबन्धसंकरस्तु ॥ ६ ॥

अनुबन्धसंकरस्तु प्राप्नोति। कर्मण्यण् [३ २. १] आतोऽनुपसर्गे कः [३ २ ३] इति केऽपि णित्कृतं प्राप्नोति ॥

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिः ॥ ७ ॥

(इस सूत्रमें ग्रहण न होनेका) क्या कारण है ?

कारण यह है कि जिस 'अ' वर्णका ग्रहण करना है वह 'अण्' नहीं है[21]। 'अस्य च्वौ' आदि सूत्रोंमें जिन 'अ'कार आदि वर्णोंका रूपसिद्धिके लिए उच्चारण किया है वे 'अण्' नहीं है।

तो फिर अण् कौनसे है ?

जो अक्षरसमाम्नायमें कहे ह (वे ही अण् है)।

(वा ५) 'अ' कार एक (ही) होनेके कारण इष्ट कार्य सिद्ध होता है।

(परन्तु कहीं भी उच्चारित हो, 'अ' वर्ण सर्वत्र एक ही होनेके कारण इष्टसिद्धि हो जाती है।) अक्षरसमाम्नायमें, अनुवृत्ति अर्थात् अनुकरणमें, अथवा धातु प्रातिपदिक इत्यादिमें 'अ' वर्ण सर्वत्र एक ही है।

(वा ६) परन्तु अनुबन्धों (अर्थात् इत्सञ्ज्ञक वर्ण) का संकर होगा।

पर ('अ'कार सर्वत्र एक ही है यह कहा जाय तो) अनुबन्धों अर्थात् इत्सञ्ज्ञक वर्णोंका सकर होगा, जैसे, 'कर्मण्यण्' (३।२।१), 'आतोऽनुपसर्गे क.' (३।२।३) ये दो सूत्र लीजिये। यदि 'अण्' और 'क' इन दो प्रत्ययोंका 'अ'कार एक ही हो तो इत्सञ्ज्ञक णकारका कार्य 'क' प्रत्ययमें भी होगा।

(वा ७) एकाच् और अनेकाच् शब्दोंका जहाँ उच्चारण किया गया है, वहा उचित प्रबन्ध न होगा।

---

२१ तथा 'अणुदित्०' (१।१।६९) सूत्रसे कहा गया है कि 'अण्से ही सवर्णका ग्रहण होता है'।

२२ 'गोद' क प्रत्ययोंका उदाहरण है। यहाँ गायको देनेवाली इस स्त्रीलिंगकी विवक्षा की जाय तो 'क' प्रत्यय 'अण्' है अर्थात् णकारेत्सञ्ज्ञक अकार है ऐसा समझकर 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) सूत्रसे ङीप् प्रत्यय होने लगेगा।

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिर्भविष्यति । तत्र को दोषः । किरिणा गिरिणेत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति । इह च घटेन तरति घटिक इति द्व्यज्लक्षणष्ठन्न प्राप्नोति ॥

द्रव्यवच्चोपचाराः ॥ ८ ॥

द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्ति । तद्यथा । द्रव्येषु नैकेन घटेनानेको युगपत्कार्यं करोति । एवमिममकारं नानेको युगपदुच्चारयेत् ॥

विषयेण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥ ९ ॥

यदयं विषये विषये नानालिङ्गमकारं करोति कर्मण्यण् आतोऽनुपसर्गे क इति तेन ज्ञायते नानुबन्धसंकरोऽस्तीति । यदि हि स्यान्नानालिङ्गकरणमनर्थकं

एकाच् और अनेकाच् शब्दोंका जहाँ उच्चारण किया गया है, वहाँ जैसा प्रबन्ध होना चाहिये वैसा न होगा।

ऐसा करनेसे कहाँ कहाँ दोष आयेंगे ?

'किरिणा', 'गिरिणा' रूपोंमें (कि और रि तथा गि और रि इन दोनों अक्षरोंका इकार एक ही होनेके कारण यह) एकाच् (एकाक्षरयुक्त) शब्द है ऐसा समझकर ['सावेकाचः' (६।१।१६८) सूत्रसे] अन्तोदात्त स्वर होने लगेगा; उसी प्रकार 'घटसे आजीविका चलाता है' इस अर्थमें 'घटिक' शब्द सिद्ध करना हो तो 'घट' शब्दके आगे दो स्वर जहाँ हैं ऐसे (द्व्यक्षरयुक्त) शब्दके आगे कहा हुआ (४।४।७) 'ठन्' प्रत्यय न होगा।

(वा. ८) और द्रव्यके समान उपचार (प्राप्त होंगे)।

तथा द्रव्य अर्थात् लौकिक पदार्थके बारेमें जो उपचार पाये जाते हैं वैसे उपचार प्राप्त होंगे। जैसे, एक ही घट यदि हो तो अनेक व्यक्ति उस घटसे एक साथ पानी कदापि नहीं ला सकते हैं, वैसे ही 'अ' वर्ण एक ही होनेके कारण उसका उच्चारण अनेक लोग एक साथ नहीं कर सकेंगे।

(वा. ९) परन्तु भिन्न भिन्न स्थलोंमें भिन्न भिन्न चिह्न लगानेसे (इष्ट कार्य) सिद्ध होता है।

जब कि (आचार्य पाणिनि) "कर्मण्यण्" (३।२।१), "आतोऽनुपसर्गे कः" (३।२।३) इत्यादि भिन्न भिन्न स्थलोंमें भिन्न भिन्न चिह्नोंसे युक्त 'अ' कारका उच्चारण करता है, तो ज्ञात होता है कि अनुबन्धोंका सङ्कर नहीं होता है। यदि (अनुबन्धोंका सङ्कर) होता, तो भिन्न भिन्न स्थलोंमें भिन्न भिन्न चिह्न लगाना निरर्थक होता; तथा (आचार्य पाणिनिने क्, ण्, ञ् इत्यादि) सब इत्संज्ञक वर्ण एक साथ ही जोड़कर 'अ' प्रत्ययका उच्चारण किया होता।[२३]

---

२३. क्योंकि भिन्न भिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न इत्संज्ञक वर्ण अकारको लगाये जायँ, तो भी अकार सर्वत्र एक ही होनेके कारण सभी स्थानोंमें सभी इत्संज्ञकोंके कार्य होंगे ही।

स्यात्। एकमेवायं सर्वगुणमुच्चारयेत्॥ नैतदस्ति ज्ञापकम्। इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत्स्यात्। न ह्ययमनुबन्धैः शल्यकवच्छक्य उपचेतुम्। इत्संज्ञायां हि दोषः स्यात्। आद्यस्य हि द्वयोरित्संज्ञा स्यात्। कयोः। आद्यन्तयोः॥ एवं तर्हि विपर्येण तु पुनर्लिङ्गकरणात्सिद्धम्। यदयं विषये विषये पुनर्लिङ्गमकारं करोति प्राग्दीव्यतोऽण् [४. १. ८३] शिवादिभ्योऽण् [११२] इति तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोऽस्तीति। यदि हि स्यात्पुनर्लिङ्गकरणमनर्थकं स्यात्॥ अथवा पुनरस्तु विपर्येण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धमित्येव। ननु चोक्तमित्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत्स्यादिति। नैष दोषः। लोकत एतत्सिद्धम्। तद्यथा। लोके कश्चिद्देवदत्तमाह।

यह ज्ञापक नहीं दिया जा सकता है। (भिन्न भिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न अनुबन्ध लगानेका कारण यह है कि) उनकी इत्संज्ञा हो और उनका लोप हो। जिस प्रकार शल्यकके शरीरपर अनेक काटे रहते है, उसी प्रकार एक ही स्थानमें 'अ' कार आदि वर्णोंको सभी अनुबन्ध एक साथ लगाना संभवनीय नहीं है, क्योंकि इत्संज्ञा होनेमें बाधा निर्माण होगी। बहुत कुछ हो तो दो वर्णोंको एक साथ इत्संज्ञा हो सकती है।

किन दो वर्णोंको?

आदि और अन्तके (वर्णोंको)।[२४]

ठीक, तो 'विपर्येण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम्' वार्तिकके स्थानमें 'विपर्येण तु पुनर्लिङ्गकरणात्सिद्धम्' यह पाठ समझें। जबकि (आचार्य पाणिनि) "प्राग्दीव्यतोऽण्" (४।१।८३), "शिवादिभ्योऽण्" (४।१।११२) इत्यादि सूत्रोंमें भिन्न भिन्न स्थानोंमें बार बार वही चिह्न लगाकर 'अ' कारका उच्चारण करता है, तो ज्ञात होता है कि अनुबन्धोंका सङ्कर नहीं होता है। यदि अनुबन्धोंका सङ्कर होता तो बार बार एक ही अनुबन्ध लगाना निरर्थक हो जाता। (एक ही स्थानमें णकार अनुबन्ध लगाकर इष्ट कार्य सिद्ध हो जाता।)

अथवा, 'विपर्येण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम्' यही वार्तिक रहने दें।

पर वही रहे तो क्या ऊपर दोष नहीं बताया कि इत्संज्ञा होनेके लिए वैसा किया है?

यह दोष नहीं आता है[२५]। लोकव्यवहारसे ही यह बात सिद्ध होती है। जैसे,

---

२४. 'आदिर्ञिटुडवः' (१।३।५) इत्यादि सूत्रोंसे आदिकी इत्संज्ञा कही है। तथा 'हलन्त्यम्' (१।३।३) सूत्रसे अन्त्यवर्णकी इत्संज्ञा कही है। तब दोसे अधिक इत्संज्ञक वर्ण लगाना हो तो मध्य वर्णोंकी इत्संज्ञा नहीं होगी।

२५. 'विपर्येण तु०' वार्तिकका तात्पर्य—'भिन्न भिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न इत्संज्ञक

इह मुण्डो भव। इह जटी भव। इह शिखी भवेति। यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपतिष्ठते। एवमयमकारो यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपस्थास्यते॥
यदप्युच्यत एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिरिति।

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तिसंख्यानात् ॥ १० ॥

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तेः संख्यानादनेकाच्त्वं भविष्यति। तद्यथा। सप्तदश सामिधेन्यो भवन्तीति त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामित्यावृत्तितः सप्तदशत्वं भवति। एवमिहाप्यावृत्तितोऽनेकाच्त्वं भविष्यति। भवेदावृत्तितः कार्यं परिहृतम्।

लोगोंमें एक ही 'देवदत्त' व्यक्तिको यदि कोई भिन्न भिन्न स्थानपर कहे कि 'यहाँ मुण्ड बनो', 'यहाँ जटावाला हो', 'यहाँ शिखी हो', तो वह भी जिस स्थानपर जैसा होनेके लिए कहा जाता है वैसा ही वह होता है। उसी प्रकार (यद्यपि 'अ' कार सभी स्थानोंमें एक ही है, तो भी) जिस स्थानपर पाणिनिने 'अ' कार जैसा कहा हो वैसा ही वहाँ समझा जायगा।

अब ऊपर जो दोष बताया गया है कि, 'जहाँ एकाच् अनेकाच्' शब्दोंका उच्चारण किया गया है, वहाँ जिस प्रकारका प्रबन्ध होना आवश्यक है वैसा नहीं होगा,' उसके बारेमें यों उत्तर दिया जायगा।

(वा. १०) जहाँ 'एकाच् अनेकाच्' उच्चारण किया गया है, वहाँ आवृत्तिकी गणनासे (इष्ट कार्य सिद्ध होगा)।

'जहाँ एकाच् अनेकाच्' उच्चारण किया गया है, वहाँ आवृत्ति के कारण अर्थात् बार बार उसी स्वरका उच्चारण करनेसे अनेक अच् है ऐसा समझा जायगा। उदाहरणार्थ, (विकृतियागके वर्णनमें एक वाक्य है)—'सत्रह सामिधेनी ऋचाएँ हैं।' (वास्तवमें देखा जाय तो वैसी ऋचाएँ तेरह ही हैं; पर) पहली ऋचा तीन बार और अन्तिम ऋचा तीन बार पढ़कर आवृत्तिसे सामिधेनी ऋचाओंकी संख्या सत्रह मानी गयी है। उसी प्रकार ('किरिणा', 'गिरिणा' रूपोंमें भी) एक ही इकार दो बार प्राप्त होनेके कारण ('किरि', 'गिरि' शब्द) अनेक अचोंसे युक्त समझे जायेंगे।

वर्ण लगाये हैं वे व्यर्थ होंगे इसलिए उनके बलसे इत्संज्ञकोंकी अव्यवस्था नहीं होती है ऐसा न समझा जाय।' तो उसका तात्पर्य यों समझा जाय कि, यद्यपि अकार सर्वत्र एक है, तो भी भिन्न भिन्न इत्संज्ञक वर्ण भिन्न भिन्न स्थानोंमें लगाये जानेके कारण आप ही आप उनकी अव्यवस्था दूर होगी।'

२६. जो ऋचा पढ़कर समिधाओंका आधान किया जाता है उस ऋचाको सामिधेनी कहते हैं।

इह तु खलु किरिणा गिरिणेत्येकाच्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोत्येव। एवमपि सिद्धम्। कथम्। लोकवत्। तद्यथा। लोक ऋषिसहस्रमेकां कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्वो दत्त्वा तया सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः संपन्नाः। एवमिहाप्यनेकाल्त्वं भविष्यति॥ यदप्युच्यते द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्तीति भवेद्यदसंभवि कार्यं तन्नानेको युगपत्कु-र्याद्यत्तु खलु संभवि कार्यमनेकोऽपि तद्युगपत्करोति। तद्यथा। घटस्य दर्शनं स्पर्शनं वा। संभवि चेदं कार्यमकारस्योच्चारणं नामानेकोऽपि तद्युगपत्करिष्यति॥

आवृत्तिका अर्थ है अनेक बार उच्चारण। उसके बलपर (जो आवृत्ति है ऐसा मानकर घट शब्दके आगे ठन् प्रत्यय लगाया जानेके कारण बनेगा) दोष दूर किया जायगा, पर एक ही (अर्थात् एक जातिका ही) अच् रहनेके कारण होनेवाला कार्य—किरिणा, गिरिणा इत्यादि रूपोंमें अन्तोदात्तत्व—प्राप्त होगा ही।

यहाँ भी इष्ट कार्य सिद्ध होगा।

सो कैसे?

जैसे लोकमें वैसे ही यहाँ है। जैसे लोकमें (प्राचीन कालमें) सहस्र ऋषियोंने एक ही कपिला गायका पुनः पुनः दान करके प्रत्येक व्यक्तिने सहस्र धेनुओंका दान करनेका पुण्य प्राप्त किया, वैसे ही यहाँ भी ऐसा समझा जायगा कि ('किरिणा', 'गिरिणा' आदि शब्द) अनेक अचोंसे युक्त हैं।"

ठीक। 'द्रव्य (अर्थात् लौकिक पदार्थ) के संबंधमें जैसे उपचार प्राप्त होते हैं, वैसे ही प्राप्त होंगे' ऐसा जो ऊपर कहा गया है, उसका उत्तर यही है कि, 'एक ही पदार्थके संबंधमें जो कार्य अनेक व्यक्तियोंको करना शक्य नहीं है वह कार्य अनेक व्यक्ति एक साथ नहीं करते हैं, परन्तु जो कार्य अनेक व्यक्तियोंको भी एक साथ करना शक्य है, वह कार्य अनेक व्यक्ति एक साथ करते ही हैं। उदाहरणार्थ—घटका दर्शन अथवा घटका स्पर्श। 'अ' कारका उच्चारण अनेक व्यक्तियोंको एक साथ करना संभवनीय है और इसीलिए अनेक व्यक्ति एक साथ वह कर सकेंगे।"

---

२७ गणनामें कोई एक ही संख्या काममें आती है। [illegible] प्राप्त होनेके बाद प्राप्त हुई संख्या [illegible] करती है। [illegible] गौण हो अथवा मुख्य हो, उसीके द्वारा यहाँ गणना की जाती है।

२८. इन सभी स्थानोंमें अकार एक ही है ऐसा समझनेसे कोई दोष नहीं दिखाई देगी।

आन्यभाव्यं तु कालशब्दव्यवायात् ॥ ११ ॥

आन्यभाव्यं त्वकारस्य। कुतः। कालशब्दव्यवायात्। कालव्यवायाच्छब्दव्यवायाच्च। कालव्यवायात्। दण्ड अग्रम्। शब्दव्यवायात्। दण्डः। न चैकस्यात्मनो व्यवायेन भवितव्यम्। भवति चेद्भवत्यान्यभाव्यमकारस्य ॥

युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात् ॥ १२ ॥

युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनान्मन्यामह आन्यभाव्यमकारस्येति। यदयं युगपद्देशपृथक्त्वेपूपलभ्यते। अश्वः अर्कः अर्थ इति। न ह्येको देवदत्तो युगपत्स्रुघ्ने च भवति मथुरायां च ॥ यदि पुनरिमे वर्णाः शकुनिवत्स्युः। तद्यथा। शकुनय

(वा. ११) परन्तु काल और शब्दके व्यवायके कारण 'अ' कार सर्वत्र एक नहीं है।

(यद्यपि चारों ओरका 'अ' कार सर्वत्र समान हो,) तो भी वह 'अ' कार भिन्न भिन्न ही समझा जाता है।

सो कैसे ?

काल और शब्दके व्यवायसे अर्थात् व्यवधानसे। अर्थात् कालव्यवायसे और शब्दव्यवायसे। कालव्यवधानका उदाहरण है 'दण्ड अग्रम्'। (यहाँ 'दण्ड' के अन्तका 'अ' और 'अग्र' के आरम्भका 'अ'।) शब्दव्यवधानका उदाहरण है 'दण्ड' (शब्दके आदिका और अन्तका 'अ' वर्ण)। यदि 'अ' वर्ण एक ही हो, तो एकमें ही व्यवाय अर्थात् व्यवधान होना संभवनीय नहीं है। जब कि व्यवधान है ऐसा समझा जाता है, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि दो 'अ' कार भिन्न हैं।

(वा. १२) और एक साथ भिन्न भिन्न स्थानका 'अ' कार भिन्न भिन्न दीख पड़नेसे ('अ' कार सर्वत्र एक नहीं है)।

एक साथ ही भिन्न भिन्न स्थानोंपर दीख पड़नेसे भी हम समझ सकते हैं कि, भिन्न भिन्न स्थानका 'अ' कार भिन्न भिन्न ही है। 'अश्वः', 'अर्कः', 'अर्थः' इत्यादि स्थानोंमें एक साथ ही 'अ' कार दिखायी देता है, तो वह भिन्न होना ही चाहिये; कारण कि एक ही 'देवदत्त' व्यक्ति एक साथ स्रुघ्न और मथुरा इन दोनों नगरोंमें दिखायी नहीं देता है।

पर कदाचित् वर्ण पक्षियोंके समान हों। पक्षी अत्यन्त द्रुतगति होनेके कारण

---

२९. यहाँसे वार्तिककार, सब स्थानोंमें अकार एक ही है यह सिद्ध कर रहे हैं।

३०. 'दण्ड' शब्दका उच्चारण करनेके बाद थोड़ी देरसे 'अग्र' शब्दका उच्चारण किया जाता है।

आशुगामित्वात्पुरस्तादुत्पतिताः पश्चाद्दृश्यन्ते । एवमयमकारो द इत्यत्र दृष्टो ण्ड इत्यत्र दृश्यते । नैवं शक्यम् । अनित्यत्वमेवं स्यात् । नित्याश्च शब्दाः । नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः । यदि चायं द इत्यत्र दृष्टो ण्ड इत्यत्र दृश्येत नायं कूटस्थः स्यात् ॥ यदि पुनरिमे वर्णा आदित्यवत्स्युः । तद्यथा । एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपद्देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते । विषम उपन्यासः । नैको द्रष्टादित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपद्देशपृथक्त्वेषूपलभतेऽकारं पुनरुपलभते । अकारमपि नोपलभते । किं कारणम् । श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्द एकं च पुनराकाशम् । आकाशदेशा अपि बहवः । यावता बहवस्तस्मादान्यभाव्यमकारस्य ॥

आगेकी ओर उड़ान करके भी झट पीछेकी ओर भी दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार 'अ' वर्ण एक ही होकर भी 'द' में दिखायी देता है और 'ण्ड' में भी दीख पड़ता है।

यह शक्य नहीं। (क्योंकि वैसा समझनेसे शब्द) अनित्य होने लगेंगे। (पर वास्तवमें देखा जाय तो) शब्द नित्य ही है, और वे नित्य होनेके कारण उनमें जो वर्ण है, वे भी नित्य, विनाशहीन, क्षयरहित एवं वृद्धिरहित होने चाहिये। यदि 'द' में दिखायी देनेवाला 'अ' वर्ण 'ण्ड' में भी दीख पड़े, तो 'अ' वर्ण कूटस्थ (क़ायम रहनेवाला) नहीं कहलाया जायगा।

पर यदि ये वर्ण सूर्यके सदृश हों तो? जैसे, एक ही सूर्य एक साथ ही भिन्न भिन्न स्थानोंमें (रहनेवाले लोगोंको) भिन्न भिन्न स्थानोंमें मानो दीख पड़ता है।

यह दृष्टान्त भी यहाँ उचित नहीं है। क्योंकि एक ही व्यक्ति एक ही समयपर भिन्न भिन्न स्थानोंसे भिन्न भिन्न स्थानोंमें रहनेवाले सूरजको नहीं देख सकता है, पर 'अ' वर्णको (इस तरह) देख सकता है।

'अ' वर्णको भी (इस तरहँ) नहीं देख सकता है।

सो कैसे?

शब्द है कर्णसे उपलब्ध होनेवाला, बुद्धिसे ग्राह्य, ध्वनिसे प्रकाशित होनेवाला और आकाशमें रहनेवाला, पर आकाश तो एक ही है[32]।

आकाशके प्रदेश भी बहुत है। और यदि वे प्रदेश बहुत है, तो 'अ' कार भी वास्तवमें भिन्न भिन्न स्थानोंमें उपलब्ध होनेके कारण भिन्न ही है ऐसा सिद्ध होता है।

३१　भिन्न भिन्न स्थानोंमें रहनेवाला।

३२　तब 'अ' कार आदि वर्णोंको एक ही पुरुष भी एक साथ देखता है ऐसा जो हमें लगता है वह निरा भ्रम है। शब्दव्यञ्जक जो ध्वनि वह भिन्नदेशी होनेके कारण उस उपाधिसे शब्द भी भिन्नदेशी है इस प्रकारका आभास होता है।

आकृतिग्रहणात्सिद्धम् ॥ १३ ॥

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ॥

तद्वच्च तपरकरणम् ॥ १४ ॥

एवं च कृत्वा तपराः क्रियन्ते । आकृतिग्रहणेनातिप्रसक्तमिति । ननु च सवर्णग्रहणेनातिप्रसक्तमिति कृत्वा तपराः क्रियेरन् । प्रत्याख्यायते तत्सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्चेति ॥

(वा. १३)[33] **'अ' वर्णकी जातिके ग्रहणसे (इष्ट कार्य सिद्ध होता है)।**

('अइउण्' सूत्रमें) अत्वजातिके दर्शक 'अ' का उच्चारण किया गया है, उससे उस 'अ' वर्णसे सभी 'अ' वर्णका संघ समझा जायगा। उसी प्रकार 'इ' कार जाति और 'उ' कार जाति।

(वा. १४) जहाँ 'त' कार लगाकर स्वरका उच्चारण किया गया है, वहाँ जातिपक्षका स्वीकार करके ही वह किया गया है।

जातिपक्षका स्वीकार किया जाय तो अ, इ, उ इत्यादि किसी एक स्वरका उच्चारण करनेसे ही उसके सभी भेदोंका ग्रहण किया जायगा, और उससे कहीं कहीं अतिव्याप्तिदोष आयेगा। वह न आ जाय इसलिए जहाँ विशिष्ट भेदोंकी ही आवश्यकता है, वहाँ आगे 'त' कार लगाया है।

(ठीक। पर जातिपक्षका ही स्वीकार क्यों किया जाय?) 'अ' का उच्चारण किया जानेसे 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (१।१।६९) सूत्रसे 'अ' के सभी सवर्णोंका ग्रहण किया जायगा, और उससे जो अतिव्याप्ति आ जायगी उसे टाल देनेके लिए 'त' कार लगा दिया है ऐसा क्यों न कहें?

'अणुदित्सवर्णस्य०' (१।१।६९) सूत्रमें 'अण्' शब्द न हो ऐसा वार्तिककारोंने (१।१।८ वा ६८) कहा है। वहाँ दिखाया गया है कि 'सवर्णग्रहण' बतानेवाले सूत्रमें 'अण्' शब्द न रखा जाय। क्योंकि 'अ' शब्दके उच्चारणसे ही अत्वजातिसे युक्त सभीका सहज ही ग्रहण होता है, तथा दीर्घ आ, प्लुत अ ३

---

३३. 'तथानुवृत्तिनिर्देशे' वार्तिकमें 'अस्य च्वौ' इत्यादि स्थानोंमें यवर्णका ग्रहण नहीं होगा ऐसी जो शंका प्रदर्शित की गयी थी उसका उत्तर यहाँसे वार्तिककार दे रहे हैं।

३४ 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) सूत्रमें 'अत.' रूपमें 'अ' कारको तकार लगाया गया है। तब 'तपरस्तत्कालस्य' (१।१।७०) सूत्रसे केवल ह्रस्व अकारसे ही ग्रहण होता है। अतएव 'रमाभि' उदाहरणमें 'भिस्' प्रत्ययको 'ऐस्' आदेश नहीं होता है

हल्ग्रहणेषु च ॥ १५ ॥

किम् । आकृतिग्रहणात्सिद्धमित्येव । झलो झलि [८.२.२६] । अवात्ताम् अवात्तम् अवात्त । यत्रैतन्नास्त्यणसवर्णान्गृह्णातीति ॥

रूपसामान्याद्वा ॥ १६ ॥

रूपसामान्याद्वा सिद्धमेतत् । तद्यथा । तानेव शाटकानाच्छादयामो ये

इत्यादि अकार 'अ' वर्णसे भिन्न ही नहीं[35] हैं।

(वा. १५) और व्यञ्जनग्रहणमें भी—।

क्या ?

आकृतिग्रहणसे इष्टकार्य सिद्ध होता है। (और जहाँ हलोंका अर्थात् व्यञ्जनोंका उच्चारण किया गया है, वहाँ 'जाति' का ग्रहण ही आवश्यक है। उसके बिना इष्ट कार्य सिद्ध नहीं होगा।) जैसे, 'झलो झलि' (८।२।२६) सूत्र लें। इस सूत्रसे 'अवात्ताम्', 'अवात्तम्', 'अवात्त' रूपोंकी सिद्धिके लिए जातिपक्षका ग्रहण करना ही चाहिये। यहाँ 'त्' व्यञ्जन 'अण्' न होनेके कारण 'अणुदित्' (१।१।६९) सूत्रसे एक तकारसे अन्य तकारोंका ग्रहण न होगा, प्रत्युत 'झल्' जातिका ही ग्रहण करना पड़ता है। (अर्थात् पहला तकार भी झल् हो सकता है और दूसरा भी।)

(वा. १६) अथवा रूप समान होनेसे (इष्ट कार्य) सिद्ध होता है।

अथवा (सब 'अ' वर्णोंका) रूप समान ही होनेके कारण प्रस्तुत स्थानमें 'अ' के सामान्य स्वरूपका उच्चारण करनेसे सभी 'अ' वर्ण आते हैं। उदाहरणार्थ,

---

३५. ताम्रवर्ण गौ शुभ्रवर्ण गौसे रंगमें भिन्न हो तो भी आकारमें भिन्न नहीं होती है, वैसे ही दीर्घ इत्यादि ह्रस्वसे उच्चारणकालके प्रमाणमें भिन्न लगते हों तो भी अवर्णकी दृष्टिसे वे भिन्न नहीं होते हैं।

३६. उससे अनेक तकार 'झल्' के रूपमें एक साथ नहीं लिये जायेंगे। 'अवात्ताम्' उदाहरणमें वस् धातुके आगे लुङ् प्रत्यय, उसको तस्, उसको ताम् आदेश, बीचमें सिच् प्रत्यय, धातुमेंके अकारकी वृद्धि, पीछे अट् आगम और 'सः स्यार्धधातुके' (७।४।४९) सूत्रसे धातुके सकारको तकार, इतने कार्य हो जानेपर 'अवात् स् ताम्' यह स्थिति होते हुए भी दो तकारोंके बीचके सकारका 'झलो झलि' (८।२।२६) सूत्रसे लोप होता है। लोपके लिए सकारके पीछे और आगे दो झल् वर्ण चाहिये। अक्षरसमाम्नायमें झल् प्रत्याहारमें 'चटतव्' इस प्रकारका तकार उच्चारित हुआ है सही; परन्तु व्यक्तिकी अपेक्षा वह तकार किसी एक तकारका अनुकरण समझा जायगा, एक साथ दो तकारोंका अनुकरण नहीं कहा जायगा। अतः 'झलो झलि' सूत्रसे सकारका लोप नहीं होगा।

मथुरायाम् । तानेव शालीन्भुञ्ज्महे ये मगधेषु । तदेवेदं भवतः कार्षापणं यन्मथुरायां गृहीतम् । अन्यस्मिंश्चान्यस्मिंश्च रूपसामान्यात्तदेवेदमिति भवति । एवमिहापि रूपसामान्यात्सिद्धम् ॥

ऌ लृक् ॥ २ ॥

लकारस्योपदेशः किमर्थः । किं विशेषेण लकारोपदेशश्चोद्यते न पुनरन्येषामपि वर्णानामुपदेशश्चोद्येत । यदि किंचिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्त्यल्कारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति । को वा विशेषः । अयमस्ति विशेषः । अस्य ह्यल्कारस्याल्पीयांश्चैव प्रयोगविषयो यश्चापि प्रयोगविषयः सोऽपि क्लृपिस्थस्य क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम् । तस्यासिद्धत्वादृकारस्यैवाच्कार्याणि भविष्यन्ति नार्थ लकारोपदेशेन ॥ अत उत्तरं पठति ।

(यद्यपि शाटक भिन्न भिन्न हैं, तो भी एक ही जातिके हों तो हम कहते हैं—) 'जो शाटक मथुरामें हम ओढ़ते थे, वे ही यहाँ ओढ़ते हैं;' 'जो चावल हम मगध देशमें खाते थे, वे ही यहाँ भी खाते हैं;' 'मथुरामें जो कार्षापण मैंने आपसे लिया था वही यह है। (वह आप वापस लीजिये)।' यद्यपि इन सभी उदाहरणोंमें पूर्वकालीन और वर्तमानकालीन पदार्थ भिन्न भिन्न हों, तो भी 'वे ही ये' ऐसा हम व्यवहार करते हैं। वैसे ही यहाँ भी स्वरूप समान होनेके कारण 'अ', शब्दसे[३७] सभी 'अ' वर्णोंका ग्रहण किया जायगा।

ऋ ऌ ॥ २ ॥

इस सूत्रमें 'ऌ' कारका उच्चारण क्यों किया गया है?

विशेष हेतुसे लकारके ही उच्चारणके संबंधमें क्यों प्रश्न किया जाता है? अन्य वर्णोंके उच्चारणके बारेमें क्यों नहीं? यदि अन्य वर्णोंके उच्चारणमें कुछ हेतु हो, तो वही हेतु 'ऌ' कारके उच्चारणमें भी उचित है। तब (अन्य अक्षरों और लकारमें) भेद क्या है?

भेद यों है— इस 'ऌ' वर्णका प्रयोगक्षेत्र बहुत ही छोटा है। और जो कुछ प्रयोगक्षेत्र दीख पडता है वह 'क्लृप्' धातुका ही लकार है। तथा 'कृप्' धातुके ऋकारको 'कृपो रो लः' (८।२।१८) सूत्रसे जो 'ऌ' आदेश हुआ है वह अन्य कार्योंकी दृष्टिसे मानो हुआ ही नहीं। तब वह लकार असिद्ध होनेसे (लकारको 'अच्' समझकर) जो जो कार्य होने चाहिये, वे ऋकारकी कल्पनासे ही होंगे। अतः 'ऋलक्' सूत्रमें 'ऌ' वर्णके उच्चारणका कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

यह सब शंका ध्यानमें लेकर वार्तिककार उत्तर देते हैं—

---

३७. 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) इत्यादि सूत्रमेंके 'अ' शब्दमें।

ऌकारोपदेशो यदृच्छाशक्तिजानुकरणप्लुत्याद्यर्थः ॥ १ ॥

लकारोपदेशः क्रियते यदृच्छाशब्दार्थोऽशक्तिजानुकरणार्थः प्लुत्याद्यर्थश्च। यदृच्छाशब्दार्थस्तावत्। यदृच्छया कश्चिद्लृतको नाम तस्मिन्नच्कार्याणि यथा स्युः। दध्य्लृतकाय देहि। मध्व्लृतकाय देहि। उदड्ड्लृतकोऽगमत्। प्रत्यड्ड्लृतकोऽगमत्। चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः ॥ अशक्तिजानुकरणार्थः। अशक्त्या कयाचिद्ब्राह्मण्या ऋतक इति प्रयोक्तव्ये लृतक इति प्रयुक्तम्। तस्यानुकरणं ब्राह्मण्य-

---

(वा १) लृकारका उपदेश स्वाभाविक उच्चारण, अशक्यताके कारण किया हुआ अनुकरण और प्लुति—इनके लिए है।

लकारका उपदेश किया जाता है। उसका उपयोग (१) स्वाभाविक रीतिसे लकारयुक्त ऐसे जिन शब्दोंका हम उच्चारण करते हैं उनके लिए है, (२) 'ऋ' का उच्चारण शक्य न होनेके कारण जिस 'लृ' का उच्चारण किया जाता है उसके अनुकरणमें आये हुए लकारके लिए है, और (३) प्लुत आदि कार्य होनेके लिए भी है। स्वाभाविक रीतिसे उच्चारित लकारयुक्त शब्दका उपयोग यों दिया है— किसी व्यक्तिका 'लृतक' यह स्वाभाविक नाम रखा जाय तो उसके लृवर्णको अच् समझकर कार्य हों। जैसे, 'दध्य्लृतकाय देहि', 'मध्व्लृतकाय देहि', 'उदड्ड्लृतकोऽगमत्', 'प्रत्यड्ड्लृतकोऽगमत्'। (यहाँ पहले दो उदाहरणोंमें यण् संधि और अन्य दो उदाहरणोंमें ङमुडागम अर्थात् ङ्आगम ये कार्य होने चाहिये। स्वाभाविक रीतिसे उच्चारित भी शब्द होते हैं।) चार प्रकारके शब्द उपयोगमें पाये जाते हैं— जातिवाचक शब्द, गुणवाचक शब्द, और क्रियावाचक शब्द ये तीन प्रकार, तथा सहजतासे उच्चारित शब्द अर्थात् व्यक्तिवाचक सज्ञा आदि चौथा प्रकार।

ऋकारका उच्चारण अशक्य होनेसे जिस लकारका उच्चारण किया जाता है उसके अनुकरणमें आये हुए लकारका उदाहरण यों है—मान लीजिये, किसी तोतली ब्राह्मणीने 'ऋतक' शब्दका उच्चारण करनेके बदले 'लृतक' शब्दका

---

१ यहाँ 'लृतक' शब्दमें 'लृ' कार अच् है ऐसा समझकर 'दधि' शब्दके इकारको तथा 'मधु' शब्दके उकारको 'इको यणचि (६।१।७७) सूत्रसे यकार तथा वकार आदेश हुए हैं। 'उदड्ड्लृतक' में 'ङमो ह्रस्वादचि०' (८।३।३२) सूत्रसे ङमुट् आगम हुआ है।

२ 'वक्ताके अपनी इच्छाके अनुसार जो शब्द कल्पित हैं वे अपशब्द जैसे ही होनेके कारण वहाँ शास्त्रकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी' यह जो शंका निर्माण होती है उसका 'यदृच्छाशब्द अपशब्द नहीं हैं' ऐसा उत्तर यहाँ दिया गया है। 'शब्दके प्रकार चार होते हैं' यह पक्ष यहाँ माना गया है।

ऌतक इत्याह कुमार्यॢतक इत्याहेति ॥ प्लुत्याद्यर्थश्च ऌकारोपदेशः कर्तव्यः । के पुनः प्लुत्यादयः । प्लुतिद्विर्वचनस्वरिताः । क्ऌ३प्तशिख । क्ऌप्प्तः । प्रक्ऌप्तः । प्लुत्यादिषु कार्येषु कॢपेर्ऌत्वं सिद्धं तस्य सिद्धत्वादच्कार्याणि न सिध्यन्ति । तस्मादॢकारोपदेशः क्रियते ॥ नैतानि सन्ति प्रयोजनानि ।

न्याय्यभावात्कल्पनं संज्ञादिषु ॥ २ ॥

न्याय्यस्य ऋतकशब्दस्य भावात्कल्पनं संज्ञादिषु साधु मन्यन्ते । ऋतक

उच्चारण किया हो, तो उसका अनुकरण करके तथा ऌकारका प्रयोग करके हम ये वाक्य बोलते हैं--' ब्राह्मणी ऌतक इत्याह ', ' कुमारी ऌतक इत्याह '। इन वाक्योंमें यण् संधि हो यह उपयोग है।

प्लुति आदि होनेके लिए भी ऌकारका उच्चारण (प्रस्तुत माहेश्वरसूत्रमें) करना चाहिये।

प्लुति आदि क्या हैं ?

प्लुति, द्वित्व और स्वरित। (उनके क्रमसे ये उदाहरण हैं)— ' क्ऌ ३ प्तशिखः ', ' क्ऌप्प्तः ', ' प्रक्ऌप्तः '। ये ही तीनें कार्य बतानेका प्रयोजन यह है कि तीन कार्योंके संबंधमें कृप् धातुके ऋकारका ऌकार सिद्ध होता है, और वह सिद्ध होनेसे (उसको ऋकारकी भावनासे) ये तीन स्वरकार्य नहीं हो सकते हैं। वे होनेके लिए ऋकारका उच्चारण करना चाहिये।

ये उपयोग नहीं दिये जा सकते हैं।

(वा. २)—(ऋतक शब्द) योग्य होनेपर संज्ञा आदिमें वह प्रयुक्त किया जाय।

योग्य ' ऋतक ' शब्दके होनेपर व्यक्तिवाचक संज्ञा आदिमें ऋतक शब्दको ही योग्य समझकर प्रयुक्त किया जाँय। ऋतक ही योग्य है, ऌतक नहीं।

---

३. ' क्ऌ३प्तशिखः ' में ' गुरोरनृतो० ' (८।२।८६) सूत्रने ऌकारको प्लुत हुआ है। ' क्ऌप्प्तः ' में ' अनचि च ' (८।४।४७) सूत्रने पकारको द्वित्व हुआ है। ' प्रक्ऌप्तः ' में गतिरनन्तरः ' (६।२।४९) सूत्रसे ' प्र ' इस पूर्वपदमेंके अकारको प्रकृतिस्वर अर्थात् उदात्त होनेसे उसके आगेके ऌकारको ' उदात्तादनु० ' (८।४।६६) सूत्रने स्वरित हुआ है। ऌकारका पाठ यदि अक्षरसमाम्नायमें न किया जाय तो उसको अच् नहीं कहा जा सकता है और उससे ये तीनों कार्य सिद्ध नहीं होंगे।

४. व्याकरणसे सिद्ध होनेवाला शब्द ही नामकरणमें नाम रखनेवालोंसे प्रयुक्त किया जाता है। ' ऋत् ' धातुके आगे ण्वुल् प्रत्यय लगाकर ' ऋतक ' शब्द सिद्ध होता है। ' ऌतक ' शब्द सिद्ध न होनेसे वह अपभ्रंश ही है।

एवासौ न लृतक इति ॥ अपर आह । न्याय्य ऋतकशब्दः शास्त्रान्वितोऽस्ति स कल्पयितव्यः साधुः सञ्ज्ञादिषु । ऋतक एवासौ न लृतकः ॥ अथ तर्हि यदृच्छाशब्दोऽपरिहार्यः । लृफिडः लृफिड्डः । एषोऽप्यृफिडः ऋफिड्डश्च । कथम् । अर्तिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते फिडफिड्डावौणादिकौ प्रत्ययौ । त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः । जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः ॥ अन्यथा कृत्वा प्रयोजनमुक्तमन्यथा कृत्वा परिहारः । सन्ति

दूसरा (व्याख्याकार) कहता है—योग्य 'ऋतक' शब्द व्याकरणशुद्ध होनेके कारण व्यक्तिवाचक संज्ञा आदिमें वही योग्य है। 'ऋतक' ही शब्द है, 'लृतक' उसका अपभ्रंश है।

ठीक तो, लृफिड अथवा लृफिड्ड यह यदृच्छाशब्द अर्थात् स्वाभाविक रीतिसे प्रयुक्त किया हुआ शब्द लें। यह निःसंशय लृयुक्त है, उसका दूसरा कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता है।[६]

यह भी ऋफिड अथवा ऋफिड्ड ही है।

सो कैसे ?

'ऋ' धातुसे साधित शब्द लोगोंमें दिखायी देते है, ऋफिड, ऋफिड्डमें भी 'ऋ' धातु ही है, फिड और फिड्ड प्रत्यय उणादिप्रत्ययोंमेंसे है[७]। लोगोंमें शब्दोंके उपयोगके तीनही प्रकार है। जातिवाचक शब्द, गुणवाचक शब्द और क्रियावाचक शब्द ये शब्दोंके तीन प्रकार हैं। यदृच्छाशब्द ऐसे कुछ चौथे प्रकारके शब्द नहीं होते है।[८]

एक प्रकारसे विधान करके उपयोग कहनेपर अन्य प्रकारसे फिर विधान करके वह उपयोग शक्य नहीं है यह कैसे कहा जाय ? 'यदृच्छा शब्द होते है' ऐसा

---

५ किसीने लृतक नाम रखा है ऐसा यद्यपि प्रतीत होता है तो भी वहाँ नाम रखनेवालेकी भूल है। ऋतक ही शुद्ध नाम समझा जाय। तात्पर्य यह है कि, 'लृतक' अपभ्रंश शब्द होनेके कारण उसमेंके लृकारको अच् व प्राप्त होनेके लिए 'ऋलृक्' सूत्रमें लृकारका पाठ करनेकी आवश्यकता नहीं है।

६. जिस तरह 'ऋतक' व्याकरणशुद्ध शब्द है और 'लृतक' उसका अपभ्रंश है इस तरह यहाँ कुछ नहीं कहा जा सकता है।

७ तो 'ऋ' धातुका प्रयोग केवल वेदमें ही है ऐसा न समझा जाय।

८. इस प्रकार सभी संज्ञाओंमें प्रकृतिप्रत्ययकी प्रतीति होनेसे वे प्रायः क्रियाशब्दोंमें ही गिने जाते है। अतः अवश्य ही शब्दोंके तीन ही प्रकार हैं यह पक्ष सिद्ध होता है।

९. शब्दोंके चार प्रकार हैं यह पक्ष ध्यानमें लेकर।

१०. शब्दोंके तीन ही प्रकार है यह पक्ष ध्यानमें लेकर।

यदृच्छाशब्दा इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तं न सन्तीति परिहारः। समाने चार्थे शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति। तद्यथा। देवदत्तशब्दो देवदिण्णशब्दं निवर्तयति न गाव्यादीन्। नैष दोषः। पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति ॥

अनुकरणं शिष्टाशिष्टाप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु ॥ ३ ॥

अनुकरणं हि शिष्टस्य साधु भवति। आशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा नैव तद्दोषाय

विधान करके 'ऌ' कारके उच्चारणका उपयोग बताया गया; फिर 'यदृच्छाशब्द नहीं होते हैं' यह विधान करके उपयोग नहीं ऐसा कहा गया। यह उचित नहीं है।[11] और शास्त्रीय कल्पनासे सिद्ध होनेवाले शब्दके द्वारा शास्त्रीय कल्पनासे सिद्ध न होनेवाले शब्दका जो निवर्तन (अर्थात् बाध) होता है वह उन दोनों शब्दोंका एकही अर्थ हो तभी होता है। जैसे 'देवदत्त' शब्द शास्त्रीय रीतिसे शुद्ध सिद्ध हो जानेसे वह 'देवदिण्ण' शब्दका निवर्तन करता है, 'गावी' आदि शब्दोंका वह बाध नहीं कर सकता है।[12]

यह दोष नहीं आ सकता है। (एक प्रकारसे विधान करके किये गये आक्षेपका) दूसरे प्रकारसे विधान करके भी परिहार किया जा सकता है।

(वा. ३) शास्त्रसिद्ध तथा शास्त्रसे असिद्ध किन्तु अनिषिद्ध शब्दोका अनुकरण (योग्य होता है), जैसे लोकमें और वेदमें।

शास्त्रशुद्ध शब्दोंका अनुकरण ही योग्य होता है। जो शब्द न शास्त्रसिद्ध है, न शास्त्रनिषिद्ध भी, उसके अनुकरणसे न दोष है, न उत्कर्ष। जैसे लोकमें

---

११. यहाँ यों अभिप्राय है कि जो पक्ष ध्यानमें लेकर शका प्रदर्शित की गयी हो उसी पक्षका अवलंब करके उसका निरसन करना चाहिये। वार्तिकपर यह एक आक्षेप है।

१२ उसी प्रकार 'ऋतक' शब्द नहीं तय कर सकता है कि 'ऌतक शब्द सदोष है'। क्योंकि 'ऋतक' शब्दका अर्थ है तिदक अथवा दयालु, और 'ऌतक' एक विशिष्ट व्यक्तिका नाम है। वार्तिकपर यह दूसरा आक्षेप है।

१३. आक्षेपरके गृहीत पक्षका अवलब करके ही आक्षेपका निरसन करना चाहिये ऐसा कोई नियम किसीने नहीं कर रखा है। ११ वीं टिप्पणीमें बताये हुए पहले आक्षेपका यह उत्तर है। १२ वीं टिप्पणीमें प्रदर्शित किये हुए दूसरे आक्षेपका यों उत्तर है कि, यद्यपि 'ऌतक शब्द सदोष है' ऐसा ऋतक शब्द नहीं ठहरा सकता है, तो भी ऌतक शब्दका प्रयोग शिष्ट लोगोंसे न किया जानेके कारण वह ऌतक शब्द साधुशब्द है यह नहीं कहा जा सकता है। यह उत्तर स्पष्ट ही है, अत भाष्यकारने उसका निर्देश नहीं किया है।

१४. तब इस प्रकारका अनुकरण किया जानेसे वहाँ 'इको यणचि' आदि शास्त्रकी प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिए ऌकारका उपदेश न किया जाय।

भवति नाभ्युदयाय । यथा लौकिकवैदिकेषु । यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु । लोके तावत् । य एवमसौ ददाति य एवमसौ यजते य एवमसावधीत इति तस्यानुकुर्वन्दद्याच्च यजेत चाधीयीत च सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते । वेदेऽपि । य एव विश्वसृज सत्त्राण्यध्यासत इति तेषामनुकुर्वंस्तद्वत्सत्त्राण्यध्यासीत सो ऽप्यभ्युदयेन युज्यते ॥ अशिष्टाप्रतिषिद्धम् । य एवमसौ हिक्कति य एवमसौ हसति य एवमसौ कण्डूयतीति तस्यानुकुर्वन्हिक्केच्च हसेच्च कण्डूयेच्च नैव तद्दोषाय स्यान्नाभ्युदयाय ॥ यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्त्येवमसौ सुरां पिबतीति तस्यानुकुर्वन्ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् । विषम

और वेदमें । अर्थात् जिस प्रकार लौकिक और वैदिक बातोंमें देखा जाता है, उसी प्रकार यह है । लोकमें भी अच्छी बातोंके अनुकरणसे लाभ होता है । अमुक प्रकारसे अमुक व्यक्ति दान करता है, यजन करता है अथवा अध्ययन करता है, उसी प्रकारसे दूसरा कोई उसका अनुकरण करके दान करे, यजन करे, अथवा अध्ययन करे, तो दूसरेका भी लाभ होता है। वैदिक उदाहरण यों दिया जाता है—अमुक रीतिसे ये लोग विश्वसृज् सत्र करते हैं यह देखकर यदि उसी प्रकारके सत्रका कोई अनुकरण करे तो उसका भी अभ्युदय अवश्य होता है। अब शास्त्रसे असिद्ध किंतु अनिषिद्ध बातका उदाहरण देते हैं। कोई व्यक्ति अमुक रीतिसे हिचकी देता है, अथवा अमुक रीतिसे हँसता है, अथवा ऐसे खुजलाता है, उसी रीतिसे यदि दूसरा कोई हिचकी दे, अथवा हँसे, अथवा खुजलाए, तो उससे उसे दोष भी न लगेगा अथवा उसका उत्कर्ष भी न होगा ।

(परन्तु निषिद्ध बातके सम्बधमें मात्र भिन्न प्रकार है।) यदि अमुक व्यक्ति ब्राह्मणको ऐसे मारता है, अथवा ऐसे मदिरा पीता है, इसलिए उसीका अनुकरण करके दूसरा कोई ब्राह्मणको मारे अथवा मदिरापान करे, तो उस दूसरे व्यक्तिको दोष लगेगा ही एव वह पतित होगा ही।

यह उदाहरण ठीक नहीं बताया गया है। क्योंकि यदि कोई हत्या करता है और उसका अनुकरण करके दूसरा कोई हत्या करता है, तो दोनों भी हत्याका

---

१५ अत 'लृतक' अपशब्दका अनुकरण किया जानेसे यदि पाप निर्माण होता है, तो उसके लिए लृकारका उपदेश करनेका बिलकुल प्रयोजन नहीं है।

१६ यहाँसे बताया जाता है कि लृकारका उपदेश अवश्य करना चाहिये।

१७ अनुकरण करनेवाला भी अनुकरण करते समय प्रत्यक्ष ही हत्या करेगा।

उपन्यासः । यश्चैवं हन्ति यश्चानुहन्त्युभौ तौ हतः । यश्च पिबति यश्चानुपिबत्युभौ तौ पिबतः । यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्त्येवमसौ सुरां वा पिबतीति तस्यानुकुर्वन्स्नातानुलिप्तो माल्यगुणकण्ठः कदलीस्तम्भं छिन्द्यात्पयो वा पिबेन्न स मन्ये पतितः स्यात् । एवमिहापि य एवमसावपशब्दं प्रयुङ्क्त इति तस्यानुकुर्वन्नपशब्दं प्रयुञ्जीत सोऽप्यपशब्दभाक्स्यात् । अयं त्वन्योऽपशब्दपदार्थकः शब्दो यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः । न चापशब्दपदार्थकः

अपराध समान ही करते हे । उसी प्रकार यदि कोई मदिरा पीता है और उसका अनुकरण करके दूसरा कोई मदिरा पीता है, तो दोनोंका मदिरापानका अपराध एकसा ही है । परन्तु यदि अमुक व्यक्ति अमुक रीतिसे ब्राह्मणको मारता हे अथवा मदिरा पीता है ऐसा देखकर केवल उसकी क्रियाका अनुकरण दूसरा कोई व्यक्ति करे और स्नान तथा अनुलेपन करके एवं गलेमें पुष्पमाला पैहनकर (स्वस्थ चित्तसे और प्रकटतासे) कदलीका स्तम्भ काटे अथवा दूधका प्राशन करे, तो वह कदापि बहिष्कृत नहीं समझा जायगा । यही बात प्रस्तुत विषयमें भी है । कोई व्यक्ति अमुक रीतिसे अशुद्ध शब्दका उच्चारण करता है इसलिए दूसरा कोई व्यक्ति उसी रीतिसे उसी अशुद्ध शब्दका प्रत्यक्ष उच्चारण करे, तो उस दूसरे व्यक्तिपर (यद्यपि उसने अनुकरणसे अपशब्दका उच्चारण किया हो) अपशब्दके उच्चारणका उत्तरदायित्व पहले व्यक्तिके समान ही आ जाता है। (और उस प्रकारका अनुकरण करके उच्चारित 'लतक' शब्द अपशब्द होनेसे उसके कार्य होनेके लिए 'ऋ ऌ क्' सूत्रमेंके ऌकारका उच्चारण अवश्य है सो बात नहीं ।)

पर प्रस्तुत 'लतक' शब्द अनुकरण करनेके लिए उच्चारित 'लतक' शब्द नहीं है, तो 'लतक' अपशब्द ही जिसका अर्थ है ऐसा अर्थात् अपशब्दका बोधक 'लतक' शब्द है। और उसके संधिकार्य होनेके लिए 'ऋऌक्' सूत्रमें

---

१८. इससे यों सूचित किया जाता है कि उसका चित्त अस्वस्थ नहीं और उससे वह निषिद्ध कर्म करनेके लिए प्रवृत्त होनेवाला नहीं।

१९. 'लतक' शब्द 'ऋतक' का अपभ्रंश है। 'ऋतक' शब्दका अर्थ है तिदक अथवा दयालु । उसी अर्थमें यदि 'लतक' शब्दका प्रयोग किया जाय तभी वह अपशब्द समझा जाता है। ब्राह्मणी यदि तुतलेपनसे 'ऋतक' शब्दके अर्थमें ही 'लतक' शब्दका उच्चारण करे और दूसरा कोई उसी प्रकारका उसी अर्थमें ही 'लतक' शब्दका उच्चारण करे तो वे दोनों भी अशुद्ध शब्द उच्चारनेवाले समझे जाते हैं।

२०. ब्राह्मणी शब्दका उच्चारण कैसे करती है यह दिखानेके लिए यदि 'ब्राह्मणी लतक करती है' ऐसा वाक्य दूसरा कोई बोले, तो उस वाक्यमेंका 'लतक' शब्द तिदक अथवा

शब्दोऽपशब्दो भवति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। यो हि मन्यतेऽपशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवतीत्यपशब्द इत्येव तस्यापशब्दः स्यात्। न चैषोऽपशब्दः॥ अयं खल्वपि भूयोऽनुकरणशब्दोऽपरिहार्यो यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः। साध्वॢकारमधीते। मध्वॢकारमधीत इति। कस्थस्य पुनरेतदनुकरणम्। क्ॢपिस्थस्य। यदि क्ॢपिस्थस्य क्ॢपेश्च लत्वमसिद्धं तस्यासिद्धत्वादृकार एवाच्कार्याणि भविष्यन्ति। भवेत्तदर्थेन नार्थः स्यात्। अयं त्वन्यः क्ॢपिस्थपदार्थकः शब्दो यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। इदमवश्यं वक्तव्यं

'ॡकार' का उच्चारण करना ही चाहिये। अपशब्दका बोधक होनेसे ही कोई शब्द अपशब्द कदापि नहीं होता है। और यह बात मान्य करना आवश्यक ही है। क्योंकि अपशब्दका बोधक शब्द नियमसे अपशब्द होता है ऐसा यदि कोई समझे तो उसे यह मानना पड़ेगा कि 'अपशब्द' शब्द भी अपशब्द अर्थात् अशुद्ध शब्द है। वास्तवमें देखा जाय तो 'अपशब्द' अपशब्द अर्थात् अशुद्ध शब्द नहीं है। (तब तोतले व्यक्तिसे उच्चारित 'ऌतक' शब्दका बोधक जो ऌतक शब्द उसके कार्य होनेके लिए 'ऋऌक्' सूत्रमें 'ऌ' रखना चाहिये।)

इसके अतिरिक्त अगले उदाहरणमें दिया हुआ अनुकरणशब्द अपरिहार्य है; और उसके लिए 'ऋऌक्' सूत्रमें 'ऌ' रखना ही चाहिये। 'साध्वॢकारमधीते'; 'मध्वॢकारमधीते' (यह लड़का ऌकार ठीक पढ़ता है, ऌकार मधुरतासे पढ़ता है) ये उदाहरण देखें।

पर कहाँके ऌकारका यह अनुकरण है?

'क्ॢप्' धातुके।

यदि 'क्ॢप्' धातुके ऌकारका यह अनुकरण हो (तो कोई बाधा नहीं)। 'क्ॢप्' धातुके ऋकारको जो ऌकार हुआ है वह यण् आदि कार्योंकी दृष्टिसे असिद्ध (अर्थात् वह मानो हुआ ही नहीं ऐसा) होनेसे वह 'ऋकार' ही है, और इसी दृष्टिसे वहाँ संधिकार्य होंगे।

ठीक। 'क्ॢप्' धातुमें जो ऌकार है उसके कार्य होनेके लिए 'ऋऌक्' सूत्रमें 'ऌ' कारकी आवश्यकता नहीं है। पर 'क्ॢप्' धातुमें जो ऌकार है उसका वाचक जो ऌकार उसके अनुकरणसे उच्चारित होगा उसको स्वरकार्य होनेके लिए 'ऋऌक्' सूत्रमें 'ऌ' अवश्य रखना ही चाहिये।

कृपाउ इस अर्थका बोधक नहीं है, प्रत्युत वह ब्राह्मणीसे उच्चारित जो 'ऌतक' अपशब्द है उसका बोधक है। अतः यह स्वयं अपशब्द नहीं होता है।

प्रकृतिवदनुकरणं भवतीति। किं प्रयोजनम्। द्विः पचन्त्वित्याह। तिङतिङः [८. १. २८] इति निघातो यथा स्यात्। अग्नी इत्याह। ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् [१. १. ११] इति प्रगृह्यसंज्ञा यथा स्यात्। यदि प्रकृतिवदनुकरणं भवतीत्युच्यतेऽपशब्द एवासौ भवति कुमार्य्लृतक इत्याह ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह। अपशब्दो ह्यस्य प्रकृतिः। न चापशब्दः प्रकृतिः। न ह्यपशब्दा उपदिश्यन्ते न चानुपदिष्टा प्रकृतिरस्ति॥

उसके लिए भी रखनेकी आवश्यकता नहीं। 'प्रकृति (अर्थात् मूल शब्द, उस) के सदृश अनुकरण होता है (अर्थात् उसके धर्म अनुकरणमें आते हैं),' यह तो अवश्य बोलना ही चाहिये।

सो किस लिए?

(उसके उपयोग बहुत हैं।) 'द्विः पचन्तु इत्याह' वाक्य लें। यहाँ 'द्विः पचन्तु' इस अनुकरणमेंके 'पचन्तु' को तिङन्त समझके "तिङतिङः" (८।१।२८) सूत्रसे अनुदात्त होता है, यह एक उपयोग है। 'अग्नी इत्याह' में 'अग्नी' इस अनुकरणमेंके 'ई' कारको द्विवचन समझकर "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" (१।१।११) सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा होती है, यह दूसरा उपयोग है। (यहां 'पचन्तु' और 'अग्नी' इन शब्दोंका उच्चारण अनुकरणके रूपमें ही किया गया है; उनको अनुकार्यके समान कार्य होनेके लिए "प्रकृतिके समान अनुकरण होता है" यह विधान अवश्य करना चाहिये।)

परन्तु 'प्रकृतिके समान अनुकरण होता है' यह विधान यदि किया जाय, तो "कुमार्य्लृतक इत्याह," "ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह" इन वाक्योंमें 'लृतक' शुद्ध शब्द नहीं होगा; वह अपशब्द होगा। कारण कि अनुकरणके रूपमें जिसका उच्चारण किया है वह मूल 'लृतक' शब्द अपशब्द ही है।

(यह विधान ठीक नहीं है।) अपशब्द 'प्रकृति' अर्थात् मूल शब्द है यह मानना संभवनीय नहीं। कारण कि अपशब्दोंका उपयोग कोई कहीं नहीं करता है, तथा जिसका उपदेश नहीं किया गया है ऐसा शब्द 'प्रकृति' अर्थात् मूल शब्द नहीं होता है। (तब "कुमार्य्लृतक इत्याह" में 'लृतक' शुद्ध शब्द है; उसके स्वरकार्य होनेके लिए 'ऋलृक्' सूत्रमें 'लृकार' रखना आवश्यक है)

---

२१. 'क्लृप्' धातुमें [illegible] लृकार [illegible] है ऐसा मानकर यदि उसके निमित्तसे स्वरकार्य किये जाते हैं, तो उस लृकारके अनुकरणस्थानमें उच्चारित जो लृकार है उसके निमित्तसे भी स्वरकार्य होंगे।

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्प्लुत्यादयः ॥ ४ ॥

एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति प्लुत्यादयोऽपि भविष्यन्ति। यद्येकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीत्युच्यते राज्ञः क च [४. २. १४०] राजकीयम् अल्लोपोऽनः [६ ४. १३४] इति लोपः प्राप्नोति। एकदेशविकृतमनन्यवत्षष्ठीनिर्दिष्टस्येति वक्ष्यामि। यदि षष्ठीनिर्दिष्टस्येत्युच्यते क्लृ३प्तशिख इति प्लुतो न प्राप्नोति।

(वा. ४) एकदेशमें जो विकृत है वह (अविकृतसे) भिन्न न होनेके कारण प्लुति आदि कार्य हो जायेंगे।

(ऊपर जो लिखा गया है कि 'प्लुति आदि होनेके लिए भी लृकारका उच्चारण प्रस्तुत माहेश्वरसूत्रमें करना चाहिये,' उसके बारेमें बताया जा सकता है कि) "जिसके एक भागमें विकृति हुई है ऐसा शब्द मूल अविकृत शब्दसे भिन्न न समझा जाय" इस साधारण नियमसे प्लुति आदि कार्य होंगे ही।

यदि "एक भागमें विकृत शब्द भिन्न न समझा जाय" इतना ही कहा जाय, तो 'राजकीयम्' उदाहरणमें "राज्ञः क च" (४।२।१४०) सूत्रसे नकारको ककार आदेश होनेपर राजन् शब्दमेंसे 'अक्' भाग 'अन्' है ऐसा समझकर 'अ' कारका लोप "अल्लोपोऽनः" (६।४।१३४) सूत्रसे होने लगेगा।

तो फिर "षष्ठी विभक्तिसे निर्दिष्ट शब्दस्वरूपके संबंधमें ही एक भागमें विकृत शब्द भिन्न नहीं समझा जाय" यह साधारण नियम हम करेंगे।

यदि "षष्ठी विभक्तिसे निर्दिष्ट शब्दस्वरूपके संबंधमें" ये शब्द मिलाये जायें तो "क्लृ३प्तशिख" उदाहरणमें 'लृ' कारका प्लुत नहीं होगा। क्योंकि जिसकी कल्पनासे प्लुत होनेवाला है वह 'ऋ' कार षष्ठी विभक्तिसे निर्दिष्ट नहीं है (इसलिए लृकारका ऋकार नहीं समझा जायगा)।

---

२२. इस नियमसे 'क्लृ३प्तशिख.' उदाहरणमें 'लृ' वर्ण 'ऋ' वर्णसे भिन्न न समझा जानेके कारण उसको 'ऋ' ही समझकर 'गुरोरनृत०' (८।२।८६) सूत्रसे प्लुत होगा। कारण कि 'ऋ' में जो रेफ-जैसा भाग है वह केवल 'कृपो रो ल' (८।२।१८) सूत्रसे लृकारसा हुआ है। तब 'कृपो रो ल' शास्त्र 'गुरोरनृत.०' की दृष्टिसे सिद्ध हो तो भी यहाँ कोई दोष नहीं आता है।

२३. "राज्ञः क च" सूत्रमें 'राज्ञः' रूप 'राजन्' शब्दकी षष्ठी है। तब 'राजक्' भी 'राजन्' शब्द है ऐसा समझा जा सकता है। परन्तु 'अन.' अन् शब्दकी षष्ठी वहाँ न होनेके कारण 'अक्' ही 'अन्' है ऐसा नहीं समझा जा सकता है। अतः 'राजकीयम्' में 'अल्लोपोऽन.' से लोप नहीं होगा, कारण कि उसको 'अन्' इस शब्द स्वरूपकी आवश्यकता है।

न ह्यत्र ऋकारः षष्ठीनिर्दिष्टः। कस्तर्हि। रेफः। ऋकारोऽप्यत्र षष्ठीनिर्दिष्टः। कथम्। अविभक्तिको निर्देशः। कृप उः रः लः कृपो रो लः [८. २. १८] इति। अथवा पुनरस्त्वविशेषेण। ननु चोक्तं राज्ञः क च राजकीयम् अल्लोपोऽन इति लोपः प्राप्नोतीति। नैष दोषः। वक्ष्यत्येतत्। श्वादीनां प्रसारणे नकारान्तग्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थमिति। तत्प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते। अल्लोपोऽनो नकारान्तस्येति॥ इह तर्हि क्लृ३प्तशिख इत्यनृत इति प्रतिषेधः प्राप्नोति।

फिर षष्ठी विभक्तिमें किस शब्दका उच्चारण किया गया है?

रेफका उच्चारण किया गया है[२४]।

षष्ठी विभक्तिमें 'ऋ' कारका भी उच्चारण किया गया है।

सो कैसे?

"कृपो रो लः (८।२।१८) सूत्रमें 'कृप' यह विभक्तिप्रत्ययका उच्चारण किये बिना ही षष्ठीका रूप बनाया गया है; और सूत्रके पद 'कृप' 'उः' 'रः' 'लः' ये हैं[२५]।

अथवा 'षष्ठी विभक्तिसे निर्दिष्ट' ये पद न लगाकर ("एक देशमें विकृत शब्द भिन्न न समझा जाय") यहीं (साधारण नियम) रहे।

पर वैसा किया जाय तो ऊपर दोष बताया गया है न कि 'राजकीयम्' उदाहरणमें "राज्ञः क च" (४।२।१४०) सूत्रसे नकारका ककार आदेश होनेपर "अल्लोपोऽनः" सूत्रसे 'अ' कारका लोप होने लगेगा?

यह दोष नहीं आता है। क्योंकि ("श्वयुवमघोना०" (६।४।१३३) सूत्रके व्याख्यानमें वार्तिककार) अगला वार्तिक कहनेवाले ही हैं कि श्वन् आदि शब्दोंके संप्रसारणमें जिनके अन्तमें नकार है ऐसे ही शब्द लिये जायँ; अर्थात् जिनके अन्तमें नकार नहीं ऐसे शब्दोंका संप्रसारण नहीं होता है। वह वार्तिक अगले "अल्लोपोऽनः" (६।४।१३४) सूत्रमें भी समाविष्ट होगा और जिसके अन्तमें नकार है ऐसे ही अन्नन्त अंगके 'अन्' भागके अकारका लोप होगा।

परन्तु "क्लृ३प्तशिख" उदाहरणमें "अनृतः" (८।२।८६) ऐसा प्लुतका निषेध होगा और "क्लृ३प्तशिख" रूप सिद्ध न होगा[२६]।

---

२४. 'कृपो रो लः' सूत्रमें 'रः' रूप 'र्' व्यञ्जनकी षष्ठी है, 'ऋ' स्वरकी नहीं। 'ऋ' की षष्ठी 'उः' होती है।

२५. यहाँ 'ऋ' की षष्ठी 'उः' का उच्चारण किया गया ही है। अतः 'ऌ' को 'ऋ' समझा जा सकता है।

२६. 'ऌ' को 'ऋ' समझकर वह अनृत है इसलिए प्लुत किया जाय तो यह कार्य

रवत्प्रतिषेधाच्च ॥ ५ ॥

रवत्प्रतिषेधाच्चैतत्सिध्यति । गुरोररवत इति वक्ष्यामि । यद्यरवत इत्युच्यते होतृ ऋकार होतॄ३कार अत्र न प्राप्नोति । गुरोररवतो ह्रस्वस्येति वक्ष्यामि ॥ स एष सूत्रभेदेन लृकारोपदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन्प्रत्याख्यायते सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते ॥

(वा. ५) और रवत्का प्रतिषेध होनेसे इष्ट कार्य सिद्ध होता है।

('गुरोरनृतः०'—८।२।८६—सूत्रमें 'अनृतः' के स्थानमें 'अरवतः' पाठ लेकर) 'गुरोररवतः' ऐसा कहा जाय यह आगे बताना है। तब 'जिसमें रेफ है उसका प्लुत नहीं होता है' यह अर्थ होकर ('क्लृ ३ प्तशिख' में 'रेफ' न होनेके कारण प्लुत होगा और 'क्लृ ३ प्तशिख' रूप) सिद्ध होगा।

पर यदि 'अनृतः' के स्थानमें 'अरवतः' किया जाय तो होतृ + ऋकार यह संधि होकर बने हुए 'होतॄकार' शब्दमें प्लुत न होगा। (क्योंकि एकादेशसे बना हुआ दीर्घ ऋकार रेफयुक्त है और उससे 'अरवतः' यह निषेध होगा।)

तो फिर 'गुरोः अरवतः ह्रस्वस्य०' ऐसा सूत्र करेंगे (जिससे सब इष्ट कार्य सिद्ध होगा।)

(इष्ट कार्य सिद्ध होगा यह बात ठीक है, पर वैसा करना निरर्थक है। कारण कि) 'गुरोरनृतः०' इत्यादि सूत्रके बदले 'गुरोः अरवतः ह्रस्वस्य०' इत्यादि अधिक बड़ा सूत्र करके (फिर 'ऋलृक्' इस माहेश्वरसूत्रमें) 'प्लुत आदि हों' इस अभिप्रायसे उच्चारित लृकार (आवश्यक न होनेसे) निकाल देना यह बात बड़े बाँसके सम्भेपर चढ़कर लट्वा (चिड़िया अथवा छोटा फल) तोड़ लेनेके समान है।

कदापि नहीं किया जायगा। कारण कि 'अनृतः' अर्थात् 'ह्रस्वऋकारभिन्न वर्णका' ऐसा उस सूत्रमें कहा गया है। अतः 'कृष्ण ३' में जिस प्रकार ऋकारको कदापि प्लुत नहीं होता है उसी प्रकार 'क्लृ३प्तशिखः' में नहीं होगा।

२७. अर्थात् रेफयुक्त जो ह्रस्व ऋकार है उसीको प्लुतका निषेध होगा। 'होतॄ३कारः' में दीर्घ ऋकारको प्लुतका निषेध नहीं होगा।

ए ओङ् ॥ ३ ॥ ऐ औच् ॥ ४ ॥

इदं विचार्यते । इमानि संध्यक्षराणि तपराणि वोपदिश्येरन् । एत् ओतङ् । ऐत् औत्च् इति । अतपराणि वा यथान्यासमिति । कश्चात्र विशेषः ।

संध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणम् ॥ १ ॥

संध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणं कर्तव्यम् ॥

प्लुत्यादिष्वज्विधिः ॥ २ ॥

प्लुत्यादिष्वजाश्रयो विधिर्न सिध्यति । गो३त्रात नौ३त्रात इत्यत्रानचि च [८. ४. ४७] इत्यच उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं न प्राप्नोति । इह,

---

ए, ओ ॥ ३ ॥ ऐ, औ ॥ ४ ॥

(मा. सू. ३, ४) यहाँ यह पूछा जाता है कि ए, ऐ, ओ, औ इन सन्ध्यक्षरोंका उच्चारण प्रत्येकके आगे त् व्यञ्जन लगाकर ' एत् ओत् ङ्, ' ' ऐत् औत् च् ' ऐसा किया जाय, अथवा तकार न लगाकर जैसा उच्चारण किया है वैसा ही उनका उच्चारण किया जाय ?

दोनोंमें भेद क्या है ?

(वा. १) संध्यक्षरोंमें तकार रखनेका फल हो तो तकार आगे लगाकर (संध्यक्षरोंका) उच्चारण (करना चाहिये) ।

संध्यक्षरोंमें तकार रखनेका फल हो तो तकार आगे लगाकर संध्यक्षरोंका उच्चारण करना चाहिये ।

(वा. २) प्लुत स्वरोंके संबंधमें होनेवाले स्वरोंके कार्य न होंगे ।

(तथा तकार लगाकर संध्यक्षरोंका उच्चारण किया जाय तो ए, ओ आदि) प्लुत स्वरोंके संबंधमें होनेवाले स्वरोंके कार्य न होंगे । ' गो ३ त्रात ', ' नौ ३ त्रात ' उदाहरणोंमें " अनचि च " (८।४।४७) सूत्रसे ' ओ ३ ' तथा ' औ ३ ' स्वर न होनेके कारण यर जो तकार है उसका द्वित्व न होगा । उसी प्रकार

---

१. यहाँ ए, ओ इत्यादि दीर्घोंको तकार जोड़ा गया है इसलिए ' तपरस्तत्कालस्य ' (१।१।७०) सूत्रसे दीर्घोंका ही ग्रहण किया जायगा । और एकार इत्यादि प्लुत हों तो उनको अच् संज्ञा नहीं होगी ।

२. यदि तकार न जोड़ा जाय तो एकमात्रिक एकार, ओकार इत्यादिको अच् संज्ञा होकर ह्रस्व संज्ञा होगी । और ' बिभेति ', ' चित्रगु. ' रूपोंमें एकार तथा ओकारको ' ह्रस्व ' (७।४।५९) और ' गोस्त्रियो० ' (१।२।४८) सूत्रोंसे ह्रस्व होते समय एकमात्रिक एकार तथा ओकार होंगे । वे न हों इसलिए यहाँ दीर्घके आगे तकार लगाना चाहिए । ' फल हो ' ऐसा कहनेका कारण यह है कि, ये चारों संध्यक्षर एकमात्रिक रूपमें अस्तित्वमें ही नहीं हैं । इससे एकार आदिको ह्रस्व होते समय एकमात्रिक एकार आदि आदेश होनेका संभव नहीं ।

च प्रत्यङ्ङि३तिकायन उदङ्ङौ३पगव इत्यचि [८. ३. ३२] इति ङमुण्न प्राप्नोति ॥

प्लुतसंज्ञा च ॥ ३ ॥

प्लुतसंज्ञा च न सिध्यति। ऐ३तिकायन औ३पगव। ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः [१.२.२७] इति प्लुतसंज्ञा न प्राप्नोति ॥ सन्तु तर्ह्यतपराणि।

अतपर एच इग्घ्रस्वादेशे ॥ ४ ॥

यद्यतपराण्येच इग्घ्रस्वादेशे [१.१.४८] इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। एचो ह्रस्वादेशशासनेष्वर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वा मा भूदिति। ननु च यस्यापि तपराणि तेनाप्येतद्वक्तव्यम्। इमावैचौ समाहारवर्णौ मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोस्तयोर्ह्रस्वादेशशासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात्कदाचिदिवर्णोवर्णौ मा कदाचिदवर्ण

'प्रत्यङ्ङै ३ तिकायनः', 'उदङ्ङौ ३ पगवः' उदाहरणोंमें ऐ तथा औ स्वर न होनेके कारण अच् आगे रहनेसे होनेवाला 'ङमुट्' (ङ्) आगम (८।३।३२) न होगा। (इतनाही नहीं, तो)

(वा. ३) और प्लुतसंज्ञा (सिद्ध न होगी)।

प्लुतसंज्ञा सिद्ध न होगी। 'ऐ ३ तिकायन', 'औ ३ पगव' उदाहरणोंमें ('ऐ' कार और 'औ' कारको) "ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः" (१।२।२७) सूत्रसे (त्रिमात्र स्वरके बारेमें बतायी गयी) प्लुतसंज्ञा भी नहीं होगी। (क्योंकि तीन मात्राओंसे युक्त 'ए' कारको अथवा 'ओ' कारको सूत्रके उच्चारणसे स्वर नहीं कहा जायगा।)

ठीक। तो ये दोष टालनेके लिए 'त' कार आगे न लगाना।

(वा. ४) यदि तकारयुक्त उच्चारण न किया जाय तो "एच इग्घ्रस्वादेशे" (सूत्र अवश्य पढ़ना चाहिये)।

यदि तकारयुक्त उच्चारण न किया जाय, तो "एच इग्घ्रस्वादेशे" (१।१।४८) सूत्र अवश्य पढ़ना चाहिये। (वह नहीं निकाल दिया जा सकता है।)

सो किसलिए?

इसलिए कि ए, ऐ, ओ तथा औका ह्रस्व आदेश करते समय आधा 'ए' कार और आधा 'ओ' कार न हों।

पर 'त' कार लगाकर उच्चारण करनेवालेको भी ("एच इग्घ्रस्वादेशे"—१।१।४८) यह (सूत्र) अवश्य ही पढ़ना चाहिये। कारण कि ऐ और औ संयुक्त वर्ण हैं; उनकी एक मात्रा 'अ' वर्णकी है और दूसरी 'इ' वर्णकी अथवा 'उ' वर्णकी है। अतः उनका ह्रस्व आदेश करते समय कदाचित् अकार होगा और कदाचित् इकार अथवा उकार होगा; उनमेंसे 'अ' क़ार कदापि न हो

मूदिति। प्रत्याख्यायत एतत्। ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वादिति। यदि प्रत्याख्यानपक्ष इदमपि प्रत्याख्यायते। सिद्धमेङः सस्थानत्वादिति। ननु चेङः सस्थानतरावर्ध

(इसलिए "एच इग्घ्रस्वादेशे" सूत्र अत्यन्त आवश्यक है)।

परन्तु (ऐ और औ के लिए) यह सूत्र आवश्यक नहीं ऐसा बताया गया है (१।१।४८, वा. ४)। इसका कारण यह दिया गया है कि 'ऐ और औमें अगले वर्णका अर्थात् इकार अथवा उकारका अधिक अंश है'।

आपने (तपर करनेवालोंने) यदि इस सूत्रप्रत्याख्यानका पक्ष लिया हो तो वह 'ऐ' और 'औ' के बारेमें ही क्यों?

('ए' कार और 'ओ' कारके लिए भी) यह सूत्र आवश्यक नहीं ऐसा बताया गया है। (और उसका कारण यह है कि) 'ए' और 'ओ' को होनेवाला ह्रस्व आदेश इकार अथवा उकार ही होगा; क्योंकि ('इ' कारका) 'ए' कारके साथ एक ही (तालु) स्थान है, वैसेही ('उ' कारका) 'ओ' कारके साथ भी एक ही (ओष्ठ) स्थान है।

पर (स्थानके कारण प्राप्त सान्निध्यसे ह्रस्व आदेश ठहराया जाय तो) आधा एकार अथवा आधा ओकार स्थानसे 'इ' कार और 'उ' कारकी अपेक्षा भी अधिक निकटके होते हैं।

---

३. द्विमात्रिकके आगे एत्, ओत् ऐसा तकार लगानेसे ए, ओ इत्यादि एकमात्रिकों-को अच् तथा ह्रस्व ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। अतः एकमात्रिक एकार आदिकी निवृत्ति होनेके लिए यद्यपि सूत्र नहीं करना पडा तो भी अकारकी निवृत्ति होनेके लिए सूत्र करना ही पडता है।

४. तब ऐ और औ में अकारका भाग इकार उकारके भागकी अपेक्षा कम होनेके कारण ऐ और औ को अकारसे इकार उकार ही अधिक समीपके होते हैं। अत. उनको ह्रस्व होते समय 'स्थानेऽन्तरतमः' (१।१।५०) परिभाषासे वे ही होंगे, अकार नहीं।

५. एकार और ओकारका स्थान अकारके साथ मेल नहीं खाता इसलिए उनको ह्रस्व होते समय अकार नहीं होता है। एकारका कण्ठतालुस्थान नहीं। उसका शुद्धतालुस्थान है। उसी तरह ओकारका कण्ठोष्ठस्थान नहीं। उसका शुद्ध ओष्ठस्थान है। इस प्रकार यहाँ भाष्यकारने समझ लिया है।

६. एकार और इकार इन दोनोंका तालुस्थान है सही; पर उनमेंसे एकारका जो तालुस्थान है वह तालुका भाग कंठके समीपका है। एकमात्रिक एकारका वैसा ही है। और इकारका जो तालुस्थान है वह तालुका भाग दन्तके समीपका है। एकार आदिका उच्चारण हमेशा दीर्घ अर्थात् द्विमात्रिक किया जाता है। आधा एकार एकमात्रिक एकार है और आधा ओकार एकमात्रिक ओकार है।

एकारोऽर्ध ओकारश्च। न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत्। ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यद्यजतं ते ए अन्यदिति। पार्षदकृतिरेषा तत्रभवतां नैव हि लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति॥

एकादेशे दीर्घग्रहणम्॥ ५॥

एकादेशे दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्। आद्गुणो [६.१.८७] दीर्घः। वृद्धिरेचि [८८] दीर्घ इति। किं प्रयोजनम्। आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्र-

---

किन्तु वे शास्त्रमें नहीं दिये हैं (तो क्या करें ?)। वे यदि शास्त्रमें दिये होते, तो जिस प्रकार 'अ' कार और 'इ' कारका उच्चारण किया जाता है उसी प्रकार उनका भी उच्चारण कियाँ जाता।

परन्तु सामवेदका अध्ययन करनेवालोंमेंसे सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखाओंके अनुयायी आधा एकार और आधा ओकार पढ़ते हैं। जैसे, "सुजाते एँ अश्व सूनृते", "अध्वर्यो ओँ अद्रिभिः सुतम्", "शुक्रं ते एँ अन्यत्", "यजतं ते एँ अन्यत्" ये वैदिक वाक्य देखें। यहाँ आधा 'ए' कार और आधा 'ओ' कार दीख पड़ते हैं।

पर यह आधा 'ए' कार अथवा आधा 'ओ' कार केवल प्रातिशाख्य-कारोंकी कल्पना है। क्या लोकमें अथवा क्या अन्य किसी वेदमें, कहीं भी आधा 'ए' कार अथवा आधा 'ओ' कार दिखायी नहीं देता है।

(वा. ५) एकादेश बतानेवाले सूत्रोंमें 'दीर्घ' शब्द (अधिक) रखना पड़ेगा।

(इसके अतिरिक्त, इन प्रस्तुत सूत्रोंमें ए, ऐ, ओ और औके आगे 'त' कार न लगाया जाय तो) एकादेश बतानेवाले सूत्रोंमें 'दीर्घ' शब्द (अधिक) रखना पड़ेगा। जैसे, "आद् गुणो दीर्घः", "वृद्धिरेचि दीर्घः" ऐसे सूत्र (६।१।८७, ८८) करने पड़ेंगे।

इसका क्या प्रयोजन है ?

---

७. कारण कि द्विमात्रिक ए आदिके उच्चारणमें एकमात्रिकके उच्चारणमें लाघव है। इसीलिए अ, इ, उ इत्यादि वर्णोंका उच्चारण एकमात्रिक ही किया गया है।

८. इस शाखामें उद्गाता नामका ऋत्विज जब सामगायन करता है तब गाते समय उसके मुँहसे आधे एकारका उच्चारण किया जाता है। गानेकी झलकमें एकारका अधूरा उच्चारण हुआ केवल इसीलिए वह स्वतंत्र वर्ण नहीं ठहरता है।

चतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति । खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः । खट्वा उदकं खट्वोदकम् । खट्वा ईषा खट्वेषा । खट्वा ऊढा खट्वोढा । खट्वा एलका खट्वेलका । खट्वा ओदनः खट्वौदनः । खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः । खट्वा औपगवः खट्वौपगवः ॥ तत्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । उपरिष्टाद्योगविभागः करिष्यते । अकः सवर्णे एको भवति । ततो दीर्घः । दीर्घश्च स भवति यः स एकः पूर्वपरयोरित्येवं निर्दिष्ट इति । इहापि तर्हि प्राप्नोति । पशुम् विद्धम् पचन्तीति । नैष दोषः । इह

(जहाँ एकादेश हुआ है वहाँ जो दो स्थानी मिलकर एकादेश हुआ हो उन) दो स्थानियोंकी मात्राएँ मिलाकर तीन अथवा चार मात्राएँ हों, तो उनके स्थानमें होनेवाले आदेश गुणकी निकटतासे तीन अथवा चार मात्राओंसे युक्त (होंगे वे) न हों। जैसे, खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्र, खट्वा उदकं खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वेलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगवः।

तो फिर एकादेश बतानेवाले उस सूत्र में ' दीर्घ ' शब्द (अधिक) रखना चाहिये।

न रखनेसे भी काम चलेगा। (गुणवृद्धि बतानेवाले सूत्रोंके—६।१।८७,८८) आगे (दीर्घ कहनेवाले सूत्रका—६।१।१०१) विभाग किया जायगा। ' अकः सवर्णे ' यह पहला भाग है, उसका अर्थ यह है कि ' अक् ' स्वरके आगे सवर्ण स्वर होनेपर दोनों मिलकर एक आदेश होता है। उसके पश्चात् दूसरा भाग है ' दीर्घः '; उसका अर्थ यह है कि ' एकः पूर्वपरयो. ' (६।१।८४) अधिकारमें जो किसी भी सूत्रसे एकादेश बताया है वह एकादेश दीर्घ होता है।

पर वैसा करनेसे ' पशुमं ', ' विद्धम ', ' पचन्ति ' इन उदाहरणोंमें भी (जो

---

९ यहाँ आकारको दो मात्राएँ हैं और इकारकी एक मात्रा है। इन दो स्थानियोंकी कुल तीन मात्राएँ होती हैं। उन दो वर्णोंके स्थानपर होनेवाला जो गुण एकार है वह स्थानीके समान तीन मात्राओंसे युक्त अर्थात् प्लुत होने लगेगा। पर 'एओङ्', 'ऐऔच्' सूत्रोंमें एकार आदिके आगे तकार जोड़नेसे यह दोष नहीं आता है। कारण कि वहा ए, ओ इत्यादि संध्यक्षरोंका उच्चारण द्विमात्र किया गया है। तपरकरण किया है इसलिए ' तपरस्तत्कालस्य ' (१।१।७०) सूत्रके बलपर उन द्विमात्र एकार आदिसे त्रिमात्र चतुर्मात्र एकार आदिका ग्रहण नहीं होता है। तब उन त्रिमात्र चतुर्मात्र एकार आदिको एङ् और ऐच् नहीं कहा जाता है और इससे उनको ' वृद्धिरादैच् ' (१।१।१) और अदेङ् गुण '(१।१।२) सूत्रोंसे वृद्धि तथा गुण संज्ञाएँ नहीं होती है।

१०. यहाँ ' आ ' कारकी दो मात्राएँ और अगले ईकारकी दो मात्राएँ मिलकर चार मात्राएँ होती है। तब उनके स्थानपर होनेवाला गुण चार मात्राओंका एकार होगा।

११. ' पशुम् ' में ' पशु ' शब्दके आगे ' अम् ' प्रत्यय लगानेसे ' पशु ' शब्दमेंका उकार और ' अम् ' प्रत्ययमेंका अकार इन दो वर्णोंके स्थानपर ' अमि पूर्वः ' (६।१।१०७) सूत्रसे ह्रस्व

तावत्पशुमित्यम्येक इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनं यथाजातीयकः पूर्वस्तथाजातीयक उभयोर्यथा स्यादिति। विद्धमिति पूर्व इत्येवानुवर्तते। अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नानेन संप्रसारणस्य दीर्घो भवतीति यदयं हल उत्तरस्य संप्रसारणस्य दीर्घत्वं शास्ति। पचन्तीत्यतो गुणे पर इतीयता

एकादेश होता है, वह भी दीर्घ) होने लगेगा।

यह दोष नहीं आयेगा। ('अमि पूर्वः'—६।१।१०७—सूत्रसे पूर्वरूप होकर सिद्ध होनेवाला) 'पशुम्' उदाहरण लीजिये; ('अमि पूर्वः' सूत्रके स्थानमें) 'अम्येकः' ऐसा छोटा सूत्र करनेसे इष्ट कार्य सिद्ध होते हुए भी जिस कारणसे आचार्य पाणिनि 'अमि पूर्वः' यह सूत्र करते हैं, उसी कारणसे उनका यह हेतु दिखायी देता है कि जिस प्रकारका पिछला स्वर है उसी प्रकारका एक आदेश दोनों स्वरोंके स्थानमें हो[१३]। 'विद्धम्' उदाहरण लीजिये। (यहाँ 'ग्रहिज्या०'—६।१।१६— सूत्रसे संप्रसारण हुआ है और बादमें 'संप्रसारणाच्च'—६।१।१०८— सूत्रसे पूर्वरूप हुआ है। 'संप्रसारणाच्च' सूत्रमें भी) 'पूर्वः' शब्द पिछले सूत्रसे आता ही है। (अतः यहाँ भी 'पशुम्' के संबंधमें ऊपर दिये हुए विधानके अनुसार ही सब कुछ समझा जाय।) अथवा आचार्य (पाणिनि) का मत यह दीख पड़ता है कि ('संप्रसारणाच्च' सूत्रसे पूर्वरूप एकादेश करते समय) संप्रसारणको दीर्घ न किया जाय, क्योंकि उन्होंने 'हलः' (६।४।२) सूत्र करके व्यंजनके आगे होनेवाले संप्रसारणको दीर्घ कहा है। अब 'पचन्ति' उदाहरण लीजिये। यहाँ 'अतो गुणे' (६।१।९७) सूत्रसे 'पच' का 'अ' कार और 'अन्ति' का 'अ' कार ये दोनों मिलकर 'पर' का अर्थात् अगले 'अन्ति' के 'अ' कार का रूप होता है। ('अतो गुणे' में 'एङि पररूपम्'—६।१।९४—इस पिछले

उकार एकादेश हुआ है। उसी तरह 'विद्धम्' में 'व्यध्' धातुके आगे 'क्त' प्रत्यय और व्यध् धातुमेंके यकारको 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) सूत्रसे संप्रसारण इकार होनेपर वह इकार और उसके आगेका अकार इन दो वर्णोंके स्थानपर 'संप्रसारणाच्च' (६।१।१०८) सूत्रसे ह्रस्व इकार एकादेश हुआ है। तथा 'पचन्ति' में 'पच्' धातुके आगे लट् प्रत्यय, उसको झि आदेश, उस झकारको अन्त् आदेश और बीचमें शप् प्रत्यय होकर पच् + अ + अन्ति यह स्थिति होते हुए उनमेंसे दो अकारोंके स्थानपर 'अतो गुणे' (६।१।९७) सूत्रसे ह्रस्व अकार एकादेश हुआ है।

१२. 'एक' शब्द 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८४) अधिकारमेंके 'एक' शब्दका अनुवाद है। वास्तवमें देखा जाय तो 'अमि' पदसे ही इष्ट कार्य सिद्ध होता है। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६।१।१०२) सूत्रमेंसे 'पूर्वसवर्ण.' पदकी अनुवृत्ति होगी।

१३. तब अवश्य ही 'पूर्व' शब्द के बलपर 'एकादेश दीर्घ होता है' इस सामान्य नियमका यहाँ बाध होगा।

सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यद्रूपग्रहण करोति तस्यैतत्प्रयोजनं यथाजातीयक परस्य रूप तथाजातीयकमुभयोर्यथा स्यादिति ॥ इह तर्हि खट्वृर्श्यः मालर्श्य इति दीर्घवचनादकारो नानान्तर्यदिकारौकारौ न। तत्र को दोषः। विगृहीतस्य श्रवण प्रसज्येत। न ब्रूमो यत्र क्रियमाणे दोषस्तत्र कर्तव्यमिति। किं तर्हि। यत्र क्रियमाणे न दोषस्तत्र कर्तव्यमिति। क्व च क्रियमाणे न दोषः। संज्ञाविधौ। वृद्धिरादैज् [१.१.१] दीर्घः। अदेङ्गुणो [२] दीर्घ इति॥ तत्तर्हि दीर्घग्रहणं

सूत्रसे 'पररूपम्' शब्द प्राप्त होता है।) 'पररूपम्' के बदले 'परः' उचित होनेपर भी (आचार्य पाणिनि) 'रूप' शब्दका उच्चारण अधिक करते हे उसका यह प्रयोजन दीख पड़ता है कि, जिस प्रकारका अर्थात् जितनी मात्राओंका अगले स्वरका रूप है उसी प्रकारका रूप दोनोंका मिलकर हो।

ठीक। (रहने दीजिये ये उदाहरण।) खट्वर्श्यः, मालर्श्य- उदाहरण लीजिये। यहाँ 'आ' कार और 'ऋ' कारके स्थानमें 'एकादेश (गुण) दीर्घ होता है' ऐसा कहनेसे 'आ' कार स्थानीकी निकटका होनेपर भी 'अ' कार नहीं होगा, और निकटका न होनेसे 'ए' कार अथवा 'ओ' कार नहीं होगा।

फिर इससे क्या बिगड़ता है?

संधि न होते हुए भी दोनों स्वरोंका श्रवण होगा, (क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है)।

('एकादेश करना आवश्यक होते हुए भी दीर्घका ग्रहण किया जाय' इस वार्तिकका अर्थ हम यों नहीं लेते है कि) जिस सूत्रमें ('एकादेश दीर्घ होता है') यह बतानेसे दोष आता है, वहाँ ('एकादेश दीर्घ होता है') ऐसा बताया है।

तो फिर आपका कहना क्या है?

हम कहते है कि जहाँ ('एकादेश दीर्घ होता है' यह) कहनेसे दोष नहीं आता है, वहाँ ('एकादेश दीर्घ होता है' ऐसा) कहा जाय, (और वहाँ 'दीर्घ' शब्द रखा जाय।)

कहाँ ('दीर्घ' शब्द) रखनेसे दोष नहीं आता है?

जहाँ ('वृद्धि' और 'गुण') संज्ञाओंका स्वरूप कहा गया है, उस सूत्रमें। उदाहरणार्थ, 'वृद्धिरादैज् दीर्घ.' (१।१।१), 'अदेङ् गुणो दीर्घः' (१।१।२) इस प्रकारके सूत्र किये जायँ।

---

१४ यहाँ 'खट्वा' में का दीर्घ 'आ' कार और उसके आगेका ऋकार इन दो वर्णोंके स्थानपर एकादेश गुण होता है। अ, ए, ओ इन तीन गुणोंमेंसे ऋकारके निकटका कोई नहीं। ऋकारका मूर्धस्थान है और अ, ए, ओ इन तीनोंमेंसे मूर्धस्थान किसीका भी नहीं। पर कण्ठस्थानका अकार आकारके निकटका है इसलिए वही यहाँ 'आद् गुण' (६।१।८७) सूत्रसे आदेश होता है और वह 'उरण् रपर' (१।१।५१) सूत्रसे रपर होता है अर्थात् यहाँ अर् गुण होता है।

कर्तव्यम्। न कर्तव्यम्। कस्मादेवान्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति। तपरे गुणवृद्धी। ननु च तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः। नेत्याह। तादपि परस्तपर इति। यदि तादपि परस्तपर ऋदोरप् [३. ३. ५७] इतीहैव स्यात्। यवः स्तवः। लवः पव इत्यत्र न स्यात्। नैष तकारः। कस्तर्हि। दकारः। किं दकारे प्रयोजनम्। अथ किं तकारे। यथसंदेहार्थ-

तो रखिये वहाँ 'दीर्घ' शब्द (और सूत्रोंका स्वरूप बदल दीजिये)।

'दीर्घ' शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है।

तो फिर, तीन किंवा चार मात्राओंसे युक्त स्थानियोंके स्थानमें (जहाँ 'गुण' अथवा 'वृद्धि' आदेश होंगे, वहाँ) वे गुण निकटताके कारण तीन अथवा चार मात्राओंसे युक्त आदेश क्योंकर न होंगे?

इसलिए कि (गुण और वृद्धि संज्ञाएँ कहनेवाले सूत्रोंमें) गुण और वृद्धि (स्वरों) का उच्चारण 'त्' लगाकर किया गया है।

पर 'तपर' का अर्थ 'त' कार जिसके आगे है ऐसा ही किया जाय न?

हम कहते हैं कि वैसा ही अर्थ किया जाय सो बात नहीं; तो 'त' कारके आगे जो रहता है वह 'तपर' है यह भी अर्थ किया जाय।

यदि तकारके आगे रहनेवाले वर्णको भी 'तपर' कहा जाय तो "ऋदोरप्" (३।३।५७) सूत्रसे 'अप्' प्रत्यय 'यवः', 'स्तवः' इन्हीं स्थानोंपर होगा, 'लवः', 'पवः' इन स्थानोंपर अप् प्रत्यय नहीं होगा।

(पर 'ऋदोरप्' सूत्रमें ऋकारके आगे) 'त्' व्यंजन नहीं रखा गया है।

तो फिर क्या व्यंजन लगाया गया है?

'द्' वर्ण।

'द्' वर्ण लगानेका क्या कोई विशेष उद्देश है?

'त्' वर्ण लगानेका भी क्या विशेष उद्देश है? संशय न आ जाय इस

१५. 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) सूत्रमें आत् इस तकारके आगे एच् शब्दका उच्चारण किया गया है। उसी प्रकार 'अदेङ् गुणः' (१।१।२) सूत्रमें अत् इस तकार के आगे एङ् शब्दका उच्चारण किया गया है।

१६. ऋत् इस तकारके आगे ह्रस्व उकारका उच्चारण करके उसकी पंचमी 'ऋदोः' हुई है। यह ह्रस्व उकार तकारके आगे उच्चारित होनेके कारण उसके द्वारा दीर्घ ऊकारका ग्रहण नहीं होगा। तब यु, स्तु इन ह्रस्व उकारान्त धातुओंके आगे ही अप् प्रत्यय होगा; लू, पू इन दीर्घ ऊकारान्त धातुओंके आगे अप् प्रत्यय नहीं होगा।

स्तकारो दकारोऽपि। अथ मुखसुखार्थस्तकारो दकारोऽपि॥

इदं विचार्यते। य एते वर्णेषु वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतय एतेषामवयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति। कुतः पुनरियं विचारणा। इह समुदाया अप्युपदिश्यन्तेऽवयवा अपि। अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः। तद्यथा। वृक्षः प्रचलन्सहावयवैः प्रचलति। तत्र समुदायस्थस्यावयवस्यावयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति जायते विचारणा। कश्चात्र विशेषः।

हेतुसे 'त्' वर्ण लगाया गया हो, तो 'द्' वर्ण भी इसी कारणसे लगाया गया है ऐसा कहा जायगा। यदि बोलनेमें सुलभता होनेके लिए 'त्' वर्ण लगाया गया हो, तो 'द्' वर्ण भी उसीके लिए लगाया गया है ऐसा कहा जायगा।

यहाँ यह विचार निर्माण होता है कि, इस वर्णसमूहमेंसे कुछ वर्णोंके अवयव अन्य स्वतंत्र वर्णोंके समान ही दिखायी देते है, तब वर्णके वे अवयव (स्वतंत्र वर्ण जिस प्रकार समुदायके अवयव लिये जाते हे) वैसे ही लिए जायँ अथवा नहीं?

यह प्रश्न क्यों उपस्थित किया जाय?

उपस्थित होनेका कारण यही है कि, (इस वर्णसमूहमें संपूर्ण स्वर ए, ऐ आदि) वर्णसमुदायोंका भी उच्चारण किया गया है तथा अ, इ, उ आदि अवयवोंका भी (स्वतन्त्र उच्चारण किया गया है)। (वास्तवमें देखा जाय तो) समुदायमें अवयव आते ही हैं। जैसे, पेड़ हिलने लगता है तब उसके अवयव भी हिलने लगते है। अतः समुदायरूप वर्णमें उस वर्णके साथ सहजतासे उच्चारित जो स्वतंत्र वर्णसदृश अवयव है वह स्वतंत्रतासे वर्ण लिया जाता है अथवा नहीं यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है।

(लिया जाय अथवा न लिया जाय) इन दोनोंमें भेद क्या है?

---

१७. बीचमें तकार न रखा जाय तो ऋको यण् होकर रोरप् ऐसा सूत्र होगा। वैसा किया जाय तो दीर्घ ॠ उच्चारित है अथवा ह्रस्व ऋ उच्चारित है इस प्रकारका सन्देह निर्माण होगा। उस सन्देहको दूर करनेके लिए तकार रखा गया है।

१८. बीचमें व्यञ्जन रखे बिना ऋ–ढ के उच्चारणमें जो कुछ थोड़े कष्ट होते हैं वे उनमें व्यञ्जन रखे उच्चारणमें नहीं होते।

१९. कृत, हृत इत्यादि शब्दोंमेंके ऋकारमें जो भीतरका भाग है वह कर्ता आदिमेंके रेफ व्यञ्जनके समान दिखायी देता है। तब रेफ व्यञ्जनके संबंधमें होनेवाले कार्य जैसे कर्ता आदि शब्दोंमें होते हैं वैसे कृत आदि शब्दोंमें ऋकारका जो रेफ व्यञ्जन जैसा दिखायी देनेवाला मध्यभाग है उसको रेफव्यञ्जन समझकर वे कार्य होते हैं अथवा नहीं ऐसा सन्देह निर्माण होता है। इसी प्रकार ऌ स्वरमें लकार जैसा भाग दीख पड़ता है। ए, ओ इत्यादि सन्ध्यक्षरोंमें अकार,

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्संध्यक्षरे समानाक्षरविधिप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्संध्यक्षरे समानाक्षराश्रयो विधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः। अग्ने इन्द्रम्। वायो उदकम्। अकः सवर्णे दीर्घः [६.१.१०१] इति दीर्घत्वं प्राप्नोति ॥

दीर्घे ह्रस्वविधिप्रतिषेधः ॥ ७ ॥

दीर्घे ह्रस्वाक्षराश्रयो विधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः। ग्रामणीः। आलूय। प्रलूय। ह्रस्वस्य पिति कृति तुग्भवतीति तुक्प्राप्नोति। नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवतीति यदयं दीर्घाच्छे तुकं शास्ति। नैतदस्ति

(वा. ६) यदि वर्णका एक भाग स्वतन्त्र वर्ण लिया जाय, तो संयुक्त अक्षरोंमें समान अक्षरोंको बताये हुए कार्योंका निषेध (करना चाहिये)।

यदि वर्णका एक भाग स्वतंत्र वर्ण लिया जाय, तो संयुक्त अक्षरोंमेंके विभक्त अक्षरोंको 'उन जैसे अक्षरोंको बताये हुए कार्य' प्राप्त होंगे और उनका निषेध करना चाहिये। जैसे, 'अग्ने इन्द्रम्', 'वायो उदकम्' लें। (यहाँ ए और ओ वर्णोंमेंके इकारे और उकारका 'इन्द्रम्' और 'उदकम्' के इकार और उकारके साथ) 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) सूत्रसे सवर्ण दीर्घ होने लगेगा।

(वा. ७) दीर्घ स्वरके ह्रस्व कार्यका निषेध (करना चाहिये)।

उसी प्रकार दीर्घ स्वरके एकमात्रिक भागको भी ह्रस्व स्वरके बारेमें बताया हुआ कार्य प्राप्त होगा और उसका निषेध करना चाहिये। उदाहरणार्थ, 'ग्रामणीः', 'आलूय', 'प्रलूय' उदाहरणोंमें "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" (६।१।७१) सूत्रसे (पकार-'इत्'-युक्त कृत् प्रत्यय आगे रहनेपर ह्रस्व स्वरके संबंधमें बताया हुआ) तुक् आगम होता है, वह तुक् आगम (ईकार और ऊकारके अगले भागको) होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता है। क्योंकि छकार आगे रहनेपर दीर्घ स्वरको तुक् आगम आचार्य पाणिनि बताते हैं (६।१।७५), तो इस विधानसे यह निश्चित होता है कि ह्रस्व स्वरके बारेमें बताया हुआ कार्य दीर्घ स्वरके एकमात्रिक (अगले) भागको नहीं होता है।

ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। पदान्ताद्वा [६.१.७६] इति विभाषां वक्ष्यामीति। यत्तर्हि योगविभागं करोति। इतरथा हि दीर्घात्पदान्ताद्वेत्येव ब्रूयात्॥ इह तर्हि खट्वाभिः मालाभिः अतो भिस ऐस् [७. १. ९] इत्यैस्भावः प्राप्नोति। तपरकरणसामर्थ्यान्न भविष्यति॥ इह तर्हि याता वाता अतो लोप आर्धधातुके [६. ४. ४८] इत्यकारलोपः प्राप्नोति। ननु चात्रापि

ऊपरका ज्ञापक निष्पन्न नहीं होता है। (दीर्घ स्वरको छकार आगे रहनेपर तुक् कहनेके लिए 'दीर्घात्') यह (भिन्न सूत्र) बतानेमें आचार्यजीका अन्य हेतु है।

वह कौनसा?

'पदके अन्तमें रहनेवाले दीर्घ स्वरको छकार आगे रहनेपर तुक् आगम विकल्पसे होता है' (६।१।७६) ऐसा हम कहेंगे। (तब 'दीर्घ' शब्दका उच्चारण करना ही चाहिये। 'वह उच्चारण हम पहले सूत्रमें करेंगे' यह आचार्यजीका अभिप्राय दिखायी देता है।)

पर वैसा रहनेपर भी 'दीर्घात्' (६।१।७५) और 'पदान्ताद्वा' (६।१।७६) ये दो भिन्न सूत्र करनेका प्रयोजन क्या है? जब कि आचार्यजी भिन्न भिन्न सूत्र करते हैं, तो उनका अभिप्राय यह दीख पड़ता है कि, ह्रस्वके बारेमें बताया हुआ तुक् दीर्घ स्वरका अवयव जो ह्रस्व स्वरसदृश भाग है उसको नहीं होता है। यदि होता तो 'दीर्घात्पदान्ताद्वा' ऐसा एकही सूत्र आचार्यजीको करना चाहिये था।

ठीक, तो 'खट्वाभिः', 'मालाभिः' उदाहरणोंमें 'आ'-कारका अवयव जो ह्रस्व 'अ'-कार है उसके निमित्तसे अगले 'भिस्' प्रत्ययको 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) सूत्रसे 'ऐस्' आदेश होने लगेगा।

('अतः' में) 'त' वर्ण रखा गया है, उसके बलपर 'आ' कारके अगले 'भिस्' प्रत्ययको 'ऐस्' आदेश नहीं होगा।

ठीक, तो 'याता', 'वाता' उदाहरणोंमें 'अतो लोप आर्धधातुके' (६।४।४८) सूत्रसे आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर कहा हुआ अकारलोप 'आ' कारका अवयव जो 'अ' कार है उसको होने लगेगा।

---

२२. 'पदान्ताद्वा' (६।१।७६) इस अगले सूत्रमें 'दीर्घात्' पदकी अनुवृत्ति होनी चाहिये। नहीं तो 'दधिच्छाया' में ह्रस्वको ही तुक् आगम विकल्पसे होने लगेगा। अत. उस अनुवृत्ति के लिए 'दीर्घात्' सूत्र किया है।

२३. 'खट्वाभिः' इत्यादि उदाहरणोंमें दीर्घ अकारके आगेके 'भिस्' प्रत्ययको 'ऐस्' आदेश न हो इसलिए 'अतः' ऐसा ह्रस्व अकारको तकार जोड़ा गया है। पर यदि दीर्घमेंके अगले ह्रस्व मात्राको लेकर यहाँ 'ऐस्' आदेश होगा तो जोड़ा हुआ तकार व्यर्थ होगा।

तपरकरणसामर्थ्यादेव न भविष्यति। अस्ति ह्यन्यत्तपरकरणे प्रयोजनम्। किम्। सर्वस्य लोपो मा भूदिति। अथ क्रियमाणेऽपि तपरे परस्य लोपे कृते पूर्वस्य कस्मान्न भवति। परलोपस्य स्थानिवद्भावादसिद्धत्वाच्च। एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नाकारस्थस्याकारस्य लोपो भवतीति यदयमातोऽनुपसर्गे कः [३. २. ३] इति ककारमनुबन्धं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। कित्करणे एतत्प्रयोजनं

पर यहाँ भी 'त' कार रखनेके बलपर 'आ' कारके अवयवभूत 'अ'कारका लोप नहीं होगा।

यहाँ 'त' कार रखनेका अन्य उपयोग है, (इससे वह 'त' कार निरर्थक नहीं है)।

वह कौनसा ?

यह कि सबका अर्थात् 'आ' कारका लोप न हो[२४]।

पर यदि 'त' कार रखनेसे 'आ' कारका अगला भाग जो 'अ' कार है उसीका केवल लोप हो, तो वह होनेपर शेष 'आ' कारका बचा हुआ पूर्वभाग जो 'अ' कार है उसका फिर लोप क्यों न हो[२५] ?

अगला भाग जो 'अ' कार है उसके लोपको स्थानिवद्भाव (१।१।५७) होगा। और वह लोप 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२) सूत्रसे असिद्ध भी होगा। (उससे 'अ' कार मानो बीचमें होनेपर पूर्वभाग जो 'अ' कार है उसका लोप नहीं होगा।)

ठीक, तो हम कहें कि, जब कि 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) सूत्रसे कहे हुए 'अ' प्रत्ययको 'क' कार इत् लगाया है तो आचार्य (पाणिनि) की कृतिसे यह अनुमान निकलता है कि 'आ' कारमेंका अवयव जो 'अ' कार है उसका 'अ' कारके रूपमें लोप नहीं होता है।

यह अनुमान कैसे निकलता है ?

'क' कार इत् लगानेका उपयोग यह है कि 'कित्' प्रत्यय आगे रहनेपर होनेवाला जो 'आ' कारका लोप (६।४।६४) है वह (पीछे रहनेवाले 'आ' कारका) हो। 'आ' कारमेंका अवयव जो 'अ' कार है उसका यदि लोप[२६] होने लगे, तो 'क'

---

२४. तकार लगाये बिना यदि 'अस्य लोपः' ऐसा सूत्र किया जाय तो उस अकारसे सवर्ण दीर्घ आकारका भी ग्रहण होकर (१।१।६९) पूरे आकारका लोप होगा। वह न होके उसमेंके सिर्फ अगले भागका ही लोप तपरकरणसे होगा।

२५. यदि पुनः लोप हो तो तपरकरण किया जाय अथवा न किया जाय तो भी रूप ज्यों का त्यों रहकर तपरकरण व्यर्थ होगा।

२६. 'अतो लोपः' (६।४।४८) सूत्रसे कहा हुआ लोप। इस लोपका निमित्तमात्र

कितीत्याकारलोपो यथा स्यादिति। यदि नाकारस्थस्याकारस्य लोपः स्यात्कि-
त्करणमनर्थकं स्यात्। परस्याकारस्य लोपे कृते द्वयोरकारयोः पररूपे हि सिद्धं
रूपं स्यात् गोदः कम्बलद इति। पश्यति त्वाचार्यो नाकारस्थस्याकारस्य लोपो
भवतीत्यतः ककारमनुबन्धं करोति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। उत्तरार्थमेतत्स्यात्।
तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः [३. २. ५] इति। यत्तर्हि गापोष्टक् [३. २. ८]
इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति॥

एकवर्णवच्च॥ ८॥

एकवर्णवच्च दीर्घो भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। वाचा तरतीति

प्रत्ययमें 'क' कार इत् करनेका कुछ प्रयोजन ही न रहेगा। 'आ'कारमेंका अवयव जो 'अ'कार है उसका लोप होनेपर बचा हुआ दूसरा अवयव जो 'अ'कार है वह और प्रत्ययका 'अ' कार उन दोनोंके स्थानपर पररूप (६।१।९७) अर्थात् 'अ' कार होके 'गोदः', 'कम्बलदः' इत्यादि रूप सिद्ध होंगे। अतः 'आ' कारमेंका अवयव जो 'अ'कार है उसका 'अ'कारके नाते लोप नहीं होता है ऐसा ही आचार्य मानते हैं; और इसीलिए वे ('क' प्रत्ययमें) 'क' कार इत्संज्ञक लगाते हैं।

ऊपर दिया गया ज्ञापक ठीक नहीं है। 'क' कार इत्संज्ञक लगानेका उपयोग (यद्यपि 'आतोऽनुपसर्गे कः'—३।२।३—सूत्रमें नहीं हुआ, तो) 'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' (३।२।५) इस अगले सूत्रमें होता ही है[२७]।

तो फिर 'गापोष्टक्' (३।२।८) सूत्रमें 'टक्' प्रत्ययको जो 'क' कार इत्संज्ञक लगाया गया है उसका तो ('आ' कारके लोपके सिवा) दूसरा कोई उपयोग नहीं है। (वह निरर्थक ही है; और उससे अनुमान निकाला ही जायगा कि 'आ' कारका अवयव जो 'अ' कार है उसका 'अ' कारके रूपमें 'अतो लोपः'—६।४।४८—इत्यादि सूत्रोंसे लोप नहीं होता है।)

(वा ८) और (दीर्घ स्वर) एकवर्णके समान (समझा जाय)।

इसके अतिरिक्त दीर्घ स्वर (यद्यपि वर्णद्वयात्मक संयुक्त स्वर हो, तो भी) एक ही वर्ण समझा जाय ऐसा ही कहना चाहिये।

सो किस लिए?

(वह इस लिए कि एक दीर्घ स्वरसे युक्त वाच् आदि शब्दोंके आगे वे

आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय है। उस प्रत्ययको ककार इत्संज्ञक चाहिये ऐसा आग्रह नहीं।

२७. 'तुन्दपरिमृजः' उदाहरणमें 'मृज्' धातुके ऋकारको 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) सूत्रसे वृद्धि प्राप्त होती है। तथा 'शोकापनुद' उदाहरणमें 'नुद' धातुके उकारको 'पुगन्त' (७।३।८६) सूत्रसे गुण प्राप्त होता है। परन्तु प्रत्यय कित् होनेके कारण 'क्ङिति' (१।१।५)

ह्यल्लक्षणष्ठन्मा भूदिति । इह च वाचो निमित्तं तस्य निमित्तं संयोगोत्पत्तौ [५. १. ३८] इति ह्यल्लक्षणो यन्मा भूदिति । अत्रापि गोनौग्रहणं ज्ञापकं दीर्घाद् ह्यल्लक्षणो विधिर्न भवतीति ॥ अयं तु सर्वेषामेव परिहारः ।

नाव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु ॥ ९ ॥

नाव्यपवृक्तस्यावयवस्यावयवाश्रयो विधिर्भवति यथा द्रव्येषु । तद्यथा

प्रत्यय न हों जो दो स्वरोंसे युक्त शब्दोंके लिए कहे गये हैं ।) उदाहरणार्थ, 'वाचा तरति' (वाणीसे पार होनेवाला) इस अर्थमें 'वाच्' शब्द दो स्वरोंसे युक्त होनेके कारण उसके आगे 'ठन्' प्रत्यय न हो (अर्थात् 'ठन्' प्रत्यय लगाकर 'वाचिक' शब्द उपयोगमें नहीं लाया जाय) । तथा 'वाचो निमित्तम्' (वाणीका निमित्त) अर्थमें 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पत्तौ'—५।१।३८—(इस सूत्रके सब पद जिस सूत्रमें अनुवृत्त होते है, ऐसे 'गोद्व्यचोऽसंख्या०—५।१।३९—) सूत्रसे (वाच् शब्दके आगे) दो स्वरोंसे युक्त होनेके कारण 'यत्' प्रत्यय होगा, वह न हो। (यह भी 'संयुक्त स्वर एक ही स्वर है' ऐसा समझनेका दूसरा उपयोग है ।)

(यह अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि) यहाँ भी ('नौद्व्यचष्ठन्'—४।४।७—और 'गोद्व्यचोऽसंख्या०'—५।१।३९—इन सूत्रोंमें) गो और नौ शब्द रखे गये है, उससे भी यही समझा जाता है कि, दीर्घ स्वर दो स्वरोंसे युक्त स्वर है ऐसा समझकर उसके आगे (दो स्वरोंसे युक्त शब्दोंके आगे कहे हुए) प्रत्यय नहीं लगते है ।

(ऊपर बहुतसे दोष बताये गये हैं और उन सबका भिन्न भिन्न रीतियोंसे परिहार भी किया गया है,) पर आगे दिया हुआ परिहार सभी दोषोंको हटा दे सकता है ।

(वा. ९) जिस अवयवका स्वरूप (समुदायसे) भिन्न नहीं प्रतीत होता है उसको स्वतंत्र रीतिसे अर्थात् भिन्न रूपमें प्रतीत होनेवाले अवयवको होनेवाला कार्य नहीं किया जा सकता है, जैसे, द्रव्योंके संबंधमें ।

जिस अवयवका स्वरूप (समुदायसे) भिन्न नहीं प्रतीत होता है (अर्थात् जो समुदायके साथ एकरूप हुआ है) उसको स्वतंत्र रीतिसे अर्थात् भिन्न रूपमें प्रतीत होनेवाले अवयवको होनेवाला कार्य नहीं किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, द्रव्योंके संबंधमें । (यज्ञीय) द्रव्योंके संबंधमें (मीमांसामें) यही बात दीख पड़ती है । जैसे,

---

सूत्रमें उस वृद्धिका तथा गुणका निषेध होता है ।

२८ 'कृष्' धातुमेंके अन्त्य ह्रस्व अकारको होनेवाला लोपरूप कार्य (६।४।४८) 'मा' धातुके दीर्घ आकारमेंका अगला जो ह्रस्व अकार जैसा भाग है उसको नहीं होता है ।

द्रव्येषु । सप्तदश सामिधेन्यो भवन्तीति न सप्तदशारत्निमात्रं काष्ठमग्नावभ्याधीयते। विषम उपन्यासः । प्रत्यृचं चैव हि तत्कर्म चोद्यतेऽसंभवश्चाग्नौ वेद्यां च ॥ यथा तर्हि सप्तदश प्रादेशमात्रीराश्वत्थीः समिधोऽभ्यादधीतेति न सप्तदशप्रादेशमात्रं काष्ठमभ्याधीयते । अत्रापि प्रतिप्रणवं चैतत्कर्म चोद्यते तुल्यश्चासंभवोऽग्नौ वेद्यां च ॥ यथा तर्हि तैलं न विक्रेतव्यं मांसं न विक्रेतव्यमिति व्यपवृक्तं च न विक्रीयते-

'सत्रेहें सामिधेनियाँ होती हैं' इस वाक्यके अनुसार समिधाओंका हवन करते समय सत्रह अरत्नियों लंबा एक ही काष्ठ अग्निमें नहीं छोड़ देते हैं; (तो एक एक अरत्नि लंबे सत्रह काष्ठ अग्निमें छोड़े जाते हैं)।

आपके उदाहरणकी रचना ठीक नहीं है। ('सत्रह सामिधेनियाँ होती हैं' इस वाक्यके अनुसार किया जानेवाला हवनरूप) वह कृत्य प्रत्येक ऋचाके समय आहुति दी जाय इस स्वरूपका बताया गया है। (सत्रह अरत्नियाँ लंबा एक ही काष्ठ लेकर वह नहीं किया जा सकता है।) और सत्रह अरत्नियाँ लंबा एक ही काष्ठ न अग्निमें समाएगा, न वेदीपर। (संक्षेपमें, 'सप्तदश०' वाक्यका 'सत्रह अरत्नियाँ लंबा एक ही काष्ठ' यह अर्थ किया ही नहीं जा सकता है और उसका उदाहरण भी नहीं दिया जा सकता है।)

ठीक। (ऊपरके वाक्यमें 'सामिधेनी' शब्दका अर्थ 'ऋचा' होनेसे तथा सत्रह ऋचाएँ अलग अलग पढ़नेकी आवश्यकता होनेसे उपर्युक्त उदाहरण सुसंगत न हो,) तो 'सप्तदश प्रादेशमात्रीराश्वत्थीः समिधोऽभ्यादधीत' वाक्यका उदाहरण लीजिये। यहाँ कहा गया है कि 'एक एक प्रादेश (बित्ता) जितनी लंबी पिप्पलकी सत्रह समिधाएँ अग्निमें छोड़ दी जायँ।' वहाँ सत्रह बित्ते लंबी एक ही समिधा अग्निमें नहीं छोड़ दी जाती है।

(यहाँ भी एक ही समिधा न लेनेके अन्य कारण भी हैं ही।) सत्रह समिधाएँ अग्निमें छोड़ देनेका यह कार्य भी प्रत्येक समय प्रणवका उच्चारण करके ही करना चाहिये ऐसा बताया गया है; और सत्रह बित्ते लंबी एक ही समिधा न अग्निमें समाएगी न वेदीपर।

ठीक। तो 'तेल न बेचना,' 'मांस न बेचना' इस निषेधके अनुसार (व्यवहार करते हुए) प्रत्यक्ष तेल रूपसे अथवा मांस रूपसे पृथक् दीख पड़नेवाली

---

२८. जिन ऋचाओंको पढ़कर समिधाओंका आधान किया जाता है उन ऋचाओंको 'सामिधेनी' कहते हैं। सत्रह अरत्नियों लम्बाईका एक काष्ठ लिया जाय तो उसमेंका एक एक हस्तप्रमाणका भाग अलग अलग नहीं प्रतीत होता है। मुट्ठी बंद किये हाथकी लंबाईके परिमाणको अरत्नि कहते हैं।

ऽव्यपवृक्तं च गावश्च सर्षपाश्च विक्रीयन्ते । तथा लोमनखं स्पृष्ट्वा शौचं कर्तव्यमिति व्यपवृक्तं स्पृष्ट्वा नियोगतः कर्तव्यमव्यपवृक्ते कामचारः ॥ यत्र तर्हि व्यपवर्गोऽस्ति । क्व च व्यपवर्गोऽस्ति । संध्यक्षरेषु ।

संध्यक्षरेषु विवृतत्वात् ॥ १० ॥

यदत्रावर्णं विवृततरं तदन्यस्मादवर्णाद्ये अपीवर्णोवर्णे विवृततरे ते अन्याभ्यामिवर्णोवर्णाभ्याम् ॥

अथवा पुनर्न गृह्यन्ते ।

वस्तु नहीं बेचते है, परन्तु जिस वस्तुमें तेल अथवा मांस भिन्न रूपमें नहीं दिखाया जाता ऐसी सरसों, बैल आदि वस्तुएं बेशक बेचते है। उसी प्रकार 'बालों अथवा नाखूनोंका स्पर्श होनेपर शुद्धताके लिए स्नान अथवा मार्जन क्रिया जाय' इस विधानके अनुसार देहसे *पृथक् जो बाल अथवा नाखून हैं उनका स्पर्श होनेपर लोगोंको* स्नान आदि अवश्य करना पड़ता है; पर देहसे संलग्न बालों अथवा नाखूनोंका स्पर्श होनेपर वहाँ वह विधान लागू नहीं होता है, तो वहाँ लोग यथेच्छ व्यवहार करते है। (अतः इन दोनों दृष्टान्तोंसे यह बात स्पष्ट होती है कि, जहाँ अवयव पृथक् दीख पड़ता है, वहीं अवयव स्वतंत्र कार्य कर सकता है, इससे 'आ' कार आदिमें 'अ' कारको स्वतंत्र 'अ-'कारके समान कार्य नहीं होता है।)

अब जहाँ संयुक्त अक्षरका विभाग पृथक दीख पड़ता हो,[१०] वहाँ क्या किया जाय?

ऐसा पृथक् भाग कहाँ दिखायी देता है?

सन्ध्यक्षरोंमें (अर्थात् ऐ तथा औ में)।

(वा. १०) संध्यक्षरोंमें विवृत होनेसे (दोष नहीं आता है)।

(संध्यक्षरोंमें बाधा नहीं आयेगी,) कारण कि उनका 'अ'कार अन्य 'अ-' कारोंसे अधिक विवृत है, तथा उनके जो 'इ'कार अथवा 'उ'कार हैं वे अन्य 'इ' कारोंसे अथवा 'उ' कारोंसे अधिक विवृत हैं। (अतः सन्ध्यक्षरोंके अकार, इकार अथवा उकारका ग्रहण 'अन्य' 'अ'कार आदिसे नहीं होगा; क्योंकि दोनोंके प्रयत्नमें भेद है।)

अथवा (ऐसा भी समझनेमें बाधा नहीं कि, वर्णके अवयव स्वतंत्र वर्ण जैसे) कहीं भी न समझे जायें।

---

१०. दीर्घमें ह्रस्व स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता है। परन्तु ऋकारमें रेफ स्पष्टतया प्रतीत होता है। तथा ऌकारमें लकार, सन्ध्यक्षरोंमें अकार इकार इत्यादि भी स्पष्ट रूपसे प्रतीत होते हैं। इनमेंसे सन्ध्यक्षरोंमेंके अकार आदि जैसे भागोंको अकार आदिके कार्य होना इष्ट नहीं।

अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेष्वृकारग्रहणम् ॥ ११ ॥

अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेष्वृकारस्य ग्रहणं कर्तव्यम् । तस्मान्नुड् द्विहलः [७. ४. ७१] ऋकारे चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात् । आनृधतुः आनृधुरिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते द्विहल इत्येव तस्य सिद्धम् । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः । द्विहल्ग्रहणं न करिष्यते । तस्मान्नुड् भवतीत्येव । यदि न क्रियत आटतुः आटुरित्यत्रापि प्राप्नोति । अश्नोतिग्रहणं नियमार्थं भविष्यति ।

(वा. ११) यदि (पृथक्) न समझे जायें तो नुट् आगम, लकार आदेश और णत्व कहनेवाले सूत्रोंमें ' ऋ ' कार रखना चाहिये ।

यदि वे वैसे (अर्थात् पृथक्) न समझे जायें तो नुट् (आगम) कहनेवाले सूत्रमें लकारादेश (लकाररूप आदेश) कहनेवाले सूत्रमें तथा विनाम (णत्व) कहनेवाले सूत्रमें ' ऋ 'कार रखना चाहिये। नुट् के विषयमें "तस्मान्नुड् द्विहलः" (७।४।७१) सूत्र लें। इस सूत्रमें 'ऋकारे च' (ऋकार होते हुए भी) ये शब्द रखने चाहिये; इससे ' आनृधतुः ', ' आनृधुः ' ये रूप सिद्ध होंगे" । फिर जिसके मतसे (वर्णके अवयव स्वतंत्र वर्ण जैसे) समझे जाते है (उसके मतसे 'ऋकारे च' शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है;) '/द्विहल् ' शब्दसे ही इष्ट कार्य सिद्ध होगा । (कारण कि ऋकारका अवयव रेफ शास्त्रकारोंने मान्य किया ही है ।)

जिसके मतानुसार वर्णके अवयव स्वतंत्र वर्णके समान नहीं समझे जाते है, उसे भी (' आनृधतुः ', ' आनृधुः ' रूपोंकी सिद्धिमें) दोष नहीं लगता है । (' तस्मान्नुड् द्विहलः'— ७।४।७१—सूत्रमें) ' द्विहलः ' शब्द नहीं रखा जायगा; ' तस्मान्नुट् ' इतना हीं सूत्र किया जायगा ।

' यदि ' द्विहलः ' शब्द न रखा जाय तो ' आटतुः ' [३२], ' आटुः ' रूपोंमें भी नुडागम होने लगेगा ।

(नहीं होगा;) क्योंकि ' अश्नोतेश्च ' (७।४।७२) सूत्रसे ' अश् ' धातुको विशेष हेतुसे जो नुडागम बताया गया है (वह निरर्थक होगा और) उससे नियम किया जायगा कि, " जिसका उपान्त्य अक्षर ह्रस्व ' अ ' कार है ऐसे धातुको यदि

---

३१. यदि ऋकारमेंका रेफ स्वतंत्र रेफके समान हल् न समझा जाय तो ऋध् धातुमें धकार एक ही हल् होनेके कारण वह धातु द्विहल् नहीं होता है । तब ' द्विहलः ' मात्र पढ़कर इष्ट कार्य सिद्ध नहीं होगा । अत ऋकार होते हुए भी अलग ' नुट् ' आगम कहना चाहिये ।

३२. तब ' आटतुः ', ' आटुः ' रूपोंमें नुट् आगम होता नहीं । कारण कि अट् धातुमें उपान्त्य अक्षर ह्रस्व अकार है । ऋध् धातुका उपान्त्य अक्षर ह्रस्व अकार न होनेके कारण वहाँ ' अश्नोतेश्च ' (७।४।७२) नियमसे नुट् आगमकी व्यावृत्ति नहीं होती है ।

अश्नोतेरेवावर्णोपधस्य नान्यस्यावर्णोपधस्येति ॥ लादेशे च ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । कृपो रो लः [८. २. १८] ऋकारस्य चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात् । क्लृप्तः क्लृप्तवानिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते र इत्येव तस्य सिद्धम् । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः । ऋकारोऽप्यत्र निर्दिश्यते । कथम् । अविभक्तिको निर्देशः । कृप उः रः लः कृपो रो ल इति । अथवोभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते । रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति ॥ विनाम ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । रषाभ्यां नो णः समानपदे [८. ४. १] ऋकाराच्चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात् । मातॄणाम् पितॄणामिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते रषाभ्यामित्येव तस्य सिद्धम् । न सिध्यति । यत्तद्रे-

---

नुडागम होगा तो ' अश् ' धातुको ही होगा, उस प्रकारके अन्य किसी धातुको न होगा । "

(ठीक, नुड् विधि रहने दें ।) लकारादेश (लकाररूप आदेश) कहनेवाले सूत्रमें ' ऋ ' कार रखना पड़ेगा । "कृपो रो लः" (८।२।१८) सूत्र लें । इस सूत्रमें ' ऋकारस्य च ' शब्द रखने चाहिये; इससे ' क्लृप्तः ', ' क्लृप्तवान् ' रूपोंमें भी लकारादेश होगा । पर जिसके मतसे (वर्णका अवयव स्वतंत्र वर्ण जैसा) समझा जाता है, उसके मतसे (यह दोष नहीं आता है,) जो ' रः ' शब्द सूत्रमें है उससे ही उसका इष्ट कार्य सिद्ध होगा ।

(केवल वैसा ही नहीं ।) जिसके मतानुसार वर्णका अवयव स्वतंत्र वर्णके समान नहीं समझा जाता है उसको भी कुछ दोष नहीं लगता है । (कारण कि ' कृपो रो लः ' सूत्रमें) ' ऋ ' कार रख दिया गया है ही ।

सो कैसे ?

' कृपो रो लः ' सूत्रके पद ' कृप ', ' उः ', ' रः ', ' लः ' ये लिये जायँ; ' कृप ' पद विभक्तिप्रत्ययके उच्चारणसे रहित षष्ठयन्त समझा जाय, और ' उः ' ' ऋ ' शब्दकी षष्ठीके एकवचनका रूप है । अथवा ' रः ' और ' लः ' इन दोनों स्थानोंपर केवल स्फोटरूपका ही निर्देश किया है और क्लृप् धातु की र ध्वनि के बदले ल ध्वनि होती है ऐसा सूत्रका अर्थ समझा जाय ।

(यद्यपि नुट्के और लकारादेशके संबंधमें दोष हटाया गया तो भी) णत्व कहनेवाले सूत्रमें ऋकार रखना चाहिये । ' रषाभ्यां नो णः समानपदे ' (८।४।१) सूत्रमें ' ऋकाराच्च ' ऐसा पढ़ना चाहिये; इससे ' मातॄणाम् ', ' पितॄणाम् ' इत्यादि रूपोंमें भी नकारको णकार होगा । जिसके मतानुसार वर्णका अवयव स्वतंत्र वर्णके समान समझा जाता है उसके मतसे ' रषाभ्यां नो णः० ' सूत्रसेही इष्ट कार्य सिद्ध होगा ।

नहीं सिद्ध होगा । कारण कि (यद्यपि ऋकारमें रेफ हो तो भी) रेफके बाद

फात्परं भक्तेस्तेन व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । अड्व्यवाय इत्येव सिद्धम् । न सिध्यति । वर्णैकदेशाः के वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते । ये व्यपवृक्ता अपि वर्णा भवन्ति । यच्चापि रेफात्परं भक्तेर्न तत्क्वचिदपि व्यपवृक्तं दृश्यते । एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते । रषाभ्यां नो णः समानपदे । ततो व्यवाये । व्यवाये च रषाभ्यां नो णो भवतीति । ततोऽट्कुप्वाङ्नुम्भिरिति । इदमिदानीं किमर्थम् । नियमार्थम् । एतैरेवाक्षरसमाम्नायिकैर्व्यवाये नान्यैरिति ॥ यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष

'न' कार नहीं हो सकता है; ऋकारके रेफके चारों ओर 'अजूभक्ति' रहती है (ऐसा समझा जानेसे) अजूभक्तिका व्यवधान होगा और उससे ('रषाभ्यां०' सूत्रसे) णत्व न होगा।

न हो तो भी कुछ दोष नहीं। अट्से व्यवधान होनेके कारण 'अट्कुप्वाङ्०' (८।४।२) सूत्रसे ही णत्व होगा।

उस सूत्रसे णत्व नहीं होगा। कारण कि, वर्णोंके अवयव स्वतंत्रतया वर्ण समझे जाते हैं सही। पर वे कौनसे? वे ही कि जो अन्य स्थानपर प्रयोगमें पृथक् रूपमें भी दीख पड़ते हैं। ऋकारमें रेफके आसपास रहनेवाली अजूभक्ति स्वतंत्र रीतिसे वर्णके रूपमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होती है। (तब अजूभक्तिका अट्के नाते ग्रहण होना संभवनीय नहीं और उससे 'मातॄणाम्', 'पितॄणाम्' इत्यादि उदाहरणोंमें 'अट्कुप्वाङ्'—८।४।२— सूत्रसे णत्व न होगा।)

तो फिर अब 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' सूत्रके बाद 'अट्कुप्वाङ्०' सूत्र दो भाग करके पढ़ें—(१) 'व्यवाय' (व्यवधान होते हुँए भी णत्व होता है) और (२) 'अट्कुप्वाङ्नुम्भिः'।

पर 'व्यवाये' इस एकही सूत्रसे इष्ट कार्य सिद्ध होता है तो 'अट्कुप्वाङ्-नुम्भिः' सूत्रकी क्या आवश्यकता है?

नियम समझनेके लिए अक्षरसमूहमें (दिये हुए वर्णोंसे व्यवधान होनेपर यदि णत्व होगा तो 'अट्', 'क वर्ग', 'प वर्ग', 'आङ्' और 'नुम्') इन वर्णोंसे ही व्यवधान होनेपर णत्व होता है, (अक्षरसमूहमें दिये हुँए) अन्य वर्णोंसे

---

३३. ऋकारमेंका भीतरी भाग जैसे रेफ समझा जाता है वैसे ही उसके आसपासका स्वर जैसा भाग स्वर समझा जायगा। अतः अजूभक्तिसे (अर्थात् स्वर जैसे भागसे) यह जो व्यवधान होता है, वह अट्से ही होता है।

३४. 'अमुक वर्णोंमें व्यवधान होवे हुए' ऐसा यहाँ कुछ भी निर्देश न किया जानेके कारण अजूभक्तिसे व्यवधान होते हुए भी णत्व होगा।

३५. अजूभक्ति अइउण् इत्यादि अक्षरसमूहमेंका वर्ण नहीं। अतः यहाँ नियमसे णत्वकी व्यावृत्ति नहीं होती।

न दोषः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यृकारान्नो णत्वमिति यदयं क्षुभ्नादिषु नृनमनशब्दं पठति । नैतदस्ति ज्ञापकम् । वृद्ध्यर्थमेतत्स्यात् । नार्नमनिः । यत्तर्हि तृप्नोतिशब्दं पठति । यच्चापि नृनमनशब्दं पठति । ननु चोक्तं वृद्ध्यर्थमेतत्स्यादिति । बहिरङ्गा वृद्धिरन्तरङ्गं णत्वम् । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ अथवोपरिष्टाद्यो-

---

व्यवधान होनेपर णत्व नहीं होता है (ऐसा 'अट्कुप्वाङ्नुम्भिः' सूत्रका अर्थ किया जाय)।

जिसके मतसे (वर्णका अवयव स्वतंत्र वर्ण जैसा) नहीं समझा जाता है उसके मतानुसार भी ('मातृणाम् आदि उदाहरणोंमें णत्व नहीं होगा') यह दोष नहीं आयेगा। कारण कि, आचार्यजीकी प्रवृत्तिसे ही अनुमित होता है कि 'ऋकारके आगे आनेवाले नकारको णत्व होता है।' क्योंकि णत्व न होनेके लिए '*क्षुभ्नादि*' *गणोंमें* (*८।४।३९*) वे 'नृनमन' शब्द रखते है। (यदि ऋकारके आगे आनेवाले नकारको णत्व न होता तो 'नृनमन' शब्दको णत्वका निषेध कहनेकी आवश्यकता ही नहीं होती।)

('नृनमन' शब्द 'क्षुभ्नादि' गणोंमें रखा गया है) यह ज्ञापक नहीं दिया जा सकता है। ('नृनमन' शब्द 'क्षुभ्नादि' गणोंमें रखनेका उपयोग नहीं ऐसा नहीं,) वृद्धि होके बने हुए 'नार्नमनि' शब्दमें रेफ होनेसे 'रषाभ्याम्०' (८।४।१) सूत्रसे प्राप्त णत्व न होनेके लिए 'नृनमन' शब्द 'क्षुभ्नादि' गणोंमें रखना चाहिये।

ठीक, तो 'क्षुभ्नादि' गणोंमें 'तृप्नोति' शब्द रखा गया है (उससे ऊपरके विधानका अनुमान निकालें)।

और 'नृनमन' शब्दसे भी वही अनुमान निकालनेमें (दोष) नहीं।

पर क्या ऊपर नहीं कहा गया कि, (यदि केवल 'नृनमन' शब्दका क्षुभ्नादिगणोंमें रखनेका उपयोग न हो तो भी) उसको वृद्धि होके उससे बने हुए 'नार्नमनि' शब्दमें णत्व न हो इस हेतुसे 'नृनमन' शब्द 'क्षुभ्नादि' गणोंमें रखना चाहिये ?

(उस हेतुसे भी नहीं। कारण कि 'नार्नमनि' रूपमें) वृद्धि बहिरङ्ग है और णत्व अन्तरङ्ग है। और जब अन्तरङ्ग (कार्य) करना है तब बहिरङ्ग (कार्य) असिद्ध होता है (इस परिभाषासे णत्वकी दृष्टिसे 'नृनमन' यही रूप दिखायी देता है, 'नार्नमनि' ऐसा नहीं।)

---

३६. तब 'नृनमन' शब्दका पाठ व्यर्थ ही होनेके कारण 'ऋकारके अगले नकारको णत्व होता है' इस अर्थका वह ज्ञापक कहा जा सकता है, यह बात सिद्ध हुई है।

गविभागः करिष्यते । ऋतो नो णो भवति । ततश्छन्दस्यवग्रहात् । ऋत इत्येव ॥

प्लुतावैच इदुतौ ॥ १२ ॥

एतच्च वक्तव्यम् । यस्य पुनर्गृह्यन्ते गुरोर्टेरित्येव प्लुत्या तस्य सिद्धम् । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः । क्रियत एतन्न्यास एव ॥

तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनविधिः ॥ १३ ॥

तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनाश्रयो विधिर्न सिध्यति । कुक्कुटः पिप्पलः पित्तमिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते तस्य द्वौ ककारौ द्वौ पकारौ द्वौ तकारौ । यस्यापि

अथवा, 'अट्कुप्वाङ्०' (८।४।२) इत्यादि सूत्रोंके आगे पढ़े गये 'छन्दस्यृदवग्रहात्' सूत्रके दो विभाग करें—एक 'ऋतः' और दूसरा 'छन्दस्यवग्रहात्'। 'ऋतः' सूत्रका अर्थ है 'ऋकारके आगे भी नकारको णकार होता है'; उसके बाद 'छन्दस्यवग्रहात्' सूत्रमें 'ऋतः' पदकी अनुवृत्ति करनी ही चाहिये।

(वा. १२) ऐ और औ को होनेवाला प्लुत उनके अवयव इ और उ को होता है।

और (जिसके मतसे वर्णका अवयव स्वतंत्र वर्णके समान नहीं समझा जाता है, उसे) 'प्लुतावैच इदुतौ' (८।२।१०६) कहना पड़ेगा। तथा जिसके मतानुसार वर्णका अवयव स्वतंत्र वर्ण जैसा समझा जाता है, उसका इष्ट कार्य "गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्" (८।२।८२) सूत्रसे ही अवयवको प्लुत होके सिद्ध होगा।

पर जिसके मतसे वर्णका अवयव (स्वतंत्र वर्णके समान) नहीं समझा जाता है, उसको भी उपर्युक्त दोष नहीं लगता है; कारण कि "प्लुतावैच इदुतौ" (८।२।१०६) सूत्र सूत्रपाठमें पढ़ा गया है ही।

(वा. १३) जहाँ एक ही व्यञ्जन दो बार आके संयोग होता है वहाँ दो व्यञ्जनोंसे होनेवाला कार्य (नहीं होगा।)

(और अवयवोंका पृथक् ग्रहण नहीं होता है ऐसा माना जाय तो) जहाँ एक व्यञ्जन दो बार आके संयोग होता है वहाँ दो व्यञ्जनोंको होनेवाला कार्य नहीं होगा। जैसे, कुक्कुटः, पिप्पलः, पित्तम् रूपोंमें (क्क्, प्प्, त्त् ये दो व्यञ्जन है ऐसा नहीं समझा जायगा। अतः उसको संयोगसंज्ञा न होनेके कारण पिछला ह्रस्व स्वर नहीं समझा जायगा।) पर जिसके मतसे वर्णका अवयव स्वतंत्र वर्ण जैसा समझा जाता है उसके मतानुसार इस प्रस्तुत उदाहरणमें दो ककार है, दो पकार है और दो

---

३७. अत उपर्युक्त ज्ञापक लेनेकी अब आवश्यकता नहीं है।

३८. क्क्, प्प्, त्त् ये पूर्ण एकमात्रिक व्यञ्जन हैं। उनमेंसे प्रत्येकके अर्धमात्रिक समान दो भाग हैं। वे भाग 'अर्धमात्रिक स्वतंत्र वर्ण हैं' ऐसा नहीं समझा जायगा, इस प्रकारका यहाँ अभिप्राय है।

न गृह्यन्ते तस्यापि द्वौ ककारौ द्वौ पकारौ द्वौ तकारौ। कथम्। मात्राकालोऽत्र गम्यते न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति। अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुमसच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम्। यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुं यत्रैतन्नास्त्यण्सवर्णान्गृह्णातीतीह तु कथं सय्यँन्ता सव्वँत्सरः यँल्लोकम् तँल्लोकमिति यत्रैतदस्त्यण्सवर्णान्गृह्णातीति।

तकार हैं (ऐसा समझके इष्ट कार्य सिद्ध होता है)।

जिसके मतानुसार वर्णका अवयव स्वतंत्र वर्णके समान नहीं समझा जाता है उसके भी मतसे दो ककार हैं, दो पकार हैं और दो तकार हैं ऐसा समझा जा सकता है।

सो कैसे ?

इसका कारण यह है कि क्क्, प्प् और त्त् का उच्चारण करनेके लिए एक मात्राका काल लगता है और एक मात्राका एक व्यञ्जन कदापि नहीं होता है। उपदेशमें बिना कहे एक मात्राका एक व्यञ्जन अस्तित्वमें कैसे आयेगा ? और जो बात अस्तित्वमें नहीं उसका ज्ञान भी कैसे होगा ? (थोड़ेमें, उपदेशमें एक मात्राके व्यञ्जनका उच्चारण नहीं और व्यवहारमें उसका ज्ञान नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि क्क्, प्प् और त्त् पूर्ण एक मात्राके व्यञ्जन नहीं।)

(ठीक, पर 'कुक्कुटः', 'पिप्पलः' इत्यादि प्रस्तुत उदाहरणोंमें) यद्यपि 'अण् अपने सवर्णका भी ग्रहण करता है' यह नियम लागू न होनेके कारण 'क्क्', 'प्प्' आदि संयुक्त व्यञ्जनोंका क्, प् आदि असंयुक्त व्यञ्जनोंसे ग्रहण नहीं होता है[40] ऐसा समझा जाय तो भी 'सय्यँन्ता', 'सव्वँत्सरः' 'यल्लँोकम्' इन उदाहरणोंमें क्या होता है ? यहाँ 'अण् अपने सवर्णोंका ग्रहण करता है' यह नियम लागू होता है। (अतः यहाँ य् आदि वर्णोंसे य्य् आदि वर्णोंका ग्रहण होगा।)

---

३९. समान दो व्यञ्जनोंके निकट आनेपर शीघ्र उच्चारण के कारण क्क् इत्यादि पूर्ण एक-ही एकमात्रिक व्यञ्जन है ऐसा आभास होता है। वास्तवमें देखा जाय तो वह भ्रम है।

४०. तब क्क्, प्प्, त्त् इन एकमात्रिक व्यञ्जनोंका प्रत्यक्ष उच्चारण अक्षर समाम्नायमें महेश्वरने नहीं किया है। उच्चारित क्, प्, त् इन अर्धमात्रिक व्यञ्जनोंसे भी उनका ग्रहण नहीं होता है। अयोगवाहमें भी उनकी गणना नहीं की गयी है। तात्पर्य यह है कि, क्क् इत्यादि मात्रिक व्यञ्जनोंका अस्तित्व नहीं माना जाता है।

४१. अतः य्य्, व्व् इत्यादि एकमात्रिक व्यञ्जनोंका अस्तित्व मानना पड़ेगा। तथा य्य् इत्यादिमेंका अर्धमात्रिक भाग स्वतंत्र वर्ण जैसा नहीं समझा जायगा। इसलिए उस भागको द्वित्व होके तीन यकारोंका जो रूप होता है वह नहीं होगा।

अत्रापि मात्राकालो गृह्यते न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति। अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुमसञ्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम् ॥

हयवरट् ॥ ५ ॥

सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टाः। अयं हकारो द्विरुपदिश्यते पूर्वश्चैव परश्च। यदि पुनः पूर्व एवोपदिश्येत पर एव वा। कश्चात्र विशेषः।

हकारस्य परोपदेशेऽड्ग्रहणेषु हग्रहणम् ॥ १ ॥

हकारस्य परोपदेशेऽड्ग्रहणेषु हग्रहणं कर्तव्यम्। आतोऽटि नित्यम् [८. ३. ३] शश्छोऽटि [८. ४. ६३] दीर्घादटि समानपादे [८.३.९]

यहाँ भी दो यकारोंका उच्चारण करनेके लिए एक मात्राका काल लगता है, और एक मात्राका एक व्यञ्जन कहीं भी नहीं होता है। उपदेशमें कहे बिना एक मात्राका एक व्यञ्जन कैसे होगा? और जो बात अस्तित्वमें नहीं उसका ज्ञान भी कैसे होगा?

(मा. सू. ५) ह्, य्, व्, र्।

अन्य सभी वर्णोंका उपदेश अक्षरसमुदायमें एक ही बार किया गया है। इस 'ह्' वर्णका उच्चारण दो बार किया गया है। एक बार (सब व्यञ्जनोंके) पहले और दूसरी बार (सब व्यञ्जनोंके) अन्तमें।

पहले ही एक बार उच्चारण करना अथवा अन्तमें एक ही बार उच्चारण करना, इन दोनोंमें भेद क्या है?

(वा. १) यदि हकारका उच्चारण एक ही बार किया जाय तो जहाँ अट् शब्दका उच्चारण करके अट् वर्णोंको कार्य कहा गया है उन सूत्रोंमें 'ह्' वर्ण अधिक रखना पड़ेगा।

यदि हकारका उच्चारण एक ही बार अन्तमें किया जाय तो जहाँ अट् शब्दका उच्चारण करके अट् वर्णोंको कार्य कहा गया है उन सूत्रोंमें 'ह्' वर्ण अधिक रखना पडेगा। जैसे, "आतो ऽ टि नित्यम्" (८।३।३), "शश्छोटि" (८।४।६३), "दीर्घादटि समानपदे" (९।३।९) इन तीन सूत्रोंमें 'हकारे च'

---

४२ किसी वर्णका अस्तित्व भाषासे सिद्ध होता है। जत दीर्घ ऌकार होता तो ऋलृक्में के ह्रस्व ऌकारसे उसका ग्रहण भी होता, तथापि भाषामें न होनेके कारण उसका अस्तित्व नहीं माना जाता है। वैसे ही य्य्, व्व् इत्यादि एकमात्रिक व्यञ्जनोंका अस्तित्व नहीं माना जाता है।

१. कारण कि 'हयवरट्' सूत्रमें हकारका उच्चारण न किया जाय, तो अट् प्रत्याहारमें हकार नहीं दिखायी देगा।

हकारे चेति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्। महाँ हि सः॥

उत्त्वे च॥ २॥

उत्त्वे च हकारग्रहणं कर्तव्यम्। अतो रोरप्लुतादप्लुते [६. १. ११३] हशि च [११४] हकारे चेति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्। पुरुषो हसति। ब्राह्मणो हसतीति॥ अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः।

पूर्वोपदेशे किंत्वक्सेड्विधयो झल्ग्रहणानि च॥ ३॥

यदि पूर्वोपदेशः किंत्वं विधेयम्। स्निहित्वा स्नेहित्वा। सिस्निहिषति सिस्नेहिषति। रलो व्युपधाद्धलादेः [१. २. २६] इति किंत्वं न प्राप्नोति॥

(हकार आगे होते हुए भी) ये शब्द रखने पड़ेंगे, जिससे 'महाँ हि सः' इत्यादि उदाहरणोंमें (अनुनासिक इत्यादि होंगे)।

(वा. २) तथा 'उ' कार (आदेश) कहनेवाले (सूत्रमें भी)।

उसी प्रकार उकार आदेश कहनेवाले सूत्रमें भी 'ह' वर्णका उच्चारण करना पड़ेगा। जैसे, "अतो रोरप्लुतादप्लुते" (६।१।११३) के पश्चात् कहे हुए "हशि च" (६।१।११४) सूत्रमें 'हकारे च' ये अधिक शब्द रखने पड़ेंगे[१], जिससे 'पुरुषो हसति', 'ब्राह्मणो हसति' इत्यादि उदाहरणोंमें उकारादेश होगा।

तो फिर पहले ही उच्चारण किया जाय।

(वा. ३) यदि पहले ही (एक बार) उच्चारण किया जाय, तो कित्त्व, क्स, इट् आगम इत्यादिके संबंधमें अधिक सूत्र करने पड़ेंगे तथा जहाँ 'झल्' का उच्चारण किया गया है (उन सूत्रोंमें हकार अधिक रखना पड़ेगा)।

यदि पहले ही एक बार उच्चारण किया जाय[३] तो (हकारान्त धातुके आगे आनेवाले क्त्वा और सन् प्रत्ययों को) कित्त्व कहनेके लिये (अधिक सूत्र) करना पड़ेगा। 'स्निहित्वा, स्नेहित्वा', 'सिस्निहिषति, सिस्नेहिषति' उदाहरणोंमें "रलो-व्युपधाद्धलादेः संश्च" (१।२।२६) सूत्रसे कित्त्व नहीं होगा; (क्योंकि हकार 'रल्' व्यञ्जनोंमें[४] नहीं पाया जाता है)। तथा (हकारान्त धातुके आगे आनेवाले 'क्लि'

---

२. 'हयवरट्' में हकारका उच्चारण न किया जाय तो हश् प्रत्याहारही नहीं होगा। उसके बदले यश् प्रत्याहार करके 'हशि च' (६।१।११४) के स्थानमें 'यशि च' सूत्र करना पड़ेगा। तथा हकार आगे रहनेपर उत्व होता है ऐसा वहाँ स्वतंत्र विधान करना पड़ेगा।

३. अन्तिम सूत्र 'हल्' में हकारका ही उपदेश किया गया है। वह न किया जाय तो 'हल्' सूत्र ही व्यर्थ होता है। लकारके साथ अल्, हल् इत्यादि जो प्रत्याहार किये गये हैं वे 'शषसर्' इस सूत्रमेंके रेफके साथ ही अर्थात् अर्, हर् ऐसे किये जायँ।

४. रल् प्रत्याहारके बदले रर् प्रत्याहारका उच्चारण सूत्रमें करना पड़ेगा। इस रर् प्रत्याहारमें हकार नहीं पाया जाता है।

क्सविधिः। क्सश्च विधेयः। अधुक्षत् अलिक्षत्। शल इगुपधादनिटः क्सः [३. १. ४५] इति क्सो न प्राप्नोति॥ इड्विधिः। इट् च विधेयः। रुदिहि स्वपिहि। वलादिलक्षण इण्न प्राप्नोति॥ झल्ग्रहणानि च। किम्। अहकाराणि स्युः। तत्र को दोषः। झलो झलि [८. २. २६] इतीह न स्यात्। अदाग्धाम् अदाग्धम्॥ तस्मात्पूर्वश्चैवोपदेष्टव्यः परश्च। यदि च किंचिदन्यत्राप्युपदेशे प्रयोजनमस्ति तत्राप्युपदेशः कर्तव्यः॥

इदं विचार्यते। अयं रेफो यकारवकाराभ्यां पूर्व एवोपदिश्येत ह र य वडिति पर एव वा यथान्यासमिति। कश्चात्र विशेषः।

प्रत्ययको) 'क्स' आदेश कहनेके लिए भी (अधिक सूत्र) करना पड़ेगा; (कारण कि हकार 'शल्' व्यञ्जनोंमें न पाया जानेसे) "शल इगुपधादनिटः क्सः" (३।१।४५) सूत्रसे 'अधुक्षत्', 'अलिक्षत्' इत्यादि उदाहरणोंमें 'क्स' नहीं हो सकेगा। तथा 'इट्' आगम भी अलग कहना पड़ेगा। (कारण कि 'वल्' व्यञ्जनोंमें हकार न प्राप्त होनेसे) 'रुदिहि', 'स्वपिहि' (इत्यादि रूपोंमें 'हि' प्रत्ययको) 'वल्' व्यञ्जन आगे रहनेपर कहा हुआ 'इट्' आगम (७।२।७६) न होगा। उसी प्रकार जिन सूत्रोंमें 'झल्' शब्दका उच्चारण किया गया है (उनकी भी वही स्थिति होगी)।

वह क्या?

जहाँ 'झल्' का उच्चारण किया गया है वहाँ 'झल्' व्यञ्जन हकार-रहित होंगे।

तो क्या दोष आयेगा?

'अदाग्धाम्', 'अदाग्धम्' रूपोंकी सिद्धिमें 'झलो झलि' (८।२।२६) सूत्रसे (सकारका लोप) न होगा। अतः (सब उदाहरणोंकी सिद्धिके लिए) पहले भी उच्चारण किया जाय और पश्चात् भी। इतना ही नहीं, तो (माहेश्वरसूत्रोंमें) अन्य किसी स्थानपर उच्चारण करनेका उपयोग हो तो वहाँ भी उच्चारण किया जाये।

(ठीक, तो) यह भी पूछना है कि (जिस रेफका यहाँ उच्चारण किया गया है) उस रेफका, यकार और वकारके पहले हयवरट् सूत्र करके, उच्चारण किया जाय अथवा (यकार और वकारके) पश्चात् जैसा उच्चारित है वैसा ही रखा जाय? दोनोंमें भेद क्या है?

---

५. कारण कि महेश्वरने अक्षरसमाम्नायका उच्चारण किया है वह वर्णस्वरूपका ज्ञान करा देनेके उद्देशसे ही नहीं किया है, तो प्रयोजनके लिए है। अतः एक बार उच्चारण करके यदि प्रयोजन पूर्ण नहीं होता है तो दो बार उच्चारण करनेमें क्या बाधा है? आवश्यकता हो तो तीन बार भी उच्चारण किया जाय।

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेधः ॥ ४ ॥

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णानां प्रतिषेधो वक्तव्यः । अनुनासिकस्य । स्वर्नयति प्रातर्नयतीति यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा [८. ४. ४५] इत्यनुनासिकः प्राप्नोति ॥ द्विर्वचनस्य । मद्रह्रदः मद्रह्रद इति यर इति द्विर्वचनं प्राप्नोति ॥ परसवर्णस्य । कुण्डं रथेन । वनं रथेन । अनुस्वारस्य ययि [८. ४. ५८] इति परसवर्णः प्राप्नोति ॥ अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः ।

पूर्वोपदेशे किच्वप्रतिषेधो व्यलोपवचनं च ॥ ५ ॥

यदि पूर्वोपदेशः किच्वं प्रतिषेध्यम् । देवित्वा दिदेविषति । रलो व्युपधात् [१ २. २६] इति किच्वं प्राप्नोति । नैष दोषः । नैवं विज्ञायते रलः

(वा. ४) यदि (यकार और वकारके) पश्चात् रेफका उच्चारण किया जाय तो कहना पड़ेगा कि अनुनासिक, द्वित्व और परसवर्ण नहीं होते हैं ।

यदि (यकार और वकारके) पश्चात् रेफका उच्चारण किया जाय तो कहना पड़ेगा कि अनुनासिक द्वित्व और परसवर्ण नहीं होते हैं । अनुनासिकका उदाहरण— यकारवकारके पश्चात् रेफका उच्चारण किया जाय तो उसको ' स्वर्नयति ', प्रातर्नयति ' रूपोंमें ' यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ' (८।४।४५) सूत्रसे अनुनासिक होने लगेगा[१]। द्वित्वका उदाहरण—' भद्रह्रदः ', ' मद्रह्रदः ' रूपोंमें रेफ यर वर्णोंमें समाविष्ट किया जानेसे उसको (' अचो रहाभ्यां द्वे '— ८।४।४६—सूत्रसे) द्वित्व होने लगेगा । परसवर्णका उदाहरण—' कुण्डं रथेन ', ' वनं रथेन ' इत्यादि स्थानोंमें (अनुस्वारको) ' अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ' (८।४।५८) सूत्रसे परसवर्ण होने लगेगा ।

ठीक, यह हो तो हरयवट् ऐसा यकार और वकारके पूर्व ही उसका उच्चारण किया जाय ।

(वा. ५) पहले उच्चारण किया जाय तो किच्वका प्रतिषेध करना पड़ेगा तथा व और य् का लोप कहना पडेगा ।

यदि (यकार और वकारके) पहले (रेफका) उच्चारण किया जाय तो किच्वका निषेध करना पड़ेगा । ' देवित्वा ', ' दिदेविषति ' उदाहरणोंमें वकार रल् वर्णोंमें गिना जानेसे ' रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च ' (१।२।२६) सूत्रसे किच्व होने लगेगा ।

---

१. कारण कि यह प्रत्याहारमें रेफ पाया जाता है । अत्र यद्यपि ञ, म, ङ, ण, न ये अनुनासिक पाँच हैं तो भी रेफका मूर्धा स्थान होनेके कारण उसके समान मूर्धस्थानका णकार ' स्थानेन्तरतम ' (१।१।५०) परिभाषासे होगा ।

व्युपधादिति। किं तर्हि। रलः अव्व्युपधादिति। किमिदमव्व्युपधादिति। अवकारान्तादुपधादव्व्युपधादिति॥ व्यलोपवचनं च। व्योश्च लोपो वक्तव्यः। गौधेरः। पचेरन् यजेरन्। जीवे रदानुक् जीरदानुः। वलीति लोपो न प्राप्नोति। नैष दोषः। रेफोऽप्यत्र निर्दिश्यते। लोपो व्योर्वलीति रेफे च वलि चेति॥ अथवा

यह कित्त्व होनेका दोष नहीं आता है; कारण कि 'रलो व्युपधात्०' सूत्रमें 'रलः', 'व्युपधात्' ऐसा पद-विभाग हम नहीं करेंगे।

तो फिर पद-विभाग कैसे करेंगे?

'रलः' और 'अव्व्युपधात्'।

'अव्व्युपधात्' पदका अर्थ क्या है?

उसका यों अर्थ है—'जिसके अन्तमें व् व्यञ्जन नहीं और जिसके उपान्त्य स्थानमें उकार अथवा इकार है ऐसे धातुके आगे।'

'व्यलोपवचन' के संबंधमें भी (६।१।६६) यही कहना है कि यकार और यकारका लोप (रेफ आगे रहनेपर अलग सूत्र करके) बताना पड़ेगा। 'गौधेरः', 'पचेरन्', 'यजेरन्' ये उदाहरण देखिये; उसी प्रकार 'जीव्' धातुके आगे 'रदानुक्' (प्रत्यय लगाकर सिद्ध किया गया) 'जीरदानुः' रूप देखिये। यहाँ (रेफका उच्चारण पहले करनेसे) 'वल्' व्यञ्जन आगे रहनेपर होनेवाला (रकारका) लोप नहीं होगा।

यह दोष नहीं आता है। कारण कि 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) सूत्रमें रेफका भी उच्चारण किया गया है। 'व्योः' और 'वलि' ऐसा पद-विभाग करनेसे रेफ अथवा वल् आगे रहनेपर यकार और वकारका लोप होता है, यह अर्थ होगा।

अथवा रेफ जैसा आगे उच्चारित है वैसा ही रहने दें।

---

७. 'गोधाया ढ्रक्' (४।१।१२९) सूत्रसे गोधा शब्दके आगे प्रत्यय लगानेपर उस प्रत्ययमेंके रकारके पूर्वके ढकारको 'आयने०' (७।१।२) सूत्रसे एय् आदेश किया जाय तो उसमेंके यकारका 'लोपो व्यो०' (६।१।६६) सूत्रसे रेफरूप वल् आगे होनेसे लोप होता है। 'पचेरन्' उदाहरणमें पच् धातुके आगे लिङ्प्रत्यय, उसको झ आदेश, उसको 'झस्यरन्' (३।४।१०५) सूत्रसे रन् आदेश, 'लिङः सीयुट्' (३।४।१०२) सूत्रसे सीयुट् आगम, उसमेंके यकारका 'लोपो व्यो०' (६।१।६६) सूत्रसे लोप होता है।

८. 'जीवे रदानुक्' (उणा. सू.) इस उणादिसूत्रसे 'जीव्' धातुके आगे रदानुक् प्रत्यय कहा है।

९. यहाँ 'वलि' पद है। पर यहाँ 'रलि' यह भी पद किया जा सकता है। 'रलि' [illegible] (८।३।१४) सूत्रसे 'व्योः' [illegible] रेफका लोप होकर [illegible] किया है।
[illegible]

पुनरस्तु परोपदेशः । ननु चोक्तं रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेध इति । अनुनासिकपरसवर्णयोस्तावत्प्रतिषेधो न वक्तव्यः । रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति । द्विर्वचनेऽपि नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विर्वचनस्य । किं तर्हि । निमित्तमिमौ रहौ द्विर्वचनस्य । तद्यथा । ब्राह्मणा भोज्यन्तां माठरकौण्डिन्यौ परिवेविष्टामिति नेदानीं तौ भुञ्जाते ॥

इदं विचार्यते । इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च तेषां

पर वैसा हो तो क्या ऊपर ही नहीं बताया गया कि अनुनासिक, परसवर्ण और द्वित्वका निषेध करना पड़ेगा ?

अनुनासिक और परसवर्णका निषेध कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। कारण कि रेफों और ऊष्म वर्णोंका कोई भी सवर्ण नहीं होता है। (इससे अनुनासिक और परसवर्ण होनेका संभव ही नहीं।) द्वित्वके संबंधमें (यही कहा जा सकता है कि) रेफ और हकार द्वित्वके कदापि कार्यी नहीं होते हैं[11]। (अर्थात् उसका कदापि द्वित्व नहीं होता है।)

तो फिर क्या होते हैं ?

ये रेफ और हकार द्वित्वका निमित्त होते हैं। जैसे, 'ब्राह्मणोंको भोजन दीजिये, माठर और कौण्डिण्यको परोसने दीजिये' ऐसा कहनेपर माठर और कौण्डिण्य अब भोजन नहीं करते हैं।[12]

अब यह पूछा जाता है कि यद्यपि अयोगवाह वर्णोंका उपदेश कहीं भी नहीं किया गया तो भी वे प्रयोगमें दिखायी देते हैं। अतः शास्त्रोक्त कार्योंके लिए उनका

---

१०. श, ष, स, ह इन चार वर्णोंको ऊष्मवर्ण कहते हैं। 'यरोनुनासिके०' (८।४।४५) सूत्रमें सवर्ण पदका संबंध करके 'यर् को उसका सवर्ण अनुनासिक आदेश होता है' यह अर्थ करनेसे स्वर्णयति आदि उदाहरणोंमें दोष नहीं आता है। णकार मूर्ध स्थानका होनेके कारण रेफके निकटका है तो भी वह रेफका सवर्ण नहीं होता है। कारण कि रेफका आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है और णकारका स्पृष्ट प्रयत्न है इस प्रकार प्रयत्नभेद है। अतः यरोंमें रेफ पाया जाय तो भी दोष नहीं। उसी तरह यर्योंमें रेफ प्राप्त हो तो भी 'कुण्डं रथेन' में रेफका सवर्ण न होनेसे उसके पिछले अनुस्वारको 'अनुस्वारस्य०' (८।४।५८) सूत्रसे परसवर्ण नहीं होता है।

११. कार्यी अर्थात् उद्देश्य। रेफ और हकार इन दो वर्णोंको कहीं भी द्वित्व नहीं होता है। वे केवल अन्य वर्णोंको द्वित्व करनेमें निमित्त होते हैं।

१२. उसी तरह 'अचो रहाभ्यां०' (८।४।४६) सूत्रसे रेफ और हकार इन वर्णोंके निमित्त उनके अगले वर्णको द्वित्व कहा जानेसे वास्तवमें उन दो वर्णोंको द्वित्व नहीं होगा। उनमेंसे हकार यरोंमें न होनेसे उसको द्वित्वकी प्राप्ति नहीं होती है; और रेफको प्राप्ति हो तो भी लौकिक न्यायसे उसको द्वित्व नहीं होता है।

सिद्धम् । किं निपातनम् । भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः [७. ३. ६१] इति । इहापि तर्हि प्राप्नोति । अभ्युद्गः समुद्ग इति । अकुत्वविषये तन्निपातनम् । अथवा नैतदुब्जे रूपं गमेरेतद् ड्युपसर्गाड्डो विधीयते । अभ्युद्गतोऽभ्युद्गः । समुद्गतः समुद्ग इति ॥ षत्वं च प्रयोजनम् । सर्पिःषु धनुःषु । शर्व्यवाय इति षत्वं सिद्धं भवति । नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि [८. ३. ५८] इति विसर्जनीयग्रहणं न कर्तव्यं भवति । नुमश्चापि तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथं सर्पींषि धनूंषि । अनुस्वारे कृते

अधिक विधान करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि आचार्य पाणिनिके निपातन करनेसे ही इष्ट कार्य सिद्ध होता है।

वह निपातन कहाँ किया है?

'भजन्युब्जौ[18] पाण्युपतापयोः' (७।३।६१) सूत्रमें।

तो फिर 'अभ्युद्गः', 'समुद्गः' रूपोंमें भी भकारादेश होने लगेगा।

(वैसा हो तो हम कहेंगे कि भकारादेश करके 'उब्ज्' धातुका जो निपातन लेना है) वह निपातन वहाँ समझना चाहिये कि जहाँ उद्ज् धातुको 'कुत्व' नहीं होता है।[19]

अथवा, 'अभ्युद्गः' किंवा 'समुद्गः' यह 'उब्ज्' धातुका रूप न समझा जाय; ('अभि' और 'उत्' इन) दो उपसर्गोंसे युक्त 'गम्' धातुके ये रूप[20] समझे जायँ; । 'अभ्युद्गत' अर्थात् 'ऊपर आया हुआ' इस अर्थमें 'अभ्युद्ग' शब्द लिया जाय; और 'समुद्गत' अर्थात् 'समीप बैठा हुआ' इस 'अर्थमें समुद्ग' शब्द लिया जाय।

षत्वादेशके बारेमें उपयोग यों दिखाया जाय— 'सर्पिःषु', 'धनुःषु' उदाहरणोंमें (विसर्ग यद्यपि बीचमें हो, तो भी उस विसर्गका अन्तर्भाव 'शर्' वर्णोंमें होनेसे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेपि'—८।३।५८—सूत्रसे) 'शर्'-वर्णोंका ही व्यवधान है और (वह चल सकनेसे) सकारको षत्व होगा; और 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेपि' सूत्रमें 'विसर्जनीय' रखनेकी आवश्यकता न पड़ेगी।

तो फिर उस सूत्रमें 'नुम्' पद न रखनेसे भी इष्ट कार्य सिद्ध होगा।

पर 'सर्पींषि', 'धनूंषि' रूप कैसे सिद्ध होंगे?

---

१८. पाणिनिने न्युब्ज ऐसा उच्चारण किया है; इससे यह अनुमान निकलता है कि उद्ज् धातुके दकारको भकार आदेश होता है।

१९. कारण कि '' भुजन्युब्जौ० ' (७।३।६१) सूत्र कुत्वका निषेध कहता है।

२०. 'गम्' धातु के आगे ड प्रत्यय लगाकर 'गम्' के 'अम्' इस टिसंज्ञक भागका लोप होकर 'अभ्युद्गः' आदि रूप सिद्ध होते हैं।

शर्व्याय इत्येव सिद्धम् । अवश्य नुमो ग्रहण कर्तव्यम् । अनुस्वारविशेषण नुम्ग्रहण नुमो योऽनुस्वारस्तत्र यथा स्यादिह मा भूत् । पुंक्ष्विति ॥ अथवाविशेषेणोपदेश कर्तव्य । कि प्रयोजनम् ।

अविशेषेण संयोगोपधासंज्ञालोऽन्त्यद्विर्वचनस्थानिवद्भावप्रतिषेधाः ॥ ८ ॥

अविशेषेण सयोगसज्ञा प्रयोजनम् । ऊ२ञ्जक । हलोऽनन्तरा सयोग [१ १ ७] इति सयोगसज्ञा सयोगे गुरु [१ ४ ११] इति गुरुसज्ञा गुरोरिति प्लुतो भवति ॥ उपधासज्ञा च प्रयोजनम् । दुष्कृतम् निष्कृतम् ।

नुम् का अनुस्वार करनेपर (अनुस्वार शरोंमें अन्तर्भूत हानेसे) 'शर्व्याये पदसे ही इष्ट कार्य सिद्ध होगा ।

(यद्यपि 'सर्पीषि', 'धनूषि' रूपोंमें षत्व होनेके लिए 'नुम्' पदकी आवश्यकता नहीं, तो भी) 'नुम्' पद सूत्रमें अवश्य रखना चाहिये । तथा वह 'नुम्' पद अनुस्वारका विशेषण लेना चाहिये । इससे 'नुम्' को होनेवाले अनुस्वारका ही व्यवधान हाते हुए षत्व होगा । अन्य अनुस्वारका व्यवधान होते हुए षत्व नहीं होगा, उदा० 'पुसु' रूपमें ।

अथवा (ऐसा ही कुछ उपयोग हे कि जिनके लिए शिवसूत्रमें किसी निश्चित रीतिसे नहीं, तो अक्षरसमाम्नायमें) कहीं भी क्यों न हो (इन अयोगवाहोंका) पठन करना ही चाहिये ।

वे उपयोग कौनसे है ?

(वा ८) (अक्षरसमाम्नायमें) कहीं भी उपदेश करनेपर सयोगसज्ञा, उपधासज्ञा, अलोन्त्यविधि, द्विर्वचन और स्थानिवद्भावका निषेध (ये प्रयोजन है) ।

अविशेषसे (अर्थात् इस अक्षरसमाम्नायमें कहीं भी उपदेश करनेपर) 'सयोगसज्ञा होना' यह एक लाभ हे ।—'ऊ२ञ्जक' उदाहरण लें । (हलोंमें कहीं भी उपदेश करनेपर उपध्मानीय ही हल् सज्ञा जानेसे '൦൭ ज' इतने ही भागको) 'हलोऽनन्तरा सयाग' (१।१।७) सूत्रसे सयोगसज्ञा होगी, सयागसज्ञा होनेके कारण (उकारको) 'सयोगे गुरु' (१।४।११) सूत्रसे गुरुसज्ञा होगी, (और गुरुसज्ञा होनेपर) वह उकार 'गुरोरनृत०' (८।२।८६) सूत्रसे प्लुत होगा ।

'उपधासज्ञा होना' यह दूसरा लाभ है ।—'दुष्कृतम्', 'निष्कृतम्', 'निष्पी

---

[१] उपध्मानीय और जकार दोनाको मिलाकर । अब 'उपध्मानीयको नरत्वसे बकार होनेके बाद बकार और जकार दोनोंको मिलाकर सयोगसज्ञा होकर इष्ट कार्य सिद्ध होगा' ऐसा न समझा जाय । कारण कि जत्व असिद्ध है (८।२।१) ।

निष्पीतम् दुष्पीतम् । इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य [८. ३. ४१] इति षत्वं सिद्धं भवति । नैतदस्ति प्रयोजनम् । नेदुदुपधग्रहणेन विसर्जनीयो विशेष्यते । किं तर्हि । सकारो विशेष्यते । इदुदुपधस्य सकारस्य यो विसर्जनीय इति । अथवोपधाग्रहणं न करिष्यत इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीयं विशेषयिष्यामः । इदुद्भ्यामुत्तरस्य विसर्जनीयस्येति ॥ अलोऽन्त्यविधिः प्रयोजनम् । वृक्षस्तरति । प्लक्षस्तरति । अलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यलोऽन्त्यस्य सत्वं सिद्धं भवति । एतदपि नास्ति प्रयोजनम् ।

तम्', 'दुष्पीतम्' उदाहरण लीजिये। इन रूपोंमें इकारको और उकारको उपधासंज्ञा होनेपर 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (८।३।४१) सूत्रसे विसर्गको षत्व होगा।

उपधासंज्ञाके बारेमें यह उपयोग नहीं कहा जा सकता है। 'इदुदुपध' शब्द विसर्गको विशेषणके रूपमें नहीं लगाया जा सकता है।

तो फिर किसको विशेषणके रूपमें लगाया जाय?

सकारका विशेषण किया जाय और 'जिस (शब्द) के उपान्त्य स्थानमें इकार अथवा उकार हो इस (शब्द) के सकारके जो विसर्ग०' इत्यादि अर्थ किया जाय। अथवा 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (८।३।४१) सूत्रमें 'उपधा' शब्द-ही न रखा जायगा; (उस सूत्रमें) 'इदुत्' शब्द विसर्गका विशेषण करेंगे और 'इकार अथवा उकारके आगे रहनेवाला जो विसर्ग है उसको०' (इत्यादि अर्थ होगा)।

अलोन्त्यविधि (१।१।५२) अर्थात् अन्त्य वर्णको कार्य होना यह तीसरा लाभ है।—'वृक्षस्तरति', 'प्लक्षस्तरति' उदाहरण लें। (विसर्गको अल् संज्ञा होनेपर) 'षष्ठी विभक्तिमें उच्चारण करके किसीका कार्य कहनेपर वह कार्य उसके अन्त्य अल्को अर्थात् वर्णको होता है' (१।१।५२) इस (साधारण नियम)-के अनुसार यहाँ अन्त्य अल् (जो विसर्ग) उसको सत्व होगा।

यह भी उपयोग नहीं दिया जा सकता है। 'अमुकको अमुक आदेश होता है

---

२२. 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' (१।१।६५) सूत्रसे अन्त्य अल् के जो उपान्त्य वर्णको उपधा संज्ञा बतायी गयी है। तब निः, दुः इस प्रकारकी स्थिति होते हुए विसर्ग अल् प्रत्याहारोंमें पाया जाता है इसलिए उसके पीछेके इकार और उकारको उपधा संज्ञा होती है।

२३. विसर्ग होनेके पूर्व निस्, दुस्, इन स्थितियोंमें इकार और उकारको उपधा संज्ञा, सकार अल् होनेके कारण, सहज ही होती है।

२४. 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) सूत्रसे विसर्गान्त पदको सकार आदेश कहा गया है। वह 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) परिभाषाके इस विसर्गान्त पदके (अर्थात् 'वृक्षः' के) अन्त्य अल् को अर्थात् विसर्ग को होता है।

निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति विसर्जनीयस्यैव भविष्यति ॥ द्विर्वचनं प्रयोजनम् । उरःकः उरःपः । अनचि च [८. ४. ४७] अच उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं सिद्धं भवति ॥ स्थानिवद्भावप्रतिषेधश्च प्रयोजनम् । यथेह भवत्युरःकेण उरःपेणेत्यड्व्यवाय इति णत्वमेवमिहापि स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति व्यूढोरस्केन महोरस्केनेति । तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधः सिद्धो भवति ॥

किं पुनरिमे वर्णा अर्थवन्त आहोस्विदनर्थकाः ।

अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् ॥ ९ ॥

धातव एकवर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते । एति अध्येति अधीत इति । प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति । आभ्याम् एभिः एषु । प्रत्यया एकवर्णा

इस रीतिसे कहे गये आदेश कहनेवाले सूत्रमें जिस विशिष्ट शब्दस्वरूपका उच्चारण किया जाता है उसी विशिष्ट शब्दस्वरूपको वह आदेश [२५] होता है' इस (साधारण नियम) के अनुसार वह आदेश (विसर्गको यद्यपि 'अल्' कहना संभवनीय न हो तो भी) विसर्ग को ही होगा ।

द्वित्व होना यह चौथा लाभ है।—'उरःकः', 'उरःपः' उदाहरण लीजिये। यहाँ विसर्ग यर समझा जानेपर 'अच् अर्थात् स्वरके आगे होनेवाले यर वर्णको द्वित्व होता है' इस अर्थके 'अनचि च' (८।४।४७) सूत्रसे विसर्गको द्वित्व होगा।

तथा स्थानिवद्भावका निषेध यह पाँचवाँ लाभ है। जिस तरह 'उरःकेण', 'उरःपेण', रूपोंमें विसर्ग अट् होनेके कारण उसका व्यवधान होनेपर भी णत्व (८।४।२) होता है, उसी तरह 'व्यूढोरस्केन', 'महोरस्केन' उदाहरणोंमें भी स्थानिवद्भावसे (१।१।५६) सकारको विसर्गके समान अट् समझकर उसका व्यवधान होनेपर भी णत्व होने लगेगा। वह न होनेके लिए स्थानिवद्भावका [२६] निषेध 'अनल्विधौ' (१।१।५६) पदसे हो यह कार्य (अयोगवाहोंका अक्षर समाम्नायमें पठन करनेसे ही) होगा।

ठीक, पर ये जो वर्ण बताये हैं वे अर्थयुक्त हैं अथवा अर्थरहित हैं?

(वा. ९) वर्ण अर्थयुक्त हैं; क्योंकि धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात एकवर्णयुक्त होनेपर भी उनका अर्थ दीख पड़ता है।

एकाक्षरी धातु अर्थयुक्त दिखायी देते हैं। जैसे, 'एति', 'अध्येति', 'अधीते' इत्यादि रूपोंमें ('इ' धातु)। एकाक्षरी प्रातिपदिक भी अर्थयुक्त दीख पड़ते हैं।

---

२५. 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' परिभाषाका यह अर्थ है।

२६. 'अल् के स्थानमें प्राप्त हुआ आदेश स्थानीके समान न समझा जाय' यह उस निषेधका अर्थ है। विसर्ग अल् है इसलिए उसके स्थानमें प्राप्त हुए सकारको (८।३।३८) अट् नहीं समझा जा सकता है।

अर्थवन्तः । औपगवः कापटवः । निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः । अ अपेहि । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ । धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनान्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति ॥

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात् ॥ १० ॥

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनान्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति । कूपः सूपः यूप इति। कूप इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते । सूप इति ककारापाये सकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते । यूप इति ककारसकारापाये यकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते । ते मन्यामहे यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति ॥

जैसे, 'आभ्याम्,'[२७] 'एभिः', 'एषु' रूपोंमें ('इदम्' शब्दका अवशिष्ट 'अ' प्रातिपदिक है)। प्रत्यय भी एकाक्षरी दिखायी देते हैं। उदाहरणार्थ, 'औपगवः',[२८] 'कापटवः' रूपोंमें 'अ' प्रत्यय। एकाक्षरी निपात भी अर्थयुक्त हैं। जैसे, 'अ अपेहि[२९]', 'इ इन्द्रं पश्य', 'उ उत्तिष्ठ' इन स्थलोंमें ('अ' वर्ण, 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण)। अतः धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात एकवर्णयुक्त होनेपर भी अर्थयुक्त दीख पड़नेसे हम समझते हैं कि वर्ण अर्थयुक्त हैं।

(वा. १०) तथा वर्णका व्यत्यय (बदल) होनेपर दूसरा अर्थ प्रतीत होता है (इसलिए) वर्ण अर्थयुक्त हैं।

वर्णोंका व्यत्यय (बदल) करनेसे अर्थमें भेद होता है, इससे हम समझते हैं कि वर्ण अर्थयुक्त होते हैं। 'कूपः', 'सूपः', 'यूपः' ये तीन शब्द लीजिये। ककारयुक्त 'कूप' शब्दका उच्चारण करनेसे एक अर्थ ध्यानमें आता है; ककार निकालके और सकार रखके 'सूप' शब्दका उच्चारण करनेसे दूसरा अर्थ ध्यानमें आता है; और ककार तथा सकार दोनों निकालकर यकार रखनेसे तीसरा ही अर्थ प्रतीत होता है। इससे हम समझते हैं कि 'कूप' शब्दमें जो कूप अर्थात् कुआँ अर्थ है वह 'क्' वर्णका, 'सूप' शब्दमें जो सूप अर्थात् दाल अर्थ है वह 'स्' वर्णका, और 'यूप' शब्दमें जो यूप अर्थात् खंभा अर्थ है वह 'य्' वर्णका है।

---

२७. यहाँ मूलमें 'इदम्' शब्द है; परन्तु उसमेंसे केवल एक वर्ण 'आ' कार यहाँ शेष रहा है, और उसी एकही वर्णसे 'इदम्' शब्दका अर्थ ध्यानमें आता है।

२८. यहाँ 'उपगु' शब्दके आगे उस 'उपगु' का अपत्य इस 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) सूत्रसे अण् प्रत्यय हुआ है। उसमेंसे णकारका लोप (१।३।९) होकर केवल एक वर्ण अकार शेष रहता है, और उस एक ही वर्णसे 'अपत्य' अर्थ ध्यानमें आता है।

२९. यहाँ अ, इ, उ अव्ययोंका 'हे' अव्ययके समान संबोधन अर्थ है। अरे दूर हो जा, अरे इन्द्रको देख, अरे उठ ऐसा अर्थ है। अ, इ, उ, अव्ययोंके अधिक्षेप, जुगुप्सा, विस्मय, वितर्क

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः ॥ ११ ॥

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेर्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति । वृक्षः ऋक्षः । काण्डीरः आण्डीरः । वृक्ष इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यत ऋक्ष इति वकारापाये सोऽर्थो न गम्यते । काण्डीर इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यत आण्डीर इति ककारापाये सोऽर्थो न गम्यते । किं तर्ह्युच्यतेऽनर्थगतेरिति । न साधीयो ह्यत्रार्थस्य गतिर्भवति । एवं तर्हीदं पठितव्यं स्यात् । वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगतेरिति । किमिदमतदर्थगतेरिति । तस्यार्थस्तदर्थः । तदर्थस्य गतिस्तदर्थ-

---

(वा. ११) तथा वर्णकी अनुपलब्धिसे पदका होनेवाला अर्थ नष्ट हो जाता है (इससे वर्ण अर्थयुक्त हैं)।

उसी प्रकार एकाध वर्ण कम हो जानेसे पहला अर्थ नहीं रहता है, इससे हम समझते हैं कि वर्ण अर्थयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, 'वृक्षः', 'ऋक्षः' शब्द लें; अथवा 'काण्डीरः', 'आण्डीरः' शब्द लें। 'वृक्ष' वकारयुक्त शब्द है और इससे एक अर्थ ध्यानमें आता है, पर वकार निकालके 'ऋक्ष' शब्दका उच्चारण करनेसे वह अर्थ नहीं प्रतीत होता है। उसी प्रकार ककारयुक्त 'काण्डीर' शब्दसे एक अर्थ ध्यानमें आता है, पर ककार हटाकर 'आण्डीर' शब्दके उच्चारणसे वह अर्थ ध्यानमें नहीं आता है।

परन्तु ऊपर दिये हुए अनुभवसे कैसे कहा जाता है कि 'अनर्थगतेः' अर्थात् 'अर्थ ध्यानमें नहीं आता है'? ऐसा नहीं कहा जा सकता है। कारण कि वास्तवमें देखा जाय तो वर्ण घट जाय तो भी यहाँ अर्थ अच्छी तरह ध्यानमें आते हैं[३१]।

ऐसा हो तो आगे दिया हुआ भेद करके वार्तिक पढ़ा जाय— 'वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगतेः।'

इस 'अतदर्थगतेः' पदका अर्थ क्या है? 'तदर्थ' अर्थात् 'उसका (पहले पदका) अर्थ'; 'तदर्थगति' का अर्थ है 'उस (पहले पद) के अर्थका ज्ञान';

इत्यादि और भी कुछ अर्थ हैं।

३०. शर धारण करनेवाला।

३१. न अर्थगतिः अनर्थगति अर्थात् 'अर्थबोध न होना' यह वार्तिकमेंके 'अनर्थगतिः' शब्दका अर्थ है। और 'वृक्ष' मेंसे वकार निकाला जाय तो भी 'ऋक्ष' से अर्थबोध होता नहीं सो बात नहीं। क्योंकि 'ऋक्ष' से 'रीछ' अर्थ ध्यानमें आता है। अब वृक्ष शब्दसे ध्यानमें आनेवाला 'पेड़' अर्थ 'ऋक्ष' शब्दसे ध्यानमें नहीं आता है सही; पर वार्तिककारोंने 'वह अर्थ ध्यानमें नहीं आता' इस अर्थके 'अतदर्थगतिः' शब्दका उच्चारण नहीं किया है, इसलिए यह शंका उपस्थित हुई है।

गतिः । न तदर्थगतिरतदर्थगतिः । अतदर्थगतेरिति । अथवा सोऽर्थस्तदर्थः । तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः । न तदर्थगतिरतदर्थगतिः । अतदर्थगतेरिति । स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । तद्यथा । उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य । उष्ट्रमुखः । खरमुखमिव मुखमस्य । खरमुखः । एवमतदर्थगतेरनर्थगतेरिति ॥

और 'अतदर्थगति' का अर्थ है 'उस (पहले पद) के अर्थ का ज्ञान न होना।' (वर्ण कम होनेपर) अतदर्थगति होनेके कारण (वर्ण अर्थयुक्त है) ऐसा वार्तिकका अर्थ किया जाय । अथवा[३२] 'तदर्थ' अर्थात् 'वह (पहला) अर्थ'; 'तदर्थगति' का अर्थ है 'उस (पहले अर्थ) का ज्ञान'; और 'अतदर्थगति' का अर्थ है 'उस (पहले अर्थ) का ज्ञान न होना।' अतदर्थगतिसे वर्ण अर्थयुक्त है ऐसा भी वार्तिकका अर्थ किया जाय।

ठीक, फिर वार्तिकमें 'अनर्थगतेः' पदके बदले क्या 'अतदर्थगतेः' पद रखा जाय ?

(वार्तिकमें) भेद करनेकी आवश्यकता नहीं। ('अनर्थगति' समास ही) ऐसा समझा जाय कि यहाँ ('उष्ट्रमुख', 'खरमुख' के समान) उत्तरपदका लोप हुआ है। जैसे 'उष्ट्रमुख' शब्दका अर्थ है 'ऊँटके मुँहके समान जिसका मुँह है वह', 'खरमुख' शब्दका अर्थ है 'गधेके मुँहके समान जिसका मुँह है वह', वैसे ही[३३] 'अनर्थगतेः' पदका अर्थ किया जाय 'अतदर्थगतेः' (अर्थात् 'वह अर्थ ध्यानमें न आनेसे')।

---

३२. 'तदर्थ' मेंके 'तद्' शब्दसे 'वृक्ष' शब्द लेकर उस तद् शब्दको 'अर्थ' शब्दके साथ षष्ठी-तत्पुरुष समास करके अर्थ किया है । अब 'तद्' शब्दसे 'वृक्ष' शब्द न लेके उसका 'पेड़' अर्थ लेकर उस 'तद्' शब्दका 'अर्थ' शब्दके साथ कर्मधारय समास करके अर्थ बता रहे हैं।

३३. जिस तरह 'उष्ट्रमुख' शब्दमें 'उष्ट्र' शब्दके आगेके एक 'मुख' शब्दका लोप हुआ है उसी तरह 'अनर्थगतेः' शब्दमें 'नञ्' के आगे 'तद्' शब्दका लोप हुआ है। यहाँ मूल भाष्यमें 'उत्तरपद' ऐसा कहा गया है। वहाँ 'उत्तरपद' शब्दका अर्थ समासमेंका अगला भाग ऐसा नहीं लिया जाता है। 'उष्ट्रमुख' शब्दमें जिस 'मुख' शब्दका लोप हुआ है वह मुख शब्द तत्पुरुषसमासमेंका उत्तरपद है, वैसे ही 'अनर्थगतेः' शब्दमें 'तद्' शब्दका लोप हुआ है। पर वह 'तद्' शब्द 'तदर्थ' इस षष्ठीतत्पुरुषका अथवा कर्मधारयका पूर्वपद है, अतएव भाष्यमेंके 'उत्तरपद' शब्दका 'अगला पद' इतनाही अर्थ यहाँ किया है। 'अतत्' नञ्तत्पुरुष किया जाय तो 'तद्' शब्द उत्तरपद होगा। पर वैसा किया जाय तो 'अतदर्थगते' का अर्थ होगा 'उस अर्थके सिवा भिन्न अर्थका बोध होता है।' वार्तिकका अर्थ नञ्तत्पुरुष लिया जाय तो भी मेल खाएगा। किन्तु भाष्यकारने वैसा अर्थ नहीं लिया है।

संघातार्थवत्त्वाच्च ॥ १२ ॥

संघातार्थवत्त्वाच्च मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति । संघाता अर्थवन्तोऽवयवा अपि तेषामर्थवन्तः । येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः । तद्यथा । एकश्चक्षुष्मान्दर्शने समर्थस्तत्समुदायश्च शतमपि समर्थम् । एकश्च तिलस्तैलदाने समर्थस्तत्समुदायश्च खार्यपि समर्था । येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः । तद्यथा । एकोऽन्धो दर्शनेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च शतमप्यसमर्थम् । एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था तत्समुदायश्च खारीशतमप्यसमर्थम् ॥ यदि तर्हीमे वर्णा अर्थवन्तोऽर्थवत्कृतानि प्राप्नुवन्ति । कानि । अर्थवत्प्रातिपदिकम् [१. २. ४५] इति प्रातिपदिकसंज्ञा प्रातिपदिकात् [४ १. १] इति स्वाद्युत्पत्तिः सुप्तिङन्तं पदम् [१. ४. १४] इति पदसंज्ञा।

(वा. १२) और वर्णसमूह अर्थयुक्त होनेसे (वर्ण भी अर्थयुक्त हैं ।)

तथा हम मानते हैं कि जब कि वर्णसमूह अर्थयुक्त है तो वर्ण भी अर्थयुक्त हैं । जिनके समूह अर्थयुक्त हैं उन समूहोंके अवयव भी अर्थयुक्त हैं, और जिनके अवयव अर्थरहित हैं उनके समूह भी अर्थरहित हैं । इसके लिए यह लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है कि, दृढ दृष्टियुक्त एक व्यक्ति देख सकता है, तो वैसे सौ व्यक्तियोंका समूह भी देख सकता है, तथा एक तिलसे तेल निकलता है तो उनके ढेरसे— खंडीभर तिलोंसे—भी तेल निकल सकता है । पर जहाँ अवयव अर्थरहित हैं वहाँ उनके समुदाय भी अर्थरहित होते हैं । जैसे, एक अन्धा देखनेकी क्रियामें असमर्थ हो तो सौ अंधोंका समुदाय भी देखनेमें असमर्थ होता है, तथा बालूके एक कणसे तेल नहीं निकलता है, तो बालूके ढेरसे—सौ खंडी बालूसे—भी तेल निकलता ही नहीं ।

ठीक, पर यदि समझा जाय कि वर्ण अर्थयुक्त हैं तो अर्थयुक्त शब्दोंको[३४] होनेवाले कार्य भी उनको होने लगेंगे ।

वे कौनसे ?

'अर्थवत्० प्रातिपदिकम्' (१।२।४५) सूत्रसे बतायी गयी प्रातिपदिक संज्ञा, 'प्रातिपदिकात्' (४।१।१-२) सूत्रके अनुसार प्रातिपदिकके आगे सु, औ, जस् इत्यादि प्रत्यय लगना, तथा 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) सूत्रसे पदसंज्ञा ।

---

३४. घट, पट इत्यादि शब्दोंको ।

३५ यहाँ तक चार कारण दिखाकर सिद्ध किया है कि 'वर्ण अर्थवान् हैं ।' अब प्रश्न निर्माण होता है कि 'यह प्रत्येक वर्णका अर्थ कौनसा ?' इसका उत्तर यों है कि, वर्णोंके समुदायसे जो अर्थ ध्यानमें आता है उससे भिन्न अर्थ प्रत्येक वर्णसे कुछ भी ध्यानमें नहीं आता है । अत यह मानना पड़ता है कि जो अर्थ समुदायका है वही अर्थ उसमेंके प्रत्येक वर्णका भी होता है ।

तत्र को दोषः । पदस्येति नलोपादीनि प्राप्नुवन्ति । धनम् वनमिति ।

संघातस्यैकार्थ्यात्सुबभावो वर्णात् ॥ १३ ॥

संघातस्यैकत्वमर्थस्तेन वर्णात्सुबुत्पत्तिर्न भविष्यति ॥

अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः ॥ १४ ॥

अनर्थकास्तु वर्णाः । कुतः । प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः । न हि प्रतिवर्णमर्था उपलभ्यन्ते । किमिदं प्रतिवर्णमिति । वर्णं वर्णं प्रति प्रतिवर्णम् ॥

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात् ॥ १५ ॥

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनान्मन्यामहेऽनर्थका वर्णा इति ।

ठीक, पदसंज्ञा हो तो क्या दोष है ?

'धनम्', 'वनम्' इत्यादि शब्दोंमें (नकारको) पदसंज्ञा हो जानेसे नकारका लोप (८।२।७) इत्यादि कार्य होंगे।

(वा. १३) (वर्ण-) समूहका एक अर्थ होनेसे वर्णके आगे सु–आदि प्रत्यय न होंगे ।

वर्णसमूहका एक अर्थ होता है और उससे प्रत्येक वर्णको सु–आदि विभक्ति-प्रत्यय नहीं लगेंगे[३६] ।

(वा. १४) वर्ण अनर्थक हैं, कारण कि प्रत्येक वर्णके अर्थकी उपलब्धि नहीं होती है।

पैर वर्ण अनर्थक है।

क्यों ?

क्यों कि प्रत्येक वर्णका अर्थ दिखायी नहीं देता है । एक एक करके वर्णोंका उच्चारण करते ही भिन्न भिन्न अर्थ कदापि ध्यानमें नहीं आता है।

'प्रतिवर्णम्' पदका वार्तिकमें किस अर्थमें उच्चारण किया गया है ?

'प्रतिवर्णम्' अर्थात् प्रत्येक वर्णको।

(वा. १५) वर्णोंका व्यत्यय, लोप, उपजन और विकार होनेपर भी अर्थ (कायम) रहनेसे वर्ण अर्थरहित हैं।

वर्णोंका व्यत्यय, लोप, उपजन और विकार होनेपर भी अर्थ

---

३६. कारण कि 'गो' शब्दका अर्थ है 'गाय'; उस अर्थका एकत्व 'गो' शब्द के आगे लगाये गये 'सु' प्रत्ययसे नहीं दिखाया जाता है, इससे वही एकत्व दिखानेके लिए फिर उस 'गो' शब्दमेंके गकार आदि प्रत्येक वर्णके आगे 'सु' प्रत्यय नहीं लगाया जाता है।

३७. यहाँसे 'वर्ण अनर्थक भी हैं' यह पक्ष सिद्ध करते हैं। इस पक्षका तात्पर्य यह है कि, 'जहाँ धातु, प्रातिपादिक, प्रत्यय इत्यादि एकाक्षरी हों वहाँ यद्यपि वर्ण अर्थयुक्त हो तो भी सभी स्थानोंपर वर्ण अर्थयुक्त हैं ही ऐसा [illegible]

वर्णव्यत्यये। कृतेस्तर्कुः। कसेः सिकताः। हिंसेः सिंहः। वर्णव्यत्ययो नार्थव्यत्ययः॥ अपायो लोपः। घ्नन्ति घ्नन्तु अघ्नन्। वर्णापायो नार्थापायः॥ उपजन आगमः। लविता लवितुम्। वर्णोपजनो नार्थोपजन.॥ विकार आदेशः। घातयति घातकः। वर्णविकारो नार्थविकारः॥ यथैव हि वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारा भवन्ति तद्वदर्थव्यत्ययापायोपजनविकारैर्भवितव्यम्। न चेह तद्वत्। अतो मन्यामहेऽनर्थका वर्णा इति॥ उभयमिदं वर्णपूरकम्। अर्थवन्तोऽनर्थका इति च। किमत्र न्याय्यम्।

(कायम) रहनेसे हम समझते है कि वर्ण अर्थरहित है। वर्णव्यत्ययका उदाहरण— 'कृत्' धातुसे 'तर्कु' शब्द सिद्ध होता है। (उसमें तकार और ककारका व्यत्यय होनेपर भी अर्थ वही कायम है।) तथा 'कस्' धातुसे 'सिकता' शब्द सिद्ध होता है, और 'हिंस्' धातुसे 'सिंह' शब्द सिद्ध होता है[39]। इन सब उदाहरणोंमें वर्णोका ही व्यत्यय (हेर-फेर) होता है, न कि अर्थका। अपाय अर्थात् लोप, जैसे, 'घ्नन्ति', 'घ्नन्तु', 'अघ्नन्'। यहाँ केवल वर्णका ही लोप हुआ है, अर्थका नहीं। उपजन अर्थात् आगम (वर्णोकी अधिक प्राप्ति), जैसे, 'लविता', 'लवितुम्'। यहाँ (यद्यपि इकारै) अधिक वर्ण आया है तो भी अर्थमें वृद्धि नहीं। विकार अर्थात् आदेश, उदाहरणार्थ 'घातयति', 'घातक.'। यहाँ (यद्यपि 'हन्' धातुके) वर्णोको आदेश[42] हुए हैं तो भी अर्थमें भेद नहीं दिखायी देता है। वास्तवमें देखा जाय, तो यहाँ जिस प्रकार वर्णोका व्यत्यय, लोप, उपजन और विकार होते है, उसी प्रकार अर्थका व्यत्यय, लोप, उपजन और विकार होने चाहिये। पर वैसा दीख न पडनेसे हम समझते हैं कि वर्ण अर्थयुक्त नहीं।

वर्णोके विषयमें दोनों पक्ष बताये गये, वर्ण अर्थयुक्त है और अर्थरहित है। इन दोनोंमें योग्य पक्ष क्या है?

---

३८ 'कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च' (उणादि सू० १।१६) सूत्रसे कृत् धातुके आगे उण् प्रत्यय लगाकर धातुमेंके ककार और तकार का हेर-फेर किया गया है। उसके बाद 'पुगन्त०' (७।३।८६) सूत्रसे गुण होकर तर्कु शब्द सिद्ध होता है।

३९ 'पृषोदरादीनि०' (६।३।१०९) सूत्रसे ये शब्द सिद्ध होते हैं।

४०. 'हत' में 'हन्' धातुके नकारका लोप (६।४।३७) हुआ है। 'घ्नन्ति' आदि उदाहरणोंमें हन् धातुके अकारका लोप (६।४।९८) हुआ है।

४१ 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) सूत्रसे प्राप्त हुआ इट् आगम।

४२ हकारको कुत्व (७।३।५४), अकारको वृद्धि (७।२।११६) और नकारको तकार (७।३।३२) ये आदेश हुए हैं।

उभयमित्याह । कुतः । स्वभावतः । तद्यथा । समानमीहमानानामधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न । न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुं कश्चिद्वानर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकैः । तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम् । यद्धातुप्रत्ययप्रातिपदिकनिपाता एकवर्णा अर्थवन्तोऽतोऽन्येऽनर्थका इति स्वाभाविकमेतत्॥ कथं य एष भवता वर्णानामर्थवत्तायां हेतुरुपदिष्टोऽर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनाद्वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनाद्वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः संघातार्थवत्त्वाच्चेति संघातान्तराण्येवैतान्येवंजातीयकान्यर्थान्तरेषु वर्तन्ते । कूपः सूपः यूप इति । यदि हि वर्णव्यत्ययकृतमर्थान्तरगमनं स्याद्भूयिष्ठः कूपार्थः सूपे स्यात्सूपार्थश्च कूपे कूपार्थश्च यूपे यूपार्थश्च कूपे सूपार्थश्च

हम समझते हैं कि दोनों पक्ष न्याय्य हैं।

सो कैसे?

वर्णोंके स्वभावसे। जैसे, लोगोंमें भी एक ही काम करनेकी इच्छा करनेवालों अथवा एक ही ग्रंथका अध्ययन करनेवालोंमेंसे कुछ थोड़े ही व्यक्ति अपने कार्यमें सफल होते हैं, अन्य नहीं। वर्णोंमें भी एकाध वर्ण अर्थयुक्त दिखायी देनेसे सभी वर्ण अर्थयुक्त नहीं हो सकते हैं; अथवा एकाध वर्ण अर्थरहित हो तो सभी वर्ण अर्थरहित हैं ऐसा भी नहीं।

ठीक, तो (कुछ वर्ण अर्थयुक्त हों, कुछ न हों; कौनसे अर्थयुक्त अथवा कौनसे अर्थरहित हैं) यह हम कैसे समझ सकें?

धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक और निपात ये जहाँ एकाक्षरी हों वहाँ एकवर्ण अर्थयुक्त, और अन्य स्थानोंमें अर्थरहित होते हैं ऐसा कहना पड़ता है। यह विधान स्वाभाविक भी है।

सो कैसे?

वर्णोंकी अर्थयुक्तता सिद्ध करनेके लिए (चार प्रकारका) हेतु दिया है— "१. एकवर्णयुक्त धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात अर्थयुक्त होते हैं; २. वर्णोंका व्यत्यय होनेसे अर्थमें भेद होता है; ३. वर्ण कम होनेसे पहला अर्थ बदल जाता है; ४. वर्णसमूह अर्थयुक्त दीख पड़ता है।" इसके संबंधमें यह कहा जा सकता है कि, जहाँ जहाँ अर्थमें भेद होता है वहाँ वहाँ भिन्न अर्थ धारण करनेवाले भिन्न भिन्न वर्णसमूह होते हैं; उदा० कूप, सूप, यूप आदि। यदि वर्णोंकी भिन्नता अर्थभिन्नताका हेतु हो तो कूप और सूप शब्दोंमें बहुतसा भाग[४३] समान होनेके कारण कूप शब्दके अर्थमेंसे बहुत बड़ा भाग सूप शब्दके अर्थमें पाया जायगा; उसी प्रकार

४३. 'ऊप' इतना भाग।

यूपे यूपार्थश्च सूपे। यतस्तु खलु न कश्चित्कूपस्य वा सूपे सूपस्य वा कूपे कूपस्य वा यूपे यूपस्य वा कूपे सूपस्य वा यूपे यूपस्य वा सूपेऽतो मन्यामहे संघातान्तराण्येवैतान्येवंजातीयकान्यर्थान्तरेषु वर्तन्त इति। इदं खल्वपि भवता वर्णानामर्थवत्त्वां ब्रुवता साधीयोऽनर्थकत्वं द्योतितम्। यो हि मन्यते यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येत्यूपशब्दस्तस्यानर्थकः स्यात्॥ तत्रेदमपरिहृतं संघातार्थवत्त्वाच्चेति। एतस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञायां परिहारं वक्ष्यति॥

अ इ उण् ऋ ऌक् ए ओङ् ऐ औच्।

सूप शब्दका बहुतसा अर्थ कूप शब्दके अर्थमें दीख पड़ेगा; तथा कूप शब्दका बहुतसा अर्थ यूप शब्दके अर्थमें उपलब्ध होगा, और यूप शब्दका बहुतसा अर्थ कूप शब्दके अर्थमें प्राप्त होगा; सूप शब्दका बहुतसा अर्थ कूप शब्दके अर्थमें पाया जायगा और यूप शब्दका अर्थ सूप शब्दके अर्थमें उपलब्ध होगा। परन्तु, वास्तवमें देखा जाय तो चूँकि कूपका थोड़ा भी अर्थ सूपके अर्थमें नहीं प्राप्त होता, तथा सूपका कूपमें नहीं मिलता, कूपका सूपमें नहीं उपलब्ध होता, अथवा यूपका कूपमें नहीं मिलता, अथवा सूपका यूपमें नहीं पाया जाता और यूपका सूपमें नहीं दीख पड़ता, तो हम समझते हैं कि, भिन्न भिन्न अर्थ दिखानेवाले ये भिन्न भिन्न वर्ण समूहमें होते है।

और ऊपर आपने वर्णोंकी अर्थयुक्तता सिद्ध करनेके लिए जो विधान किया है, उसीसे तो 'वर्णोंकी अर्थरहितता' ही अधिक अच्छी तरह सिद्ध होती है। कारण कि जो व्यक्ति समझता है कि 'कूप शब्दमें जो कूप अर्थात् कुआँ अर्थ है वह ककारका, सूप शब्दमें जो सूप अर्थात् दाल अर्थ है वह सकारका और यूप शब्दमें जो यूप अर्थात् खम्भा अर्थ है वह यकारका है', उसके मतसे (ककार अथवा सकार अथवा यकारका ही वह भिन्न भिन्न अर्थ होनेसे) 'ऊप'[४४] भाग अर्थरहित ही होता है।

तात्पर्य यह है कि (यद्यपि वर्णोंकी अर्थयुक्तता सिद्ध करनेके लिए दिये हुए अन्य हेतुओंका परिहार किया गया तो भी) 'वर्णसमूहमें अर्थयुक्तता होनेसे (शब्दावयव वर्ण अर्थयुक्त है)' इस चौथे हेतुका परिहार नहीं किया गया है। इस हेतुका भी परिहार आगे 'प्रातिपदिक' संज्ञाके विवेचनमें वार्तिककार (१।२।४५, वा. ११) करेंगे।

अइउण्, ऋऌक्, एओङ्, ऐऔच्।

---

४४. तब उसीसे सिद्ध होता है कि कूप आदि शब्दोंमेंके ऊकार, पकार और अकार वर्ण अनर्थक हैं।

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न ।

य एतेऽक्षु प्रत्याहारार्था अनुबन्धाः क्रियन्त एतेषामज्ग्रहणेषु ग्रहणं कस्मान्न भवति। किं च स्यात्। दधि णकारीयति मधु णकारीयतीतीको यणचि [६. १. ७७] इति यणादेशः प्रसज्येत ॥

आचारात्

किमिदमाचारादिति । आचार्याणामुपचारात् । नैतेष्वाचार्या अच्कार्याणि कृतवन्तः ॥

अप्रधानत्वात्

अप्रधानत्वाच्च । न खल्वप्येतेषामक्षु प्राधान्येनोपदेशः क्रियते । क्व तर्हि ।

(श्लो. वा.) जिन सूत्रोंमें 'अच्' प्रत्याहारका उच्चारण किया हो वहाँ उस 'अच्' प्रत्याहारमें (ण्, क्, ङ्) अनुबन्धोंका ग्रहण क्यों नहीं होता है ?

'अइउण्' आदि इन चार सूत्रोंमें जो ण्, क्, ङ् ये अन्त्य वर्ण प्रत्याहारके लिए रखे गये हैं वे 'अच्' प्रत्याहार जहाँ उच्चारित हैं वहाँ उन प्रत्याहारोंमें क्यों न लिये जायँ ?

लिये जायँ तो क्या होगा ?

'दधि णकारीयति', 'मधु णकारीयति' इन उदाहरणोंमें ण् 'अच्' प्रत्याहारोंमें लिया जाय तो 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्रसे इकार और उकारको 'यण्' आदेश होने लगेगा ।

(श्लो. वा.) आचारसे (नहीं लिये जायँगे)।

'आचारसे' का अर्थ क्या है ?

'आचारसे' अर्थात् आचार्यकी परिपाटीके कारण। इन णकार आदि वर्णोंको अच् समझके अचोंके कार्य आचार्योंने कदापि नहीं किये है[४५] ।

(श्लो. वा.) प्रधान न होनेसे (प्रत्याहारमें नहीं लिये जायेंगे)।

और ('अइउण्' आदि सूत्रोंमें अन्तमें उच्चरित 'ण्', 'क्' आदि वर्ण) मुख्य न होनेसे भी (वे अच् प्रत्याहारोंमें नहीं लिये जायेंगे)। कारण कि स्वरोंमें इन 'ण्', 'क्', 'ङ्' व्यञ्जनोंका प्रधानतासे उच्चारण नहीं किया गया है।

तो फिर प्रधानतासे उनका उच्चारण कहाँ किया गया है ?

---

४५. 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (१।१।८) सूत्रमें, पाणिनिने 'नासिका' शब्दमेंके 'इ' कारको, अगले ककारको अच् समझकर, 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्रसे यण् करके उच्चारण नहीं किया है ।

हल्षु । कुत एतत् । एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति । अचोऽक्षु हलो हल्षु ॥

लोपश्च बलवत्तरः ॥

लोपः खल्वपि तावद्भवति ॥

ऊकालोऽजिति वा योगस्तत्कालानां यथा भवेत् ।
अचां ग्रहणमच्कार्यं तेनैषां न भविष्यति ॥

अथवा योगविभागः करिष्यते । ऊकालोऽच् । उ ऊ ऊ३ इत्येवंकालोऽज्भ-

' हल् ' अर्थात् व्यञ्जन, उनमें ।

सो कैसे ?[४७]

आचार्यजीकी यह शैली स्पष्टतासे दिखायी देती है कि समान जातिके वर्णोंका उच्चारण एक ही स्थानपर एक एक करके आचार्यजीने किया है । जैसे, सब ' अच् ' (अर्थात् स्वर) अचोंमें रखे हैं, और ' हल् ' (अर्थात् व्यञ्जन) हलोंमें ।

(श्लो. वा.) और लोप अधिक बलवान है ।

तथा (' अइउण्, ' ' ऋलृक् ' आदि सूत्रोंमें ' ण् ', ' क् ' आदि वर्णोंकी प्रत्याहारसंज्ञा करनेसे) पहलेही लोप होगा; (और उससे वे प्रत्याहारोंमें आयेंगे ही नहीं) ।[४९]

(श्लो. वा.) अथवा ' ऊकालोच् ' इतना सूत्र किया जाय; इस कारणसे उ, ऊ, ऊ३ के उच्चारणके लिए (जितना समय लगता है) उतना समय जिनके उच्चारणको लगता है उन वर्णोंको अच् कहा जाय; और इन व्यंजनोंको अच्का कार्य न होगा ।

अथवा (' ऊकालोज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ' -१।२।२७-सूत्रके) दो भाग हो सकते हैं। (पहला) ' ऊकालोच् '; (उसका अर्थ यह है कि) उ, ऊ, ऊ ३ (के उच्चारणके

---

४६. ' ञमङणनम् ' सूत्रमें णकारका मुख्यतया उच्चारण किया है। इसी तरह ' कपय् ' सूत्रमें ककारका मुख्यतया उच्चारण किया है।

४७. णकारका मुख्यतया उच्चारण ' ञमङणनम् ' में ही है। अइउण्में मुख्यतया नहीं ऐसा क्यों माना जाय ? उलटे क्यों न माना जाय ?

४८. महेश्वरने।

४९. ' हलन्त्यम् ' (१।३।३) सूत्रसे सूत्रमेंके अन्त्य ण्, क् इत्यादि वर्णोंको इत्संज्ञा की जानेपर ही अच् आदि संज्ञा करनेके पहलेही ' तस्य लोपः ' (१।३।९) सूत्रसे लोप प्राप्त होता है। अतः अच्, अण् इत्यादि प्रत्याहार सिद्ध करनेवाले ' आदिरन्त्येन सहेता ' (१।१।७१) सूत्रसे ' अच् अर्थात् अक्षरसमाम्नायमेंके अ-से च् तक अमुक वर्ण ' यह निश्चित करते समय उन वर्गोंमें ण्, क् आदि वर्ण लुप्त होनेके कारण नहीं रक्खे जा सकते हैं।

वति। ततो ह्रस्वदीर्घप्लुतः। ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञश्च भवत्यूकालोऽच्। एवमपि कुक्कुट इत्यत्रापि प्राप्नोति। तस्मात्पूर्वोक्त एव परिहारः॥ एष एवार्थः। अपर आह।

ह्रस्वादीनां वचनात्प्राग्यावत्तावदेव योगोऽस्तु।
अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कालेष्वक्षु कार्याणि॥

अथ किमर्थमन्तःस्थानामण्सूपदेशः क्रियते। इह सय्ँय्यन्ता सव्ँवत्सरः यँल्लोकम् तँल्लोकमिति परसवर्णस्यासिद्धत्वादनुस्वारस्यैव द्विर्वचनम्। तत्र परस्य परसवर्णे कृते तस्य यण्ग्रहणेन ग्रहणात्पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात्। नैतदस्ति

लिए जितना समय[50] लगता है) उतना समय जिसके उच्चारणको लगता है उस वर्णको अच् कहा जाय। उसके अनन्तर 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' (यह दूसरा भाग); (उसका अर्थ यों है कि) उ, ऊ, ऊ३ (के उच्चारणके लिए) जो समय लगता है उतना समय उच्चारणमें लगनेवाले अच् को (क्रमसे) ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कहा जाय।

(पर यद्यपि ऐसा किया जाय) तो भी 'कुक्कुट' में 'क्कु' को अच् संज्ञा प्राप्त होगी[51]। अतः (वह न होनेके लिए) पहले बताये हुए ही ('आचारात्', 'अप्रधानत्वात्' आदि) परिहार लेने चाहिये।

यही अर्थ है। दूसरा वैयाकरण यों लिखता है कि—[52]

(श्लो. वा.) ऊकालोच्० सूत्रके ह्रस्व, दीर्घ आदि शब्दोंके पूर्वका जितना भाग (अर्थात् ऊकालोच्) है उतना ही पहला सूत्र रहने दें। इससे अचोंके संबंधमें बताये हुए कार्य (उ, ऊ, ऊ ३ के उच्चारणके लिए जितना समय लगता है) उतना समय लगनेवाले अचोंको ही करने योग्य होंगे (तथा व्यंजनोंको न होंगे)।

ठीक, अन्तःस्थ वर्णोंका (अर्थात् य् र् ल् व् का) अणोंमें क्यों उपदेश किया है?

यहाँ 'सँय्यन्ता,' 'सँव्वत्सरः', 'यँल्लोकम्', 'तँल्लोकम्' इत्यादि उदाहरणोंमें परसवर्ण (८।४।५९) असिद्ध होनेके कारण (पहले होनेवाले) अनुस्वारको द्वित्व (८।४।४७) होता है। अतः (द्वित्व होनेपर) अगले (अनुस्वार) को परसवर्ण होता है (और वह स्थानीके समान सानुनासिक होता है)। वह परसवर्ण यय्के रूपमें लियाँ जाता है (१।१।६९) तब पहले अनुस्वारको भी परसवर्ण होनेके लिए (अन्तःस्थोंका अणोंमें उच्चारण करना आवश्यक है)।

---

५०. एक, दो अथवा तीन मात्राओंके प्रमाणका। तब अर्धमात्रिक वर्णको अच् न कहा जानेके कारण अइउण्, ऋऌक् इत्यादिमेंके ण्, क् व्यंजनोंको अच् संज्ञा नहीं होती है।

५१. कारण कि दो ककारोंके 'क्कु' संयुक्ताक्षरकी एक मात्रा होती है।

५२. किन्हीं आचार्योंके लिखे 'ह्रस्वादीनां वचनात्०' पद्यका यहाँ वार्तिककार अनुवाद कर रहे हैं। 'ऊकालोजिति वा०' श्लोकवार्तिकके अर्थका ही प्राचीन आचार्योंका यह पद्य है।

५३. 'हयवरट्' सूत्रमें यकार आदिका निरनुनासिक उच्चारण किया गया है। अत

प्रयोजनम् । वक्ष्यत्येतत् । द्विर्वचने परसवर्णत्वं सिद्धं वक्तव्यमिति । यावता सिद्धत्वमुच्यते परसवर्ण एव तावद्भवति । परसवर्णे तर्हि कृते तस्य यग्रहणेन ग्रहणाद्द्विर्वचनं यथा स्यात् । मा भूद्द्विर्वचनम् । ननु च भेदो भवति । सति द्विर्वचने त्रियकारमसति द्विर्वचने द्वियकारम् । नास्ति भेदः । सत्यपि द्विर्वचने द्वियकारमेव । कथम् । हलो यमां यमि लोपः [८. ४. ६४] इत्येवमेकस्य लोपेन भवितव्यम् । एवमपि भेदः । सति द्विर्वचने कदाचिद्द्वियकारं कदाचित्त्रियकारम् । असति द्वियकारमेव । स एष कथं भेदो न स्यात् । यदि नित्यो लोपः स्यात् । विभाषा च स लोपः । यथाभेदस्तथास्तु ।

यह उपयोग नहीं दिया जा सकता है । द्वित्व करनेकी आवश्यकता होनेपर परसवर्ण सिद्ध है ऐसा कहा जाय यह वार्तिककार आगे (८-२-६, वा. १४) बतायेंगे । और सिद्ध होता है यह माननेसे द्वित्व न होके परसवर्ण ही पहले होता है ।

परसवर्ण यद्यपि पहले हुआ हो तो उस सानुनासिक यकारका यरके रूपमें ग्रहण होना आवश्यक है जिससे परसवर्णका द्वित्व होगा । (सानुनासिक यकारका यरके रूपमें ग्रहण होनेके लिए अन्तःस्थोंका उच्चारण अणोंमें करना आवश्यक है ।)

द्वित्व न हो; (द्वित्व न होनेसे कुछ भी बिगड़ता नहीं) ।

क्यों ? रूपमें बदल हो जाता है । द्वित्व होनेसे तीन यकारोंसे[५४] युक्त रूप होता है; द्वित्व न होनेसे दो यकारोंसे युक्त रूप होता है ।

यह भेद नहीं होता है । यद्यपि द्वित्व हो तो रूपमें दो ही यकार रहते हैं ।

सो कैसे ?

'हलो यमां यमि लोपः' (८-४-६४) सूत्रसे एक यकारका लोप होगा ।

तो भी भेद होगा ।— कारण कि द्वित्व होनेसे कभी दो यकारोंसे युक्त रूप पाया जायगा, कभी तीन यकारोंसे युक्त रूप प्राप्त होगा; पर द्वित्व न होनेसे दो यकारोंसे युक्त एक ही रूप होगा । (अतः) कैसे कहा जाय कि भेद नहीं होगा ?

अब यदि लोप नित्य होता (तो वैसा कहा जा सकता) ।

पर लोप विकल्पसे है ।

ठीक, तो फिर जिससे भेद न होगा वैसा किया जाय; (अर्थात् 'हलो यमां यमि लोपः'— ८।४।६४ — में 'विकल्पसे' पद पिछले सूत्रमेंसे न लाया जाय) ।

उनको यय्, यर् इत्यादि कहा जा सकता है । परन्तु वे अणोंमें हैं इसलिए 'अणुदित्०' (१।१।६९) सूत्रसे उन अणोंसे अपने सवर्णोंका अर्थात् सानुनासिक यकार आदिका ग्रहण किया जाय तो सानुनासिक यकार आदि यय्, यर् आदि हैं ऐसा कहा जा सकता है ।

५४. द्वित्वमें प्राप्त दो सानुनासिक यकार और अगला एक निरनुनासिक यकार ऐसे तीन यकार होते हैं ।

५५. कारण लोप विकल्पसे कहा गया है ।

दीर्घोऽणः [६. ३. १११] इति । असंदिग्धं पूर्वेण न परेण । कुत एतत् । परामावात् । न हि ढ्रलोपे परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति । आतृढम् आवृढमिति । एव तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण न परेण । यदि हि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽच इत्येव ब्रूयात् । अथवैतदपि न ब्रूयात् । अचो ह्येतद्भवति ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति ॥ अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे संदेहः केऽणः [७. ४. १३] इति । असंदिग्धं पूर्वेण न परेण । कुत एतत् । पराभावात् । न हि के परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति । गोका नौकेति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण न परेण । यदि हि परेण स्यादण्ग्रहण-

---

'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोणः' (६।३।१११) सूत्रमें।

निःसंशय पूर्व णकारके साथ ही (यहाँ प्रत्याहार समझा जाय), पर णकारके साथ नहीं।

सो कैसे ?

कारण कि पर णकार (लेकर अधिक समझे गये 'अण्' वर्णका अभाव है)। पर णकारके साथ प्रत्याहार लेकर अधिक समझे गये अण् 'ढ्रलोपे०' सूत्रके उदाहरणमें नहीं पाये जाते।

क्यों ? ऋकार तो मिलता है; आतृढम्, आवृढम् उदाहरण देखिये।

तो फिर ('अण्' पदके उच्चारणके बलपर पूर्व णकारके साथ (प्रत्याहार लिया जाय), पर णकारके साथ न (लिया जाय)। यदि पर णकारके साथ लिया जाय तो अण् उच्चारण व्यर्थ होगा। 'अणः' (के बदले लाघवसे 'अचः' पद रखकर) 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः' यही सूत्र किया जाय। अथवा 'अचः' पद भी सूत्रमें रखनेकी आवश्यकता नहीं; कारण कि ह्रस्व, दीर्घ अथवा प्लुत ये अच् वर्णों अर्थात् स्वरोंको ही होते हैं (१।२।२८)।

ठीक, तो 'केऽणः' (७।४।१३) सूत्रमें जो अण् (पद उच्चारित है) उसके संबंधमें संदेह निर्माण होता है।

यहाँ भी निःसंशय पूर्व णकारके साथ ही (प्रत्याहार समझा जाय), पर णकारके साथ नहीं।

क्यों ?

कारण कि अगला णकार (लेकर अधिक समझा हुआ अण् 'केऽणः' सूत्रके उदाहरणोंमें) नहीं। 'क' प्रत्यय आगे रहनेपर अगला अण् पाया ही नहीं जाता।

क्यों ? 'गोका', 'नौका' रूपोंमें अगला अण् प्राप्त होता है।

मनर्थकं स्यात्। केऽच इत्येव ब्रूयात्। अथवैतदपि न ब्रूयात्। अचो ह्येतद्भवति ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति॥ अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे संदेहः। अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः [८. ४. ५७] इति। असंदिग्धं पूर्वेण न परेण। कुत एतत्। पराभावात्। न हि पदान्ताः परेऽणः सन्ति। ननु चायमस्ति। कर्तृ हर्तृ इति। एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण न परेण। यदि हि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक इत्येव ब्रूयात्। अथवैतदपि न ब्रूयात्। अच एव हि प्रगृह्या भवन्ति॥ अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे संदेहः। उरण्रपरः [१. १. ५१] इति।

तो फिर ('अण्' पदके उच्चारणके) बलपर पूर्व णकारके साथ (प्रत्याहार लिया जाय), पर णकारके साथ न (लिया जाय)। यदि पर णकारके साथ प्रत्याहार लिया जाय तो 'अण्' पद रखनेकी आवश्यकता नहीं; 'अच्' पद रखके 'केऽचः' ऐसा ही सूत्र किया जाता। अथवा 'अचः' पद रखनेकी भी आवश्यकता नहीं; कारण कि ह्रस्व, दीर्घ अथवा प्लुत होता है (ऐसा कहा जाय) तो वह 'अच्' को ही होता है (१।२।२८) यह नियम ही है।

ठीक, तो 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' (८।४।५७) सूत्रमें 'अण्' शब्दके विषयमें संदेह निर्माण होता है।

यहाँ भी निःसंशय पूर्व णकारके साथ ही प्रत्याहार समझा जाय, पर णकारके साथ नहीं ?

क्यों ?

कारण कि पर (णकारके साथ प्रत्याहार करके अधिक पाया हुआ अण् 'अणोऽप्रगृह्यस्या०' सूत्रके उदाहरणोंमें) नहीं। पदके अन्तमें पर णकार अर्थात् अगले अण् उदाहरणोंमें नहीं पाये जाते हैं।

क्यों ? 'कर्तृ', 'हर्तृ' में पर णकार अर्थात् अगला अण् तो है।

तो फिर 'अण्' पदके उच्चारणके बलपर (पूर्व णकार) के साथ (प्रत्याहार समझा जाय), पर (णकार) के साथ न (लिया जाय)। यदि पर (अर्थात् अगले णकार) के साथ प्रत्याहार समझा जाय तो 'अण्' पद व्यर्थ होगा; 'अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' ऐसा ही पढ़ा जाय। अथवा 'अचः' पद भी न रखा जाय; कारण कि प्रगृह्यसंज्ञा स्वभावतः 'अच्' को ही होती है। (अतः यहाँ प्रगृह्यभिन्न लिये जानेवाले वर्ण अच् अर्थात् स्वर ही लिये जायँगे)।

तो फिर 'उरण् रपरः' (१।१।५१) सूत्रके 'अण्' पदके संबंधमें सन्देह निर्माण होता है।

---

२. 'कर्तृ' शब्दका नपुंसकलिंगमें प्रथमाका एकवचन 'कर्तृ' होता है।

३. 'अब्राह्मणको ले आओ' ऐसा कहनेपर ब्राह्मण मनुष्योंमेंसे होनेके कारण ब्राह्मणसे भिन्न मनुष्य ही लाया जाता है, काष्ठ-पाषाण नहीं लाया जाता है। इसी प्रकार प्रगृह्यसंज्ञक

असंदिग्धं पूर्वेण न परेण। कुत एतत्। पराभावात्। न ह्युः स्थाने परेऽणः सन्ति। ननु चायमस्ति। कर्त्रर्थम् हर्त्रर्थमिति। किं च स्यात्। यद्यत्र रपरत्वं स्याद्द्वयो रेफयोः श्रवणं प्रसज्येत। हलो यमां यमि लोपः [८.४.६४] इत्येवमेकस्यात्र लोपो भवति। विभाषा स लोपः। विभाषा श्रवणं प्रसज्येत। अयं तर्हि नित्यो लोपो रो रि [८.३.१४] इति। पदान्तस्येत्येवं सः। न शक्यः स पदान्तस्य विज्ञातुम्। इह हि लोपो न स्यात्। जर्गृधेर्लङ् अजर्घाः।

यहाँ भी निःसंशय पूर्व (णकारके साथ ही प्रत्याहार समझा जाय); पर (अर्थात् अगले णकार) के साथ नहीं।

सो कैसे ?

कारण कि पर अर्थात् अगला अण् नहीं है, उदाहरणोंमें कहीं भी 'ऋ'कारके स्थानमें पर अर्थात् अगला अण् नहीं पाया जाता है।

'कर्त्रर्थ', 'हर्त्रर्थ' उदाहरणोंमें रेफ ही अगला अण्[4] है।

ठीक, फिर क्या बिगड़ेगा ?

यदि यहाँ रेफके आगे होनेवाला रेफ (ऋकारके स्थानमें) हो, तो दो रेफोंका श्रवण होगा।

परन्तु "हलो यमां यमि लोपः" (८।४।६४) सूत्रसे एक रेफका लोप होगा।

किन्तु वह लोप वैकल्पिक है। अतः एक बार दो रेफ सुनायी देंगे यह दोष आयेगा।

ठीक, तो 'रो रि' (८।३।१४) सूत्रसे जो नित्य लोप कहा है वह होगा।

परन्तु वह लोप पदके अन्तमें रहनेवाले रेफका कहा गया है[5]।

पदके अन्तमें रहनेवाले ही रेफका अन्त होता है यह कहना शक्य नहीं। कारण कि वैसा समझा जाय तो 'जर्गृध्' इस यङ्लुगन्त (धातु) के लङ्के 'अजर्घाः' रूपमें अथवा 'पास्पर्ध्' इस येङ्लुगन्त (धातु) के 'अपास्पाः' रूपमें रेफका लोप नहीं होगा। (तात्पर्य यह है कि, 'कर्त्रर्थ', 'हर्त्रर्थ' आदि रूपोंमें 'रो रि'–८।३।१४–सूत्रसे लोप होगा और दोष नहीं आयेगा)।

अच् ही होते हैं इसलिए प्रत्याहारमें वर्ण भी अच् ही लिये जायेंगे।

४. कर्तृ + अर्थम् यह स्थिति होते हुए वहाँ 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्रसे ऋकारको रेफ आदेश हुआ है और रेफ अण् है।

५. 'रो रि' (८।३।१४) सूत्रमें 'पदस्य' (८।१।१६) सूत्रसे यह अधिकार आता है। कारण कि 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' (८।३।५५) सूत्रतक 'पदस्य' यह अधिकार चालू है।

६. 'जर्गृध्' इस यङ्लुगन्त धातुके आगे लङ् प्रत्यय, उसको सिप् आदेश, इकारका लोप (३।४।१००), अट् आगम (६।४।७१), सकारका लोप (६।१।६८), गुण (७।४।८६) होके अजर्गर्ध् स्थिति होते हुए जश्त्व (८।२।३९), दत्व (८।२।७५), रेफका लोप (८।३।१४)

पास्पर्धेरपास्पा इति ॥ इह तर्हि मातॄणाम् पितॄणामिति रपरत्वं प्रसज्येत। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नात्र रपरत्वं भवतीति यदयमृत इद्धातोः [७. १. १००] इति धातुग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। धातुग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्। इह मा भूत्। मातॄणाम् पितॄणामिति। यदि चात्र रपरत्वं स्याद्धातुग्रहणमनर्थकं स्यात्। रपरत्वे कृतेऽनन्त्यत्वादित्त्वं न भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यो नात्र रपरत्वं भवतीति ततो धातुग्रहणं करोति। इहापि तर्हीत्त्वं न प्राप्नोति। चिकीर्षति जिहीर्षतीति। मा भूदेवम्। उपधायाश्च [७. १. १०१]

ठीक, तो 'मातॄणां,' 'पितॄणां' उदाहरण लीजिये। अगले णकारके साथ प्रत्याहार समझा जाय तो यहाँ भी दीर्घ ॠके आगे रेफ लगाना पड़ेगा।[७]

(यहाँ रेफ आगे लगाना पड़ेगा यह दोष नहीं आता है।) कारण कि आचार्यजी सूचित करते हैं कि रेफ आगे लगाना नहीं, जब कि 'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) सूत्रमें वे 'धातोः' शब्द रखते हैं।

सो कैसे दिखाया जाता है?

यहाँ 'धातु' शब्द रखनेका यही प्रयोजन है कि 'मातॄणां', 'पितॄणां' रूपोंमें ('ऋत इद्धातोः'—७।१।१०० सूत्रसे इकार) न हो। यदि 'मातॄणाम्', 'पितॄणाम्' रूपोंमें रेफ आगे लगाकर ही दीर्घ 'ॠ' किया जाय तो 'ऋत इद्धातोः' सूत्रमें 'धातोः' शब्द रखनेका प्रयोजन ही नहीं; कारण कि रेफ आगे लगानेपर 'ॠ' अन्तमें न होनेसे उसका इकार होगा[८] ही नहीं। अतः (थोड़ेमें) आचार्य (पाणिनि) का मत यह दिखायी देता है कि (अगले ऋकाररूप अण् को 'मातॄणाम्' आदि उदाहरणोंमें रेफ नहीं लगाना, और इसीलिए वे 'ऋत इद्धातोः' सूत्रमें 'धातु' शब्द रखते हैं।

तो फिर 'चिकीर्षति' 'जिहीर्षति' रूपोंमें ('ऋत इद्धातोः—७।१।१०० सूत्रसे) इत्व नहीं होगा; कारण कि धातुके ऋकारका दीर्घ (६।४।१६) ॠ रपर होगा और धातु के अन्तमें दीर्घ ॠ नहीं रहेगा।)

ऐसा न हो (तो न होने दें); 'उपधायाश्च' (७।१।१०१) सूत्रसे इत्व होगा।

और दीर्घ (६।३।१११) होकर 'अजर्घा.' रूप सिद्ध होता है।' 'स्पर्ध्' धातुको यङ् प्रत्यय और उसका लुक् होकर 'पास्पर्ध्' यह यङ्लुगन्त धातु होता है। उसका 'अपास्पाः' रूप उपर्युक्त रीतिसे होता है।

७. अण् प्रत्याहार पूर्व णकारके साथ लिया जानेसे अ, इ, उ ये तीनहीं वर्ण अण् समझे जाते हैं। पर नकारके साथ अण् प्रत्याहार लिया जाय तो ऋकार भी अण् होनेके कारण वह रपर होके 'मातॄर्णाम्' यह विचित्र रूप होगा।

८. 'धातो' पद रखा जाय तो भी ऋकारान्त अंगको इत्व होता है ऐसा अर्थ होगा और 'मातॄर्णाम्' में मातॄर् यह ऋकारान्त अंग न होनेके कारण इत्व होगा ही नहीं। अतः 'धातोः'

इ एवं भविष्यति। इहापि तर्हि प्राप्नोति। मातॄणाम् पितॄणामिति। तस्मात्तत्र धातुग्रहणं कर्तव्यम्। एवं तर्ह्यण्ग्रहणसामर्थ्यात्पूर्वेण न परेण। यदि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। उरऋपर इत्येव ब्रूयात्॥ अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे संदेहः। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः [१. १. ६९] इति। असंदिग्धं परेण न पूर्वेण। कुत एतत्।

सवर्णेऽण् तपरं ह्युर्ऋत्।

यदयमुर्ऋत् [७. ४. ७] इत्यृकारं तपरं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः

यह कहा जाय तो 'मातॄणाम्,' 'पितॄणाम्' रूपोंमें ('ऋत इद्धातोः' सूत्रसे 'धातोः' पद निकाल देनेसे उसके अगले 'उपधायाश्च'—७।१।१०१—सूत्रसे इत्व) होने लगेगा। अतः वहाँ ('ऋत इद्धातोः' सूत्रमें) 'धातोः' पद रखना चाहिये।

तो फिर (अब हम कहते हैं कि 'उरण् रपरः' सूत्रमें) पर णकारके साथ प्रत्याहार समझा जानेपर ('अण्' पद व्यर्थ होगा; इससे) पूर्व णकारके साथ ही प्रत्याहार समझना चाहिये, पर णकारके साथ नहीं। यदि पर णकारके साथ ही प्रत्याहार लिया जाय तो 'अण्' का ग्रहण व्यर्थ होगा। (अण् के स्थानमें 'अच्' पद रखके) 'उरच् रपरः' यही सूत्र किया जाय।

ठीक, तो 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (१।१।६९) सूत्रमें 'अण्' शब्दके विषयमें संदेह निर्माण होता है।

यहाँ निःसंशय अगले णकारके साथ (प्रत्याहार) समझा जाय, पहले णकारके साथ नहीं।

सो कैसे?

(वा.) सवर्णसंज्ञा कहनेवाले सूत्रमें (१।१।६९) 'अण्' पदमें अगले णकारके साथ प्रत्याहार लिया जाय। क्योंकि 'उर्ऋत्' (७।४।७) सूत्रमें तकारसहित 'ऋ'–कारका उच्चारण है।

जब कि 'उर्ऋत्' सूत्रमें ऋकारके आगे आचार्य (पाणिनि) तकार रखते है, तो वे सूचित करते हैं कि ('अणुदित्'–१।१।६९–सूत्रमें) अगले णकारके साथ (अण् प्रत्याहार समझा जाय), पूर्व णकारके साथ नहीं।[१०]

पद व्यर्थ होगा।

९. धातो.' पद रखनेसे उसकी अनुवृत्ति 'उपधायाश्च' (७।१।१०१) सूत्रमें होगी और उससे 'मातॄणाम्' में 'उपधायाश्च' सूत्रसे इत्व न होगा। अतः 'धातोः' पदका उपयोग संभवनीय होनेसे 'मातॄणाम्' में रेफ न लगाना चाहिये ऐसा धातुपद सूचित नहीं कर सकता है। संक्षेपमें, ''मातॄणाम्' में रेफ लगाया जायगा यह दोष कायम रहता है।

१०. तकार न जोड़कर उर्ऋ इस ह्रस्व ऋकारका उच्चारण किया जाय तो 'अणुदित्'

परेण न पूर्वेणेति ॥ इण्ग्रहणेषु तर्हि संदेहः । असंदिग्धं परेण न पूर्वेणेति । एतत् ।

य्वोरन्यत्र परेणेण् स्यात् ।

यत्रेच्छति पूर्वेण संभृय ग्रहणं तत्र करोति य्वोरिति । तच्च गुरु भवति कथं कृत्वा ज्ञापकम् । तत्र विभक्तिनिर्देशे संभृय ग्रहणेऽर्धचतस्रो मात्राः । प्रत्याहारग्रहणे पुनस्तिस्रो मात्राः । सोऽयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे सति

ठीक, तो जहाँ 'इण्' पदका उच्चारण किया गया है वहाँ संदेह निर्माण होता है ।

निःसंशय 'इण्' कहा जानेपर अगले णकारके साथ ही प्रत्याहार समझा जाय, पूर्वके साथ नहीं।

सो कैसे ?

(श्लो. वा.) 'य्वोः' उच्चारण करनेसे अन्य स्थानोंमें 'इण्' प्रत्याहार अगले णकारके साथ है।

जहाँ पूर्व णकारके साथ इण् प्रत्याहारका ग्रहण करना है वहाँ 'इण्' शब्दके उच्चारणके बदले इकार और उकारका समास करके 'य्वोः' शब्दका उच्चारण (आचार्य पाणिनि) करते हैं। (वस्तुतः 'इण्' शब्दके बदले 'य्वोः' शब्द रखना) यह गौरव है।

यह ज्ञापक कैसे मेल खाता है ?

इकार और उकारका समास करके 'य्वोः' शब्दका उच्चारण करनेपर साढ़े-तीन मात्राएँ होती हैं;[11] प्रत्याहार 'इण्' के उच्चारणसे 'इणः' पदकी तीन मात्राएँ होती हैं[12]। अतः यहाँ लघु शब्द रखनेसे इष्टसिद्धि होते हुए भी आचार्य (पाणिनि) जब कि गुरुशब्दका उच्चारण करते हैं तो वे सूचित करते हैं कि

(१।१।६९) सूत्रके कारण उस ऋकारसे सवर्णका ग्रहण होगा और 'उरण्' सूत्रसे दीर्घका भी विधान होगा। तब 'अचीकृतत्' उदाहरणमें कॄत् धातुके दीर्घ ॠकारको उसकेसदृश दीर्घ ही ऋकार उरण् सूत्रसे होगा। वह न होके ह्रस्व ही ऋकार आदेश हो इसलिए तपरकरण किया है। पर यदि 'अणुदित्०' सूत्रमें अण् प्रत्याहार 'अइउण्' मेंके णकारके साथ ही लिया जाय तो ऋकार अण् होनेके कारण उसमें सवर्ण का ग्रहण ही न होगा। अतः जिसका उच्चारण किया गया हो वही अर्थात् ह्रस्व ही आप-ही-आप होगा और तपरकरण व्यर्थ होगा।

११. यकारकी आधी मात्रा, वकारकी आधी मात्रा, ओकारकी दो मात्राएँ और विसर्गकी आधी मात्रा ये सब मिलकर साढ़े तीन मात्राएँ होती हैं।

[१२]. इकारकी एक मात्रा, णकारकी आधी मात्रा, अकारकी एक मात्रा और विसर्ग की आधी मात्रा ये सब मिलकर तीन मात्राएँ होती हैं।

यद्गरीयांसं यत्नमारभते तज्ज्ञापयत्याचार्यः परेण न पूर्वेणेति॥ किं पुनर्वर्णोत्सत्ताविव णकारो द्विरनुबध्यते। एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणमिति। अणुदित्सवर्णं परिहाय पूर्वेणाण्ग्रहणं परेणेण्ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः॥

ञ म ङ ण नम्॥ ७॥ झ भञ्॥ ८॥

किमर्थमिमौ मुखनासिकावचनौ वर्णावुभावप्यनुबध्येते न ञकार एवानुबध्येत। कथं यानि मकारेण ग्रहणानि हलो यमां यमि लोपः [८.४.६४] इति। सन्तु ञकारेण हलो यञां यञि लोप इति। नैव शक्यम्। झकारभकारपर-

('इण्' इस प्रत्याहारवाचक शब्दके उच्चारणमें) 'ण'कार अगला समझा जाय, पूर्वका नहीं।

ठीक! पर मानो सभी वर्ण समाप्त हुए है ऐसा समझकर आचार्य (महेश्वर) ने दो बार णकार ही अन्तमें क्यों रखा है?

(जब कि 'ण' कार दो बार रखा गया है, तो आचार्य (महेश्वर) साधारण नियम सूचित करते है कि (जहाँ सन्देह निर्माण होता है वहाँ)—

"सन्देहका निरसन करनेवाला विशिष्ट अर्थ व्याख्यानसे समझा जाय, केवल सन्देह निर्माण होनेसे शास्त्र निरर्थक न समझा जाय।"

अतः हम व्याख्यान करेंगे कि, सवर्ण (—संज्ञा) कहनेवाले अणुदित् (—सूत्र) के सिवा (अन्य सभी स्थानोंमें) पूर्व णकार लेके ही 'अण्' प्रत्याहार समझा जाय, और 'इण्' प्रत्याहरमें (सदैव) पर अर्थात् अगले णकारका ग्रहण करके ही प्रत्याहार समझा जाय।

(मा सू ७) ञ्, म्, ङ्, ण्, न्।
(मा. सू ८) झ्, भ्।

ये दो भिन्न भिन्न सूत्र करके प्रत्येकके अन्तमें एक एक ऐसे दो अनुनासिक क्यों लगाये जाते है? (एक ही सूत्र करके) ञकार ही क्यों न लगाया जाय?—

वैसा किया जाय तो मकार लगाकर जो प्रत्याहार किये है उनके बारेमें क्या करना? उदाहरणार्थ, 'हलो यमां यमि लोपः' (८।४।६४) सूत्रमें ('यम्' प्रत्याहार रखा गया है)।

यहाँ ञकार लगाकर यञ् प्रत्याहार करके 'हलो यञां यञि लोपः' यह [illegible] किया जाय। [illegible] । जिसका [illegible] जानेवाला

१२ दूसरा कोई वर्ण रखा जाता तो 'अण्, इण् ये प्रत्याहार किस [illegible]' अर्थमें लिये जायँ' यह सन्देह ही निर्माण न होता।

१. 'ममङणमझभन्' इस रूपका।

योरपि हि झकारभकारयोर्लोपः प्रसज्येत। न झकारभकारौ झकारभकारयोः स्तः॥ कथं पुमः खय्यम्परे [८. ३. ६] इति। एतदप्यस्तु ञकारेण पुमः खय्यञ्पर इति। नैवं शक्यम्। झकारभकारपरे हि खयि रुः प्रसज्येत। न झकारभकारपरः खयस्ति॥ कथं ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् [८. ३. ३२] इति। एतदप्यस्तु ञकारेण ङञो ह्रस्वादचि ङञुण्नित्यमिति। नैवं शक्यम्। झकारभकारयोरपि हि पदान्तयोर्झकारभकारावागमौ स्याताम्। न झकारभकारौ पदान्तौ स्तः। एवमपि पञ्चागमास्त्रय आगमिनो वैषम्यात्संख्यातानुदेशो न

यह शक्य नहीं। कारण कि, ऐसा करनेपर जिनके आगे झकार और भकार हैं इस प्रकारके झकार और भकारका लोप होगा।

पर जिनके आगे झकार वा भकार हैं ऐसे झकार अथवा भकार पाये ही नहीं जाते।

ठीक। 'पुमः खय्यम्परे' (८।३।६) मेंके 'अम्' प्रत्याहारके बारेमें क्या कहना है?

यहाँ भी ञकारके साथ ही (प्रत्याहार होने दीजिये); और 'पुमः खय्यञ्परे' सा सूत्र किया जाय।

यह संभवनीय नहीं। ऐसा किया जाय तो जिसके आगे झकार अथवा भकार इस प्रकारका खय् आगे रहनेपर ('पुम्' के मकारको) रुत्व होने लगेगा।

पर जिसके आगे झकार अथवा भकार है ऐसा खय् पाया ही नहीं जाता।

ठीक। 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' (८।३।३२) के बारेमें क्या कहना है? (क्या यहाँ दोष नहीं आयेगा?)

यहाँ भी मकारके बदले ञकार लगाकर 'ङञो ह्रस्वादचि ङञुण्नित्यम्' ऐसा सूत्र किया जाय।

यह शक्य नहीं; पदके अन्तमें रहनेवाले 'झ' कार और 'भ' कारको भी झकार और भकार आगम होने लगेंगे।

पर पदके अन्तमें झकार और भकार कदापि नहीं पाये जाते हैं[1]। (संक्षेपमें, यहाँ भी कोई दोष नहीं आता है)।

तो भी (दोष आता ही है। कारण कि,) जिनको आगम लगाये जाते हैं ऐसे आगमी[3] तीन हैं और आगम पाँच हैं; दोनोंकी संख्या सम न होनेके कारण क्रमसे

---

१ कारण कि पदके अन्तमें झकार अथवा भकारको जश्त्व (८।२।३९) होगा ही। इस उणादिसूत्र... लिए भाष्यकार... लगाया गया है ... प्रत्यङ् आत्मा, सुगण् ईश, सन् अच्युत इत्यादि स्थलोंमें ङ्, ण्, न्, ये तीन ... वर्ण पदके अन्तमें पाये जाते हैं; और उनको ङमुट् आगम अर्थात् ङुट्, णुट्, नुट् ... झुट् और भुट् ये पाँच आगम कहे हैं। तब उद्देश्य तीन और विधेय पाँच इस तरह उनकी ...

प्राप्नोति । सन्तु तावद्येषामागमानामागमिनः सन्ति । झकारभकारौ पदान्तौ न स्त इति कृत्वागमावपि न भविष्यतः ॥

अथ किमिदमक्षरमिति ।

अक्षरं न क्षरं विद्यात्

न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम् ॥

अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम् ।

अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन्प्रत्ययः । अश्नुत इत्यक्षरम् ॥

'इसके लिये यह, ' 'इसके लिये यह ' इस रीतिसे आगम नहीं होंगे, (तो तीन आगमियोंके प्रत्येकके पाँच आगम होंगे)।

पर ऐसा न होगा । कारण कि, जिन आगमियोंके उचित आगम मिलते हैं उनके वे हों । पदान्तमें झकार और भकार कदापि न पाये जानेसे वे आगमी नहीं हो सकते, इससे झकार और भकार आगम भी न होंगे । [४] (थोड़ेमें, यद्यपि 'ङञो ह्रस्वादचि ङञुट् नित्यम्' यह सूत्र किया जाय तो भी ङ्, ण् और न् इनके ही ङ्, ण् और न् ये क्रमसे आगम होंगे । तब दो सूत्रोंके बदले एक सूत्र करके इष्ट सिद्धि होते हुए भी आचार्यने केवल स्पष्टताके लिए दो सूत्र किये हैं।)

ठीक, अक्षरका [५] अर्थ क्या है ?

(श्लो. वा.) जो घटता नहीं उसको अक्षर समझा जाय ।

जो घटता नहीं अथवा नष्ट नहीं होता वह अक्षर है । [६]

(श्लो. वा.) अथवा 'अश्' धातुको 'सर' प्रत्यय लगानेसे 'अक्षर' शब्द सिद्ध होता है ।

अथवा 'अश्' (व्याप्त करना) धातुको उणादि सरन् प्रत्यय लगाकर 'जो व्याप्त करता है वह' अर्थमें भी अक्षर शब्द समझा जाय'।

संख्या सम न होनेके कारण 'यथासंख्य' (१।३।१०) सूत्रकी यहाँ प्रवृत्ति न होगी ।

४ तात्पर्य यह है कि, वाक्यार्थ करते समय उद्देश्य पाँच और विधेय भी पाँच उपस्थित होते हैं। तब 'यथासंख्य॰ ' सूत्रके अनुसार क्रमसे अन्वय होगा ही । सबके उदाहरण न पाये जायँ तो कुछ बाधा नहीं। पदार्थ उपस्थित होते हुए समान संख्या हो तो 'यथासंख्य॰ ' सूत्रकी प्रवृत्ति होती है ।

५ अइउण् आदि सूत्रसमुदायको अक्षरसमाम्नाय कहते हैं। इसके लिये यहाँ अक्षर शब्दके अर्थका विचार चालू किया है।

६ 'न ' अव्यय उपपद रहते हुए 'नाश होना ' अर्थमें 'क्षि ' धातुसे अथवा 'क्षर् ' धातुसे 'अक्षर ' शब्द सिद्ध होता है। अतः 'अक्षर ' शब्दका अर्थ है 'अविनाशी '। जिसका उच्चारण हम करते हैं वह ध्वनि यद्यपि विनाशी है तो भी उस ध्वनिके द्वारा सूचित कियाजानेवाला स्फोटरूप वर्ण नित्य अर्थात् अविनाशी ही है। अतएव 'अक्षर ' शब्द 'अविनाशी ' अर्थमें यहाँ वर्णको लगाया गया है।

७. 'व्याप्त करना ' अर्थके स्वादिगणमेंके 'अश्' धातुको 'अशेः सर '(उ

वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे

अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते ।

किमर्थमुपदिश्यते ॥

अथ किमर्थमुपदिश्यते ॥

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते ॥

सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः । सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति । मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते ॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे द्वितीयमाह्निकम् ॥

(श्लो. वा.) अथवा पूर्वमुनियोंके सूत्रमें वर्णको अक्षर कहा है ।

अथवा प्राचीन (वैयाकरणोंके) सूत्रोंमें ' वर्णको ' अक्षर ' संज्ञा दी गयी उसके अनुसार ' अक्षर ' शब्दका ' वर्ण ' अर्थ लिया जाय) ।

(श्लो. वा.) तो फिर उपदेश किसलिए किया गया है ।

ठीक । (' अक्षर ' शब्दके अर्थका विचार हुआ;) अब अक्षरोंका उपदेश ...श्वरसूत्रोंमें किसलिए किया है ?

(श्लो. वा.) जिस वाणीमें वेदरूप शब्द ब्रह्म है उस वाणीका वर्णज्ञान ...करानेवाला शास्त्र) विषय है । उस (शास्त्र) के लिए, तथा इष्ट (अर्थात् ...दुष्ट वर्ण) समझनेके लिए और (प्रत्याहारके द्वारा) लघुत्व (अर्थात् ...क्षेपमें शास्त्रकथनके लिए) महेश्वरने यह उपदेश किया है ।

माहेश्वरसूत्रोंमें जो अक्षरसमूहरूप वाणीका समाम्नाय कहा है वह (शब्दशास्त्र-...नसे) पुष्पित होता है और (समुचित शब्दोंके प्रयोगसे) फलित होता है। चंद्रतार-...गओंके समान (अनादिकालसे सिद्ध यह) सुशोभित ब्रह्मराशि समझा जाय। उसका ...ज्ञान होनेसे सब वेदोंके पठनका पुण्य लगता है, और ज्ञाताके माँ-बाप स्वर्गलोकमें ...पूजनीय होते है ।

इस प्रकार श्रीभगवान् पतञ्जलिके रचे हुए व्याकरणमहाभाष्यके पहले अध्यायके पहले पादका दूसरा आह्निक समाप्त हुआ ॥

इस उणादिसूत्रके अनुसार ' सर ' प्रत्यय लगाकर ' अक्षर ' शब्द सिद्ध हुआ है। आद्युदात्त होनेके लिए भाष्यकारने ' नित् ' मान लिया है। यह ' अक्षर ' शब्द ' व्यापक ' अर्थमें यहाँ वर्णको ...माया गया है । स्फोटरूपी वर्ण व्यापक है । एक साथ अनेक वक्ता भाषण कर रहें तो भी उन ...की व्यञ्जकध्वनिसे स्फोटरूपी वर्णोंका व्यङ्ग्यके नाते संबंध होता है।

पुन. टि. ' वर्णा अक्षराणि ' इस पूर्वसूत्रसे वर्णको ' अक्षर ' संज्ञा दी की है ।

गुणवृद्धिसंज्ञानामकं तृतीयाह्निकम्

गुणवृद्धिसंज्ञाह्निक (अ. १ पा. १ आह्निक ३)

वृद्धिरादैच् सूत्रके अर्थके संबंधमें विचार—इस आह्निकमें वृद्धि और गुण शब्दोंकी व्याख्याएँ दी हैं तथा ये गुण और वृद्धि आदेश किसे और कब होते हैं इस समंधमें विवेचन किया है। प्रारंभमें 'वृद्धिरादैच्' (सू. १) इस सूत्रसे आ, ऐ और औ इन्हें बतायी हुई वृद्धिसंज्ञा 'वृद्धि होती है' इस विधानसे बने हुए आ, ऐ और औ को दी जाती है अथवा किसी भी स्थानके आ, ऐ और औ स्वरोंको यह संज्ञा दी जाती है इसका विचार करके दोनों पक्षमें गुण और दोष दिखाये गये हैं; तथा 'आ, ऐ और औ स्वरोंको वृद्धि कहा जाय' इस दूसरे पक्षका समर्थन किया है और तत्संबंधी दोषोंका निराकरण किया है। इसके बाद भाष्यकारने 'वृद्धिरादैच्' सूत्रको आ, ऐ और औ को वृद्धिसंज्ञा कहनेवाला सूत्र है ऐसा कहा है, और लोकमें जिस तरह व्यवहारसे संज्ञाएँ मालूम होती हैं उस तरह वृद्धिरादैच् सूत्रके बारेमें भी 'आ ऐ और औ इन्हें वृद्धि संज्ञा है ऐसा आचार्यके व्यवहारसे ज्ञात होता है' इस वचनसे उसकी पुष्टि की है। प्रस्तुत सूत्रके पहले 'अथ संज्ञाः' इस तरहका अधिकारसूत्र रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पाणिनि जैसे पवित्र ऋषि सूत्र कहनेके लिए जब बैठते तब उनके मुखसे एक भी निरर्थक शब्द नहीं निकलता था इस बातको ध्यानमें रखकर प्रस्तुत सूत्र संज्ञासूत्र ही है यह सिद्ध होता है। प्रस्तुत सूत्रका 'वृद्धि शब्दके बाद आ, ऐ और औ का प्रयोग किया जाय' अथवा 'वृद्धि शब्दको आ, ऐ, औ आदेश होते हैं या आगम होते हैं अथवा विशेषण होते हैं' इस तरहका दूसरा कोई भी अर्थ करना संभव नहीं है। अब 'वृद्धिरादैच्' संज्ञासूत्र है यह निश्चित बात है; परन्तु 'आ, ऐ, औको वृद्धि कहते हैं' अथवा 'वृद्धिको आ, ऐ, औ कहते हैं' इनमेंसे कौनसा अर्थ लिया जाय इस संबंधमें यदि संदेह निर्माण हो तो 'वृद्धि' शब्द छोटा होनेसे, वह आकृतिवाचक होनेसे और सूत्रपाठमें वह बार बार पाया जानेसे, 'वृद्धि' शब्द ही संज्ञावाचक है यह सिद्ध होता है। वाक्यमें जिसे संज्ञा देनेकी है वह पहले और संज्ञाशब्द बादमें, इस तरह उच्चारनेकी यद्यपि परिपाटी हो तो भी यहाँ मंगलवाचकके रूपमें वृद्धि शब्द पहले उच्चारा गया है। अब, शब्द नित्य हैं, तो भी अस्तित्वमें होने वाले ही शब्दोंमेंसे अमुक शब्दोंको अमुक नाम दिया जाय यह संज्ञा देनेका उपयोग है। संज्ञाके कारण शब्द सिद्ध नहीं होते। नये शब्द कहना व्याकरण शास्त्रका काम नहीं; प्रत्युत, कौनसे शब्द शुद्ध हैं और कौनसे अशुद्ध सो बताना व्याकरणशास्त्रका उपयोग है। प्रस्तुत सूत्रमें 'आत्' ऐसा तकार लगाकर उच्चारण करनेका हेतु 'वृद्धिसे आ होता है' ऐसा कहनेपर दो मात्राओंसे युक्त ही 'आ' स्वर लेना हो और तदनुसार उसी तकारके कारण ऐ और औ भी वैसे ही लेने हों, तो भी ये सब बातें व्याख्यानसे ही ज्ञात की जाएँ इस सिद्धान्तका भाष्यकारने यहां 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः०' यह संकेत पुनः बताकर प्रतिपादन किया है।

वृद्धिरादैच् ॥ १ । १ । १ ॥

कुत्वं कस्मान्न भवति चोः कुः पदस्य [८. २. ३०] इति । भत्वात् । कथं भसंज्ञा । अयस्मयादीनि च्छन्दसि [१. ४. २०] इति । छन्दसीत्युच्यते

'इको गुणवृद्धी' सूत्रके अर्थका विवेचनः—'अदेङ् गुणः' सूत्र 'वृद्धिरादैच्' सूत्रके सदृश ही होनेके कारण भाष्यकारने उसकी व्याख्या न करके 'इको गुणवृद्धी' (सू. ३) सूत्रके ही व्याख्यानको आरंभ किया है। प्रथमतः इक्को अर्थात् इ, उ, ऋ, ऌ को ही गुण और वृद्धि ये आदेश होते हैं, आ, ए इत्यादि स्वरोंको तथा व्यंजनोंको नहीं होते यह नियम इस सूत्रद्वारा बताया गया है ऐसा भाष्यकारने कहा है, और बादमें जहाँ वृद्धि वा गुण शब्दका उच्चारण करके वृद्धि अथवा गुण बताया होता है वहीं ये आदेश ऊपर बताये अनुसार इ, उ, ऋ, ऌ इन स्वरोंको होते हैं, अन्य स्वरों और व्यजनोंको नहीं होते ऐसा वृद्धि और गुण शब्द अनुवृत्तिसे आतेही पुनः प्रस्तुत सूत्रमें उन शब्दोंका उच्चारण करनेके प्रयोजनके रूपमें दिखाया गया है। इसके बाद भाष्यकारने 'इको गुणवृद्धी' इस प्रस्तुत सूत्रको व्यवस्थापक सूत्र कहा। 'अमुकको अमुक आदेश होता है ऐसा कहनेसे वह अन्त्य वर्णको होता है' इस अर्थके 'अलोन्त्यस्य' (पा. सू. १।१।५२) इस सर्वसामान्य व्यवस्थापक सूत्रसे प्रस्तुत सूत्रका जो संबंध है उसके विषयमें भाष्यकारने मार्मिक विवेचन किया है। 'अलोन्त्यस्य' सूत्रका प्रस्तुत सूत्र पूरक है वा अपवाद है, इस संबंधमें चर्चा करके "गुण होता है वा वृद्धि होती है ऐसे शब्दोंसे गुण वा वृद्धि जिस सूत्रमें बतायी होती है उस सूत्रमें 'इकः' पद उपस्थित होता है और इक्को ही वह गुण वा वह वृद्धि होती है" इस अर्थका स्वतंत्रपदोपस्थितिपक्ष सिद्धान्तके रूपमें बताया गया है। इस सूत्रके अर्थके विषयमें तच्छेप, तदपवाद इत्यादि सात पक्ष कहनेके बाद स्वतंत्रपदोपस्थितिपक्षकी व्याख्या शब्दकौस्तुभमें भट्टोजी दीक्षितने सुंदर रूपसे की है।

(सू. १) आ, ऐ और औ (को) वृद्धि (संज्ञा दी जाती है)।

इस सूत्रमें 'चोः कुः' (८।२।३०) सूत्रसे पदके अन्तमें रहनेवाले चकारको ककार क्यों नहीं होता?

कारण कि (ऐच् शब्दको यहाँ पदसंज्ञाके बदले) भ संज्ञा होती है।[1]

'भ' संज्ञा यहाँ कैसे होती है?

'अयस्मयादीनि छन्दसि' (१।४।२०) सूत्रसे।

पर उस सूत्रमें 'छन्दसि' अर्थात् 'वेदमें' ऐसा कहा गया है। सूत्र वेद नहीं।

---

१. 'भ' संज्ञासे पदसंज्ञाका (१।४।१४) बाध होता है इसलिए कुत्व नहीं होता है। कारण कि 'चोः कुः' (८।२।३०) इस शास्त्रको पदसंज्ञाकी आवश्यकता नहीं।

न चेदं छन्दः । छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति । यदि भसंज्ञा वृद्धिरादैजदेङ्गुण इति जश्त्वमपि न प्राप्नोति । उभयसंज्ञान्यपि च्छन्दांसि दृश्यन्ते । तद्यथा । स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन । पदत्वात्कुत्वं भत्वाजश्त्वं न भवति । एवमिहापि पदत्वाज्जश्त्वं भत्वात्कुत्वं न भविष्यति ॥

किं पुनरिदं तद्भावितग्रहणं वृद्धिरित्येवं य आकारैकारौकारा भाव्यन्ते तेषां ग्रहणमाहोस्विदादैज्मात्रस्य । किं चातः । यदि तद्भावितग्रहणं शालीयः मालीय इति वृद्धलक्षणश्छो न प्राप्नोति । आम्रमयम् शालमयम् वृद्धलक्षणो मयण्न

'सूत्र वेदके समान है' (ऐसा समझनेकी परिपाटी है)।

पर यदि यहाँ भ संज्ञा हो तो 'वृद्धिरादैजदेङ्गुणः' यह कहनेकी जो परिपाटी है उसमें जो 'जश्' आदेश ('च्' का ज्) किया है वह नहीं होगा।

(यह बाधा नहीं निर्माण होगी।) क्योंकि वेदके शब्दोंकी दोनों संज्ञाएँ दिखायी देती है। जैसे, 'स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन' (तै. सं. २।३।१४।४) यह वेदवाक्य देखिये। जिस प्रकार 'ऋक्वता' में पदसंज्ञासे कुत्व होता है और भसंज्ञासे जश्त्व नहीं होता है उस प्रकार यहाँ भी पदसंज्ञासे जश्त्व होगा और भसंज्ञासे कुत्व नहीं होगा।

ठीक, प्रस्तुत सूत्रमें (जो 'आदैच्' पद रखा गया है उस पदसे) 'तद्भावित' अर्थात् 'वृद्धि' शब्दसे निष्पन्न जो आकार, ऐकार और औकार उनका ही ग्रहण होता है, अथवा किन्हीं भी आकार, ऐकार और औकारोंका ग्रहण होता है?

यह प्रश्न पूछनेका हेतु क्या है?

यदि तद्भावित (आकार, ऐकार और औकार) का ग्रहण हो तो 'शालीयः', 'मालीयः' रूपोंमें 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) सूत्रसे कहा हुआ 'छ' प्रत्यय नहीं होगा, तथा 'आम्रमयम्', 'शालमयम्' रूपोंमें ('नित्यं वृद्धशरादिभ्यः'— ४।३।१४४—सूत्रसे) मयट् प्रत्यय नहीं होगा, और 'आम्रगुप्तायनि.', 'शालगुप्तायनिः' रूपोंमें 'उदीचां वृद्धादगोत्रात्' (४।१।१५७) सूत्रसे फिञ् प्रत्यय

---

२ कारण कि जश्त्व कहनेवाले 'झला जशोन्ते' (८।२।३९) शास्त्रको कुत्वके समान ही पदसंज्ञाकी आवश्यकता है। अतः जश्त्व न करते हुए 'वृद्धिरादैजदेङ्गुण' ऐसा कहना पड़ेगा।

३. कारण कि 'शाला', 'माला' आदि शब्दोंमेंका पहला आकार वृद्धिके रूपमें न होनेके कारण उन शब्दोंको 'वृद्धिर्यस्याचा॰' (१।१।७३) सूत्रसे वृद्धिसंज्ञा न होगी। उसी तरह आम्र, शाल, आम्रगुप्त और शालगुप्त शब्दोंको भी वृद्धिसंज्ञा न होगी।

प्राप्नोति । आम्रगुप्तायनिः शालगुप्तायनिः वृद्धलक्षणः फिञ्न प्राप्नोति ॥ अथादैज्मात्रस्य ग्रहणं सर्वो भासः सर्वभास इत्युत्तरपदवृद्धौ सर्वं च [६. २. १०५] इत्येष विधिः प्राप्नोति । इह च तावती भार्यास्य तावद्भार्यः यावद्भार्यः वृद्धिनिमित्तस्य [६. ३. ३९] इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोति ॥ अस्तु तर्ह्यादैज्मात्रस्य ग्रहणम् । ननु चोक्तं सर्वो भासः सर्वभास इत्युत्तरपदवृद्धौ सर्वं चेत्येष विधिः प्राप्नोतीति । नैष दोषः । नैवं विज्ञायत उत्तरपदस्य वृद्धिरुत्तरपदवृद्धिरुत्तरपदवृद्धाविति । कथं तर्हि । उत्तरपदस्य [७. ३. १०] इत्येवं प्रकृत्य या वृद्धिस्तद्वत्युत्तरपद इत्येवमेतद्विज्ञायते । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । तद्धावितग्रहणे सत्यपीह

नहीं होगा । ठीक, यदि किसी भी आकार, ऐकार और औकारका ग्रहण होता हो तो 'सर्वो भासः' अर्थमें किया गया जो 'सर्वभास' समास है उसमें "उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च" (६।२।१०५) सूत्रसे सब शब्दको अन्तोदात्त होने लगेगा। तथा 'तावती भार्या यस्य' अर्थमें किया गया जो 'तावद्भार्य' समास है उसमें और 'यावद्भार्य' में ('तावत्' तथा 'यावत्' में जो पुंवद्भाव होता है) उस पुंवद्भावका 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' (६।३।३९) सूत्रसे निषेध होने लगेगा।

ठीक, तो किसी भी आकार, ऐकार और औकारका ग्रहण होने दीजिये।

परन्तु वैसा होनेपर क्या नहीं कहा गया कि ऊपर बताया हुआ दोष आयेगा कि 'सर्वो भासः' अर्थमें किये गये 'सर्वभास' समासमें "उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च" (६।२।१०५) सूत्रसे 'सर्व' शब्दको अन्तोदात्त होने लगेगा?

यह दोष नहीं आता है। कारण कि 'उत्तरपदवृद्धि' समासका विग्रह 'उत्तरपदकी वृद्धि' इस तरह न किया जाय।

तो फिर कैसे किया जाय?

प्रसज्येत सर्वः कारकः सर्वकारक इति। यदप्युच्यत इह तावती भार्यास्य तावद्भार्यः यावद्भार्य इति च वृद्धिनिमित्तस्येति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोतीति नैष दोषः। नैवं विज्ञायते वृद्धेर्निमित्तं वृद्धिनिमित्तं वृद्धिनिमित्तस्येति। कथं तर्हि। वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन्सोऽयं वृद्धिनिमित्तो वृद्धिनिमित्तस्येति। किं च वृद्धेर्निमित्तम्। योऽसौ ककारो णकारो ञकारो वा। अथवा यः कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम्। कश्च कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम्। यस्त्रयाणामाकारैकारौकाराणाम् ॥

संज्ञाधिकारः संज्ञासंप्रत्ययार्थः ॥ १ ॥

आकार, ऐकार और औकारको वृद्धिसंज्ञा होती है ऐसा प्रकृत सूत्रका अर्थ लिया जाय तो भी 'सर्वः कारकः' अर्थमें किये हुए 'सर्वकारक' समासमें ('सर्व' शब्दको अन्तोदात्त होने लगेगा)। और भी जो 'तावती भार्या यस्य' विग्रहके 'तावद्भार्य' समासमें अथवा उसी प्रकारके 'यावद्भार्य' समासमें 'वृद्धिनिमित्तस्य०' (६।३।३९) सूत्रसे पुंवद्भावका निषेध होगा ऐसा जो ऊपर कहा है उसके बारेमें दोष नहीं आता हैं; कारण कि 'वृद्धिनिमित्त' शब्दका अर्थ 'वृद्धिका निमित्त' यह न किया जाय।

तो कैसे किया जाय?

'वृद्धिका निमित्त जिसमें है वह वृद्धिनिमित्त' यह किया जाय।

'वृद्धिका निमित्त' का अर्थ क्या समझा जाय?

अर्थात् ककार, णकार अथवा ञकार (७।२।११७-११८), अथवा 'वृद्धि-निमित्त' अर्थात् 'सर्व वृद्धिका निमित्त' ऐसा समझा जाय।

सर्व वृद्धिका निमित्त कौन है?

जो आकार, ऐकार और औकार इन तीनोंका निमित्त है वह।

(वा. १). (आगे कहे हुए शब्द) संज्ञाएँ हैं यह समझनेके लिए यहाँ 'अथ संज्ञा' ऐसा अधिकार (करना चाहिये)।

---

६. कारण कि कारक इस उत्तरपदमें कृ धातुसे 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) सूत्रसे ण्वुल् प्रत्यय लगानेपर 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) सूत्रसे वृद्धि हुई है। तब यह 'आ'कार वृद्धि शब्दसे ही हुआ है।

७. तावद्भार्य इत्यादि शब्दोंमें वतुप् इस प्रत्ययको ककार, ञकार अथवा णकार इनमेंसे एक भी अनुबंध नहीं।

८. तावद्भार्य इत्यादि शब्दोंमें वतुप् प्रत्यय केवल आकारका ही निमित्त हुआ है। वतुप् प्रत्ययसे ऐकार और औकार कहीं भी नहीं होते हैं। अतः वतुप् प्रत्ययको सर्ववृद्धिका निमित्त नहीं कहा जा सकता है।

अथ संज्ञेति प्रकृत्य वृद्ध्यादयः शब्दाः पठितव्याः । किं प्रयोजनम् । संज्ञासंप्रत्ययार्थः । वृद्ध्यादीनां शब्दानां संज्ञेत्येष संप्रत्ययो यथा स्यात् ॥

इतरथा ह्यसंप्रत्ययो यथा लोके ॥ २ ॥

अक्रियमाणे हि संज्ञाधिकारे वृद्ध्यादीनां संज्ञेत्येष संप्रत्ययो न स्यात् । इदमिदानीं बहुसूत्रमनर्थकं स्यात् । अनर्थकमित्याह । कथम् । यथा लोके । लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते । अर्थवन्ति तावत् । देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन देवदत्त गामभ्याज कृष्णामिति । अनर्थकानि । दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः अधरोरुकमेतत्कुमार्याः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीन इति ॥

संज्ञासंज्ञ्यसंदेहश्च ॥ ३ ॥

क्रियमाणेऽपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसंदेहो वक्तव्यः । कुतो

'अथ संज्ञा' ('अब संज्ञा कहनेका आरंभ करता हूँ' यह (अधिकार) पहले कहकर वृद्धि आदि शब्द पश्चात् कहे जायँ ।

यों किस लिए ?

इसलिए कि (आगे कहे गये जो 'वृद्धि' आदि शब्द हैं वे) संज्ञा-शब्द बताये हैं ऐसा ज्ञान हो जाय ।

(वा. २) कारण कि अन्यथा जैसे लोकमें वैसे ये संज्ञाएँ हैं यह ज्ञान नहीं होगा ।

कारण कि यदि 'संज्ञा' अधिकार नहीं कहा जाय तो 'वृद्धि' आदि शब्द संज्ञा (के रूपमें उच्चारित) हैं यह ज्ञान नहीं होगा; और उससे 'वृद्धिरादैच्' आदि बहुतसे सूत्र अनर्थक अर्थात् अर्थरहित होंगे ।

'अनर्थक होंगे सो कैसे' ऐसा कोई पूछे तो उसका उत्तर वार्तिकके ('यथा लोके')— अर्थात् जैसे लोकमें (इन शब्दोंमें है) । लोकमें अर्थयुक्त और अर्थविरहित दोनों प्रकारके वाक्य दिखायी देते हे । अर्थयुक्त वाक्योंके उदाहरण—'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन', 'देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम' (हे देवदत्त, शुक्ल गौको लाठीसे हकाल ला, उस काली गौको हकाल ला)। अर्थरहित वाक्योंके उदाहरण—'दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिन पलपिण्डः अधरोरुकमेतत्कुमार्याः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः' (दस दाडिम, छः अपूप, कुण्डा, बकरेका चमडा, भूसका पिंड, लड़कीका यह घाघरा, स्फैयकृतका बाप सूख गया इत्यादि)।

(वा. ३) तथा (कौनसी) संज्ञा और (कौनसा) संज्ञी इसके बारेमें संदेह दूर करना चाहिये ।

और यद्यपि 'संज्ञा' अधिकार कहा हो तो भी संज्ञा तथा संज्ञीका निर्णय कहना

ह्येतद्वृद्धिशब्दः संज्ञादैचः संज्ञिन इति न पुरादैचः संज्ञा वृद्धिशब्दः संज्ञीति ॥ यत्तावदुच्यते संज्ञाधिकारः कर्तव्यः संज्ञासंप्रत्ययार्थ इति न कर्तव्यः ।

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिः

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिर्भविष्यति। किमिदमाचार्याचारादिति। आचार्याणामुपचारात्।

यथा लौकिकवैदिकेषु ॥ ४ ॥

तद्यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्वाते देवदत्तो यज्ञदत्त इति। तयोरुपचारादन्येऽपि जानन्तीयमस्य संज्ञेति। वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषाल इति। तत्रभवतामुपचारादन्येऽपि जानन्तीयमस्य संज्ञेति। एवमिहापि। इहैव तावत्के-

---

चाहिये (अर्थात् संज्ञा कौनसी है और संज्ञी कौनसा है यह निश्चयपूर्वक कहना चाहिये)। न कहा जाय तो 'वृद्धि' ही संज्ञा शब्द है और आकार, ऐकार और औकार संज्ञी हैं यह कैसे समझा जाय? आकार, ऐकार और औकार संज्ञाशब्द हैं और 'वृद्धि' शब्द संज्ञी है ऐसा क्यों न होगा?

ऊपर जो कहा है कि 'ये संज्ञाएँ कहीं हैं इस ज्ञानके लिए 'संज्ञा' अधिकार चाहिये' (इसके संबंधमें कहा जा सकता है कि 'अथ संज्ञा' यह अधिकार) न किया जाय। (कारण कि—)

(वा.) आचार्योंकी रचनासे संज्ञाकी सिद्धि होगी।

आचार्योंकी रचनासे निष्पन्न होगा कि 'अमुक संज्ञा है।'

'आचार्योंकी रचनासे' का क्या अर्थ है?

'आचार्योंकी रचनासे' अर्थात् आचार्योंके व्यवहारसे अर्थात् प्रतिपादनकी पद्धतिसे।

(वा. ४) जैसे लौकिक और वैदिक बातोंमें।

(इसके लिए दृष्टान्त देना हो तो)—जैसे लौकिक और वैदिक बातोंमें देखा जाता है। *लोकमें हम देखते हैं कि पुत्रका जन्म होनेपर माँ बाप अपने ही घरपर* देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम रखते हैं और उसी नामसे उसे पुकारते हैं। उनके उस व्यवहारसे अन्य लोग भी समझते हैं कि यह ('देवदत्त', 'यज्ञदत्त' आदि) इस पुत्रका नाम है। वेदमें भी यज्ञ करनेवाले लोग यज्ञोपयोगी वस्तुओंको 'स्फ्य', 'यूप', 'चषाल' इत्यादि नाम देते हैं। उन महाशयोंके व्यवहारसे अन्य लोग भी समझते हैं कि इन पदार्थोंकी ये संज्ञाएँ हैं। यही प्रकार है यहाँ (अर्थात् इस व्याकरणशास्त्रमें) भी। कोई व्याख्याकार इस सूत्रका अर्थ यों करते हैं— 'प्रस्तुत सूत्रमें वृद्धि शब्द संज्ञा है और आ, ऐ और औ संज्ञी हैं।' अन्य कोई

विद्याचक्षाणा आहुः । वृद्धिशब्दः संज्ञादैचः संज्ञिन इति । अपरे पुनः सिचि वृद्धिः [७. २. १] इत्युक्त्वाकारैकारौकारानुदाहरन्ति । ते मन्यामहे यया प्रत्याय्यन्ते सा संज्ञा ये प्रतीयन्ते ते संज्ञिन इति ॥ यदप्युच्यते क्रियमाणेऽपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसंदेहो वक्तव्य इति ।

संज्ञासंज्ञ्यसंदेहश्च ॥ ५ ॥

संज्ञासंज्ञिनोश्चासंदेहः सिद्धः । कुतः । आचार्याचारादेव । उक्त आचार्याचारः ॥

अनाकृतिः ॥ ६ ॥

अथवानाकृतिः संज्ञा । आकृतिमन्तः संज्ञिनः । लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ॥

लिङ्गेन वा ॥ ७ ॥

व्याख्याकार (आचार्य) "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" (७।२।१) सूत्रका उल्लेख करके, आकार, ऐकार और औकार इनको आदेश करके, इस सूत्रके उदाहरण देते हैं । इससे हम समझते हैं कि जिस शब्दसे दूसरोंका बोध होता है वह संज्ञा शब्द है, और जिनका बोध होता है वे संज्ञी हैं ।

तथा ऊपर जो कहा है कि 'यद्यपि संज्ञा यह अधिकार कहा है तो भी संज्ञा कौनसी और संज्ञी कौन उसका निर्णय कहना चाहिये' उसके बारेमें कहना हो तो—

(वा. ५) संज्ञा और संज्ञीके संबंधमें सन्देह दूर किया जाय।

संज्ञा और संज्ञीका निर्णय हो चुका है ।

सो कैसे ?

अर्थात् आचार्योंके प्रतिपादनकी पद्धतिसे ही; आचार्योंके प्रतिपादनकी रीतिका वर्णन ऊपर किया ही है ।

(वा. ६) जो आकृतिरहित है (वह संज्ञा है)।

अथवा, जिसको आकृति[1] अर्थात् आकार नहीं वह संज्ञा है। आकृतिसहित अर्थात् आकारयुक्त जो पदार्थ है वे संज्ञी । लोकमें भी आकृतियुक्त मांसके गोलेको 'देवदत्त' नाम दिया जाता है ।

(वा. ७) अथवा चिह्नसे ।

---

१ यहाँ आकृति शब्दका भेद ऐसा अर्थ कैयटने किया है। अनेकोंको एक संज्ञा दी जाती है तब संज्ञी अनेक होनेके कारण उनमें भेद रहता है; और उन अनेकोंको संज्ञा एक होनेके कारण उस संज्ञामें भेद नहीं होता है। आकार यह अर्थ लोकमें यद्यपि मेल खाता है तो भी शास्त्रमें मेल नहीं खाता है। कारण कि शास्त्रमें संज्ञी भी संज्ञा शब्दकी तरह शब्दस्वरूप ही है; और शब्दको आकार संभवनीय नहीं ।

अथवा किंचिल्लिङ्गमासज्य वक्ष्यामीत्थंलिङ्गा संज्ञेति । वृद्धिशब्दे च तल्लिङ्गं करिष्यते नादैच्छब्दे ॥ इदं तावदयुक्तं यदुच्यत आचार्याचारादिति । किमत्रायुक्तम् । तमेवोपालभ्यागमकं ते सूत्रमिति तस्यैव पुनः प्रमाणीकरणमित्येतदयुक्तम् । अपरितुष्यन्खल्वपि भवाननेन परिहारेणानाकृतिर्लिङ्गेन चेत्याह । तत्रापि वक्तव्यम् । यद्यप्येतदुच्यतेऽथवैतर्हीत्संज्ञा न वक्तव्या लोपश्च न वक्तव्यः ।

अथवा कुछ चिह्न करके कहूँगा कि अमुक अमुक चिह्नसे युक्त शब्द संज्ञा शब्द हैं; 'वृद्धि' शब्दमें वैसा चिह्न किया जायगा, 'आदैच्' शब्दको वैसा चिह्न नहीं किया जायगा।

ऊपर जो कहा है कि 'आचार्योंकी रचनासे संज्ञा है यह निष्पन्न होता है' वह उचित नहीं।

उसमें क्या अयोग्य है?

आचार्य पाणिनिको आपके सूत्र संदिग्धार्थ हैं ऐसा दोष देना और उन्हीं सूत्रोंको प्रमाणके रूपमें निर्दिष्ट करना यह बात अयोग्य है।[11]

और आपभी ('संज्ञासञ्ज्ञयसंदेहश्च,' 'आचार्याचारात्' शब्दोंसे शंकाका निराकरण करके भी) उस निराकरणसे चित्तका सन्तोष मानो न होनेसे 'अनाकृतिः,' और 'लिङ्गेन' ऐसा प्रतिपादन करते है (और फिरसे निराकरण करते हैं)।

अतः अब वैसा कुछ चिह्न लगाना चाहिये।[13]

यद्यपि कुछ चिह्न लगाया जाय तो भी (कुछ गौरव नहीं होगा; कारण कि)

---

१०. संज्ञाशब्दका उच्चारण ठीक न करके कुछ भी दोषयुक्त किया जाय। कल आदि दोष प्रथम आह्निकके अन्तमें बताये गये हैं, यद्यपि दुष्ट अक्षरोंका उच्चारण करना उचित नहीं तो भी कुछ बाधा नहीं। कारण कि वृद्धि आदि संज्ञाशब्द पाणिनिके कल्पित हैं। उसमें दोष हो तो भी उस संज्ञाशब्दके द्वारा बताये गये आकार आदि संज्ञियोंमें कुछ दोष नहीं है। सिद्ध प्रयोगमें सज्ञी ही रहते हैं। जैसे, हस्व अकार विवृत यद्यपि दुष्ट है तो भी धातु, प्रत्यय इत्यादिमें पाणिनिने उसीका उच्चारण किया है। परन्तु उसको निर्दुष्ट संवृत हस्व अकार आदेश (८।४।६८) बताकर सिद्ध प्रयोगमें दोष नहीं रखा है।

११. जो पाणिनिके सूत्रको प्रमाण नहीं मानता वह उस सूत्रको प्रमाण माननेवाले वृत्तिकार आचार्योंके किये हुये अर्थको प्रमाण कैसे समझेगा? थोडेमें, यह अयोग्य है।

१२. वार्तिककार भी। तात्पर्य यह है कि वार्तिककारको भी 'आचार्याचारात्' यह स्वय ही किया हुआ समाधान अयोग्य प्रतीत हुआ और इसीलिए दूसरा समाधान करने वह प्रवृत्त हुआ।

१३. वृद्धि आदि संज्ञाशब्दोंका उच्चारण कल आदि दोषोंमेंसे एकाध दोपसे युक्त करना चाहिये।

संज्ञालिङ्गमनुबन्धेषु करिष्यते । न च संज्ञाया निवृत्तिरुच्यते । स्वभावतः संज्ञाः संज्ञिनः प्रत्याय्य निवर्तन्ते । तेनानुबन्धानामपि निवृत्तिर्भविष्यति । सिध्यत्येवम-पाणिनीयं तु भवति ॥ यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं संज्ञाधिकारः संज्ञासंप्रत्ययार्थ इतरथा ह्यसंप्रत्ययो यथा लोक इति । न यथा लोके तथा व्याकरणे । प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण । किमतो

न इत्संज्ञा बतायी जाय, न लोप भी बताया जायँ। क्योंकि अनुबन्धों अर्थात् इत्संज्ञक शब्दोंको संज्ञाका चिह्न लगाया जायगा। (संज्ञाचिह्नके रूपमें लगाये गये अक्षरका लोप न कहा जाय। कारण कि) संज्ञाकी निवृत्ति कहीं भी नहीं बतायी जाती है; संज्ञा, संज्ञीका ज्ञान कराके स्वभावसे ही नष्ट हो जाती है। इस नियमके अनुसार ही यदि अनुबन्ध संज्ञाके रूपमें बताये जायँ तो (संज्ञीका ज्ञान होनेपर) वे (संज्ञाएँ) भी आप-ही-आप नष्ट होंगे (अर्थात् दूर होंगे)।

इस रीतिसे इष्टसिद्धि होगी, पर वह कार्य आचार्य पाणिनिकी कृतिके अनुसार न होगा।

(तो फिर चिह्न आदि कुछ भी लगाया न जाय;) जैसा है वैसा ही रहने दीजिये।

पर वैसा होनेसे क्या ऊपर दोष नहीं बताया गया कि प्रस्तुत सूत्रमें वा उसके पहले 'संज्ञा' अधिकार, 'वृद्धि' आदि शब्द संज्ञाएं हैं यह जाननेके लिए कहा जाय? कारण कि न कहनेसे 'वृद्धि' आदि संज्ञाएँ हैं यह ज्ञान न होगा; और लोकमें जैसे (निरर्थक वाक्य दीख पड़ते हैं वैसा ही यह होगा)।

सो बात नहीं; लोकमें जो प्रकार है वैसा व्याकरणमें नहीं। (सभीको पूजनीय और) प्रमाणभूत आचार्य पाणिनिने हाथमें दर्भका पवित्रक रखे और शुद्ध स्थानपर पूरबकी ओर मुँह करके बैठे बहुत प्रयत्न करके सूत्रोंकी रचना की। अतः उन सूत्रोंमें एक वर्ण भी निरर्थक पाना असंभवनीय है, तो फिर संपूर्ण सूत्रकी बात क्या?

---

१४. वृद्धि इत्यादि संज्ञाशब्द हैं यह ध्यानमें आनेके लिए जिस दोषसे युक्त वह शब्दका उच्चारण किया जायगा उसी दोषसे युक्त शीङ् आदि धातुओंमेंके ङकार आदि अनुबन्धोंका उच्चारण किया जाय। उससे 'ङ्' यह शी धातुकी संज्ञा है ऐसा बोध होगा, और 'अनुदात्त-ङितः०' (१।३।१२) सूत्रमें 'ङितः' के बदले 'ङात्' ऐसा पढ़ा जाय। 'ङ्' इस संज्ञा-शब्दसे 'शी' धातुका बोध होगा और उससे आत्मनेपद होगा। तब उन ङकार आदि वर्णोंको 'हलन्त्यम्' (१।३।३) सूत्रसे न इत् संज्ञा करनेकी आवश्यकता है और 'तस्य लोपः' (१।३।९) सूत्रसे न लोप भी करना पड़ेगा।

यदशक्यम् । अतः संज्ञासंज्ञिनावेव ॥

कुतो नु खल्वेतत्संज्ञासंज्ञिनावेवेति न पुनः साध्वनुशासनेऽस्मिञ्शास्त्रे साधुत्वमनेन क्रियते । कृतमनयोः साधुत्वम् । कथम् । वृधिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे तस्मात् क्तिन्प्रत्ययः । आदैचोऽप्यक्षरसमाम्नाय उपदिष्टाः ॥ *प्रयोगनियमार्थं तर्हीदं स्यात् । वृद्धिशब्दात्पर आदैचः प्रयोक्तव्या इति ।* नेह प्रयोगनियम आरभ्यते । किं तर्हि । संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते तेषां

पर यदि सूत्रार्थ लगाना अशक्य हो तो (वहाँ सूत्रकारकी महत्ता बतानेसे) क्या उपयोग होगा ?

(उपयोग इतना ही होगा कि उस महान् ऋषिका सूत्र निरर्थक होता नहीं यह निश्चित ध्यानमें रखकर प्रयत्नपूर्वक उसका अर्थ करना चाहिये ।) अतः यह सूत्र संज्ञा और संज्ञीका दर्शक है यह बात ध्यानमें रखी जाय।

ठीक, पर यह सूत्र संज्ञा और संज्ञी ही बतानेवाला है यही निष्कर्ष कैसे निकाला जाय ? शुद्ध शब्द बतानेवाले इस शास्त्रमें आदैच् और वृद्धि ये शब्द शुद्ध हैं यह इस सूत्रसे बताया गया है ऐसा ही निष्कर्ष क्यों न निकाला जाय ?

(यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है । कारण कि) ये दोनों शब्द शुद्ध हैं यह बात सिद्ध हो चुकी है ।

सो कैसे ?

'वृध्' धातु धातुपाठमें अन्य धातुओंके समान ही बताया गया है । उसके आगे 'क्तिन्' प्रत्यय (३।३।९४) लगानेसे 'वृद्धि' शब्द सिद्ध होता है । (अतः 'वृद्धि' शब्द प्रस्तुत सूत्रसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं।) आकार, ऐकार और औकार ये भी अक्षरसमाम्नायमें बताये ही हैं । (वे भी यहाँ फिर कहनेकी आवश्यकता नहीं । अतः प्रस्तुत सूत्र किस लिए है तो आकार, ऐकार और औकारको वृद्धि कहलानेके लिए है यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है ।)

(तो भी यही निष्कर्ष क्यों निकाला जाय ? वृद्धि और आदैच् शब्दोंकी सिद्धिके लिए प्रस्तुत सूत्र किया है ऐसा कहना संभवनीय न हो) तो शब्दके उच्चारणका नियम करनेके लिए प्रस्तुत सूत्र किया है ऐसा समझिये; उदाहरणार्थ, 'वृद्धि शब्दके आगे आकार, ऐकार और औकार रखे जायें' (यह प्रयोगनियम प्रस्तुत सूत्र करता है ऐसा समझिये)।

यह व्याकरणशास्त्र शब्दोंके प्रयोगके नियम करनेके लिए नहीं कहा गया है ।

तो फिर व्याकरणशास्त्रमें क्या कहा गया है ?

इस व्याकरणशास्त्रमें (प्रत्येक शब्दके कोनोंको) पद केवल सिद्ध करके दिये

यथेष्टमभिसंबन्धो भवति । तद्यथा । आहर पात्रम् पात्रमाहरेति ॥ आदेशास्तर्हीमे स्युः । वृद्धिशब्दस्यादैचः । षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा उच्यन्ते न चात्र षष्ठीं पश्यामः ॥ आगमास्तर्हीमे स्युः । वृद्धिशब्दस्यादैच आगमाः । आगमा अपि षष्ठीनिर्दिष्टस्यैवोच्यन्ते । लिङ्गेन च । न चात्र षष्ठी न खल्वप्यागमलिङ्गं पश्यामः ॥ इदं खल्वपि भूयः सामानाधिकरण्यमेकविभक्तित्वं च द्वयोश्चैतद्भवति । कयोः । विशेषणविशेष्ययोर्वा संज्ञासंज्ञिनोर्वा । तत्रैतत्स्याद्विशेषणविशेष्ये इति । तच्च न । द्वयोर्हि प्रतीतपदार्थकयोर्लोके विशेषणविशेष्यभावो भवति न चादैच्छब्दः प्रतीतपदार्थकः । तस्मात्सं-

---

जाते हैं । उनका (प्रयोग बोलनेवालेकी) इच्छाके अनुसार होता है; जैसे, ('आहर' और 'पात्र' पद सिद्ध होनेपर) 'आहर पात्रम्' कहा जाता है और 'पात्रमाहर' ऐसा भी कहा जाता है।

ठीक, तो फिर ये ('आदैच्', 'अदेङ्' इत्यादि शब्द) आदेश समझे जायँ। ('वृद्धिरादैच्' सूत्रका हम अर्थ करेंगे कि) 'वृद्धिशब्दको आदैच् आदेश होते हैं'।

(यह शक्य नहीं।) जिसको आदेश होते हैं वह पद (सूत्रमें) षष्ठी विभक्तिमें उच्चारित होता है; यहाँ तो षष्ठी विभक्तिमें पद नहीं दीख पड़ता है।[15]

तो फिर आकार और ऐच् ये आगम समझे जायँ। 'वृद्धिशब्दको आकार और ऐच् आगम होते हैं' (ऐसा सूत्रका अर्थ हम करेंगे)।

पर आगम भी जिसको होते हैं उस पदका उच्चारण षष्ठी विभक्तिमें होता है; और आगमका कुछ चिह्न नहीं रहता है। यहाँ षष्ठी विभक्ति भी हम नहीं देखते हैं; अथवा आगमका (टकार, ककार आदि १।१।४६-४७) चिह्न भी नहीं दिखायी देता है।

और विशेषतः ये बातें भी यहाँ दीख पड़ती हैं-यहाँ वृद्धि और आदैच् शब्दोंमें सामानाधिकरण्य है और वे दोनों शब्द एक ही विभक्तिमें उच्चारित हैं। ये (दो बातें) दो स्थानोंपर दिखायी देती हैं।

किन दो स्थानोंमें ?

विशेषण और विशेष्यमें, तथा संज्ञा और संज्ञीमें। इन दोनोंमेंसे विशेषण-विशेष्यभावसंबंध यहाँ हो (ऐसा कहा जाय) तो वैसा नहीं होगा; कारण कि लोकमें जिनके अर्थ ज्ञात हैं ऐसे दो शब्दोंमें विशेषण-विशेष्यभावसंबंध रहता है। (प्रस्तुत सूत्रमें) 'आदैच्' शब्दका अर्थ लोकमें प्रसिद्ध नहीं दिखायी देता[16] है। अतः

---

१५. 'वृद्धि' यह प्रथमान्त पद है, 'वृद्धेः' ऐसा षष्ठ्यन्त पद नहीं।

१६. यद्यपि व्याकरणशास्त्रमें 'आदैच्' पदका अर्थ आकार, ऐकार और औकार यह प्रसिद्ध है तो भी यह वृद्धिका विशेषण होनेयोग्य नहीं।

ज्ञासंज्ञिनावेव ॥ तत्र त्वेतावान्संदेहः कः संज्ञी का संज्ञेति । स चापि क संदेहः । यत्रोभे समानाक्षरे । यत्र त्वन्यतरलघु यल्लघु सा संज्ञा । कुत एतत् । लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम् । तत्राप्ययं नावश्यं गुरुलघुतामेवोपलक्षयितुमर्हति । किं तर्हि । अनाकृतितामपि । अनाकृतिः संज्ञा । आकृतिमन्तः संज्ञिनः । लोके ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ॥ अथवावर्तिन्यः संज्ञा भवन्ति । वृद्धि-शब्दश्चावर्तते नादैच्छब्दः । तद्यथा । इतरत्रापि देवदत्तशब्द आवर्तते न मांस-पिण्डः ॥ अथवा पूर्वोच्चारितः संज्ञी परोच्चारिता संज्ञा । कुत एतत् । सतो हि

(विशेषण–विशेष्यभाव यहाँ शक्य न होनेके कारण 'वृद्धि' शब्द और 'आदैच्' शब्द) ये (अनुक्रमसे) संज्ञा और संज्ञी ही हैं।

यद्यपि ऐसा हो तो भी कौनसा संज्ञी है और कौनसी संज्ञा है यह प्रश्न अथवा संदेह बाकी रहता ही है।

(यह प्रश्न यहाँ नहीं रहता है ।) यह प्रश्न कहाँ उपस्थित होता है ? जहाँ संज्ञा और संज्ञीकी अक्षरसंख्या समान ही रहती है वहाँ । पर जहाँ दोनोंमेंसे एककी अक्षरसंख्या कम रहती है वहाँ जिसकी अक्षरसंख्या कम है वह संज्ञा शब्द (और जिसकी अधिक वह संज्ञी शब्द)।

सो कैसे ?

इसीलिए कि जो संज्ञा की जाती है वह लाघवके लिए (अर्थात् यत्न बचानेके लिए)। और संज्ञा शब्द केवल लाघवगौरवका ही निदर्शक है सो बात नहीं। तो फिर वह किसका निदर्शक है ? आकृतिरहितत्वका भी वह निदर्शक है। संज्ञाशब्द आकृतिरहित हुआ करता है और संज्ञी आकृतियुक्त होते हैं। लोकमें भी किसी विशिष्ट आकृतिसे युक्त (अस्थि) मांसके गोलेको 'देवदत्त' संज्ञा दी जाती है।

अथवा (शब्दका तीसरा चिह्न यह है कि) संज्ञा शब्द पुनः पुनः आते हैं। प्रस्तुत 'वृद्धि' शब्द बार बार व्याकरणसूत्रोंमें आया करता है, आदैच् शब्द वैसे नहीं आया करता है। अन्य स्थानोंमें भी (यही दीख पड़ता है); जैसे, (लोकमें) देवदत्त शब्द ही बार बार उच्चारित होता है; (देवदत्तका शरीर जो) मांसका गोला (है वह) हर एक बार उपस्थित रहता ही है ऐसा नहीं।

अथवा, पहले उच्चारित शब्द संज्ञी होता है और जिसका उच्चारण बादमें किया जाता है वह संज्ञा शब्द होता है।

---

१७. उदाहरणार्थ, 'वृद्धिर्यस्या॰' (१।१।७२), 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३), 'वृद्धिरेचि' (६।१।८८), 'वृद्धिनिमित्त॰' (६।३।३९), 'इद् वृद्धौ' (६।३।२८) इत्यादि।

१८. देवदत्त बड़ा पंडित है, देवदत्त गाँव गया है, देवदत्तका घर नया है, देवदत्तको वस्त्र दिये जायँ इस प्रकारकी अनेक बातें कहते समय केवल देवदत्त शब्द ही उच्चारित होता है और उसीमात्रसे अर्थबोध होता है।

कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् । तद्यथा । इतरत्रापि सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते । कथं वृद्धिरादैजिति । एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम् । माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति । सर्वत्रैव हि व्याकरणे पूर्वोच्चारितः संज्ञी परोच्चारिता संज्ञा । अदेङ्गुणः [१·१·२] इति यथा ॥ दोषवान्खल्वपि संज्ञाधिकारः । अष्टमेऽपि हि संज्ञा क्रियते तस्य परमाम्रेडितम् [८·१·२] इति ।

यह कैसे ?

कारण कि (जिसे कार्य होता है वह) कार्यी अस्तित्वमें होनेसे ही कार्य होता है; जैसे, अन्यत्र भी अस्तित्वमें रहनेवाले ही मांसपिंडको देवदत्त संज्ञा दी जाती है, (और उद्देश्यका प्रथमतः निर्देश करना स्वाभाविक ही है)।

(यह आवश्यक हो तो) 'वृद्धिरादैच्' सूत्रमें ('वृद्धि' शब्द पहले रखा गया है सो) कैसे ?

(इस एक सूत्रमें 'वृद्धि' यह संज्ञा शब्द यद्यपि आचार्य पाणिनिसे पहले उच्चारित है तो भी उनको उसके संबंधमें कुछ भी दोष न लगाया जाय। कारण कि यहाँ 'वृद्धि' शब्दका आरंभमें उच्चारण करनेमें आचार्यका विशिष्ट हेतु है।) ऐसा समझा जाय कि आचार्यने मंगलके लिए यहाँ संज्ञा शब्दका पहले उच्चारण किया है। मंगलकारक साधु शब्द बनानेमें प्रवृत्त हुए आचार्य स्वविरचित बड़े शास्त्रके मंगलके लिए आरंभमें 'वृद्धि' शब्दका उच्चारण करते हैं। कारण कि, मंगल शब्द जिनके आरंभमें उच्चारित हैं वे शास्त्र प्रसिद्धि पाते हैं, उनकी रचना करनेवालेके कुलमें वीर पुरुष जन्म लेते हैं, उन पुरुषोंको दीर्घायुष्य प्राप्त होता है और उनका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियोंकी उन्नति होती है। (अतः 'वृद्धिरादैच्' सूत्रहीं उपर्युक्त कारणसे संज्ञा शब्द पहले रखके उच्चारित है;) अन्यत्र सब स्थानोंमें व्याकरणमें जिसका पहले उच्चारण किया गया है वह संज्ञी, और जिसका बादमें उच्चारण किया गया है वह संज्ञा है। उदाहरणार्थ, 'अदेङ् गुणः' सूत्र देखिये।

और (उपर्युक्त विधानके अनुसार) यदि संज्ञा अधिकार यहाँ चालू करके ('वृद्धिरादैच्' आदि सूत्रोंका) उच्चारण किया जाय तो भी कहीं कहीं दोष रहेगा ही। कारण कि (सभी संज्ञाएँ प्रस्तुत एक ही स्थानमें कहीं गयी है ऐसा नहीं; तो) आठवें अध्यायमें भी संज्ञाएँ बतायी गयी हैं, जैसे, 'तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२) सूत्रमें 'आम्रेडित' संज्ञा कही है। (संज्ञा अधिकार रखा जानेसे) वहाँ (अर्थात् आठवें अध्यायमें) भी इस अधिकारकी अनुवृत्ति करनी पड़ेगी (और वैसा करना प्रायः अशक्य है)।

तत्रापीदमनुवर्त्यं स्यात् ॥ अथवास्थानेऽयं यत्नः क्रियते न हीदं लोकाद्भिद्यते। यदीदं लोकाद्भिद्यते ततो यत्नार्हं स्यात्। तद्यथा। अगोज्ञाय कश्चिद्गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशत्ययं गौरिति। न चास्मा आचष्ट इयमस्य संज्ञेति भवति चास्य संप्रत्ययः। तत्रैतत्स्यात्कृतः पूर्वैरभिसंबन्ध इति। इहापि कृतः पूर्वैरभिसंबन्धः। कैः आचार्यैः। तत्रैतत्स्यात्। यस्मै तर्हि संप्रत्युपदिशति तस्याकृत इति। लोकेऽपि हि यस्मै संप्रत्युपदिशति तस्याकृतः। अथ तत्र कृत इहापि कृतो द्रष्टव्यः॥

सतो वृद्ध्यादिषु संज्ञाभावात्तदाश्रय इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः ॥ ८ ॥

अथवा (प्रस्तुत प्रकरणमें संज्ञा अधिकार-सूत्र रखनेका) यह यत्न करना अनुचित है, क्योंकि लोगोंमें ऐसे विषयमें कोई भी विशिष्ट प्रयत्न नहीं करता है। और यह बात लौकिक बातोंसे भिन्न नहीं है। यदि यह बात लौकिक बातोंसे भिन्न होती तो यत्न करना सुयोग्य होता। जैसे, (लोकमें दीख पड़ता है कि) जो बैलको नहीं पहचानता है उस व्यक्तिको दूसरा कोई व्यक्ति बैलकी जाँघ अथवा कान पकड़के पढ़ाता है कि यह बैल है, पर उसे कभी नहीं कहता है कि 'बैल इस पिंडकी संज्ञा है।' तो भी बैल एक संज्ञा है यह ज्ञान उस व्यक्तिको (अपने-आप) हो जाता है।

पर वहाँ प्राचीन लोगोंने बैल शब्दसे दर्शित पिंडका और बैल संज्ञाका संबंध लगाया ही होगा।

तो फिर प्रस्तुत बातमें भी प्राचीन लोगोंने संबंध लगाया ही है।

किन प्राचीन लोगोंने ?

प्राचीन (व्याकरणके) आचार्योंने।

पर इतना सब होनेपर भी वहाँ यह कहा जा सकता है कि जिस वर्तमान-कालमें वृद्धि आदि संज्ञाका बोध कराना है उसे संज्ञा और संज्ञीका लगाया हुआ संबंध ज्ञात नहीं। (अतः उसकी दृष्टिसे वह मानो लगाया गया ही नहीं।)

(उसमें क्या विशेष है ?) लोकमें भी संप्रति जिसे संज्ञाका बोध करा देना है उसे संज्ञा और संज्ञीका लगाया हुआ संबंध ज्ञात होता ही नहीं।

ठीक, यदि वहाँ (अर्थात् लोकमें) संबंध लगाया गया है (ऐसा समझा जा सकता है तो) यहाँ भी वैसा समझना संभवनीय है।

(वा. ८) पहले अस्तित्वमें आये हुए संज्ञीको संज्ञा देनेकी परिपाटी रहनेके कारण विशिष्ट संज्ञाशब्दसे विशिष्ट संज्ञीका विधान जिन 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यादि सूत्रोंमें किया है उनमें इतरेतराश्रयदोष आनेसे 'वृद्धि' शब्दका अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता है।

सतः संज्ञिनः संज्ञाभावात्तदाश्रये संज्ञाश्रये संज्ञिनि वृद्ध्यादिष्वितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः । केतरेतराश्रयता । सतामादैचां संज्ञया भवितव्यं संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते तदितरेतराश्रयं भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते । तद्यथा । नौर्नावि बद्धा नेतरेतरत्राणाय भवति । ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते । तद्यथा । नौः शकटं वहति शकटं च नावं वहति । अन्यदपि तत्र किंचिद्भवति जलं स्थलं वा । स्थले शकटं नावं वहति जले नौः शकटं

पहले अस्तित्वमें आये हुए संज्ञीको संज्ञा देनेकी परिपाटी होनेके कारण विशिष्ट संज्ञाशब्दसे विशिष्ट संज्ञीका विधान जिन 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) इत्यादि सूत्रोंमें किया है उनमें इतरेतराश्रयदोष आनेसे 'वृद्धि' शब्दका अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता है।

किस प्रकारका इतरेतराश्रयदोष ?

आकार और ऐच् अस्तित्वमें आनेपर उन्हें 'वृद्धि' संज्ञा की जाय, और उस वृद्धि शब्दसे आकार और ऐच् अस्तित्वमें आनेवाले हैं; अतः वृद्धिसंज्ञा आकार और ऐच् पर अवलंबित है और आकार और ऐच् वृद्धिसंज्ञापर अवलंबित हैं ऐसा होना अन्योन्याश्रय दोष है। और जहाँ एक दूसरेपर अवलंबित रहनेवाले कार्य उपस्थित होते हैं वहाँ वे करना शक्य नहीं होता है; जैसे, एक नौका दूसरी नौकासे बाँधनेपर दोनों नौकाएँ एक दूसरीकी रक्षा नहीं कर सकती हैं।

अजी, पर इतरेतराश्रित कार्य भी कभी कभी दीख पड़ते हैं; उदाहरणार्थ, नौका गाड़ीको खींच लेती है और गाड़ी नौकाको।

पर (वहाँ केवल नौका और गाड़ी ही नहीं हैं;) पानी वा ज़मीन आदि और कुछ वहाँ होते है। ज़मीनपर गाड़ी नौकाको खींच लेती है और नौका पानीमें गाड़ीको खींच लेती है। (अतः वहाँ इतरेतराश्रयदोष आता नहीं।)

---

१९. मार्ष्टि आदि उदाहरणोंमें मृज् धातुके ऋकारको वृद्धि होनेपर वहाँ 'आ' कार अस्तित्वमें आयेगा और वह अस्तित्वमें आनेके बाद उसको वृद्धिसंज्ञा होनेपर 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) सूत्रसे वृद्धि की जायगी। अतः यहाँ उन दोनोंमेंसे कोई भी पहले न किया जानेके कारण मार्ष्टि आदि उदाहरण सिद्ध न होंगे।

२०. जो नौका स्वयं तैरनेके लिए असमर्थ होनेके कारन परले तीरको जानेके लिए दूसरी नौकाका सहाय लेती है, पर वहाँ दूसरी नौका भी वैसी ही असमर्थ हो तो वे दोनों नौकाएँ परले तीरको नहीं जाती है।

२१. तात्पर्य यह है कि, नाव अपना कार्य करनेके लिए पानीपर अवलंबित है, गाड़ीपर नहीं। वैसेही गाड़ी भी अपना काम करनेके लिए ज़मीनपर निर्भर है, नावपर नहीं। तब नाव और गाड़ी ये दोनों एक दूसरेपर अवलंबित है ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

वहति । यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकम् । तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति । इदं पुनरितरेतराश्रयमेव ॥

सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात् ॥ ९ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । नित्यशब्दत्वात् । नित्याः शब्दाः । नित्येषु शब्देषु सतामादैचां संज्ञा क्रियते न संज्ञयादैचो भाव्यन्ते । यदि तर्हि नित्याः शब्दाः किमर्थं शास्त्रम् ।

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात्सिद्धम् ॥ १० ॥

निवर्तकं शास्त्रम् । कथम् । मृजिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः । तस्य सर्वत्र मृजिबुद्धिः प्रसक्ता । तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते । मृजिरक्ङित्सु प्रत्ययेषु मृजि-

---

तो फिर टिकटीका दृष्टान्त[२२] लीजिये ।

(पर वहाँ भी दूसरा कुछ नहीं ऐसा नहीं;) वहाँ भी अंदरकी ओर धागा रहता है। किन्तु प्रस्तुत बात इतरेतराश्रयदोषसे युक्त ही है।

(वा. ९) किन्तु शब्द नित्य होनेके कारण इष्ट कार्य सिद्ध होता है।

यह विवक्षित कार्य भी यहाँ प्रयत्नके बिना ही सिद्ध होता है।

सो कैसे ?

शब्द नित्य होनेके कारण। शब्द नित्य हैं। शब्द नित्य होनेके कारण पहलेसे अस्तित्वमें रहनेवाले ही आकार और एच्को वृद्धिसंज्ञा दी जाती है। वृद्धिसंज्ञा द्वारा आकार और ऐच् निर्माण नहीं किये जाते हैं।

पर यदि शब्द नित्य हों तो (व्याकरण) शास्त्रका प्रयोजन क्या है ?

(वा. १०) तो फिर शास्त्र किसलिए है ऐसा पूछा जाय तो शास्त्र निवर्तक है इस प्रतिपादनसे इष्ट कार्य सिद्ध होता है (अर्थात् उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर दिया जाता है)।

शास्त्रका उपयोग है निवृत्ति अर्थात् किसी बातको लौटा देना।

सो कैसे ?

यह उदाहरण लीजिये। 'मृज्' धातु सामान्यतया धातुपाठमें कहा गया है। अतः सर्वत्र 'मृज्' यह शब्दरूप प्रचारमें रहता है यह बुद्धि निर्माण होती है। 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) सूत्रसे 'मृज्' शब्दरूप कुछ स्थानोंमें लौटाया जाता है। (संक्षेपमें, 'मृजेर्वृद्धिः' सूत्रका अर्थ यों करना है कि) 'कित् और ङित् प्रत्ययके सिवा अन्य प्रत्यय आगे रहनेपर मृज् शब्दके बदले मार्ज् शब्द शुद्ध है।' (थोड़ेमें,

---

२२. तीन लकड़ियोंके छोर एकत्र रस्सीसे बाँधनेपर वहाँ वे तीन लकड़ियाँ एक दूसरेके आधारसे खड़ी रही दिखायी देती हैं।

प्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवतीति ॥

प्रत्येकं वृद्धिगुणसंज्ञे भवत इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । समुदाये मा भूतामिति ।

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये संज्ञाप्रसङ्गः ॥ ११ ॥

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये वृद्धिगुणसंज्ञयोरप्रसङ्गः । यत्रेच्छति सहभूतानां कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम् । तद्यथा । सह सुपा [२.१.४] उभे अभ्यस्तं सहेति ॥

प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तेः ॥ १२ ॥

प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यते । तद्यथा । देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामिति । न चोच्यते प्रत्येकमिति । प्रत्येकं च भुजिः परिसमाप्यते । ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति । तद्यथा । गर्गाः शतं

शब्द नये नहीं बनाये जाते हैं ।)

('आकार,' 'ऐकार' और 'औकार' इनमेंसे) प्रत्येकको वृद्धिसंज्ञा होती है और (अ, ए और ओ इनमेंसे प्रत्येकको) गुणसंज्ञा होती है ऐसा कहा जाय ।

सो किसलिए ?

इसलिए कि समुदायको संज्ञा न हो । (अर्थात् इसलिए कि आकार, ऐकार और औकार इन तीनोंके समुदायको वृद्धिसंज्ञा न हो, तथा इसलिए कि अकार, एकार और ओकार इन तीनोंको मिलकर गुणसंज्ञा न हो ।)

(वा. ११) अन्यत्र 'सह' शब्द पाया जानेसे समुदायको (वृद्धि और गुण) संज्ञाएँ होनेका संभव है ।

अन्यत्र (जहाँ जहाँ समुदायको संज्ञा करनी है वहाँ वहाँ) 'सह' शब्द पाया जाता है, वैसे (यहाँ न पाया जानेसे) ये वृद्धि और गुण संज्ञाएँ समुदायको होनेका संभव नहीं है । जहाँ (आचार्य पाणिनि) समुदायको कार्य होना चाहते हैं वहाँ वे 'सह' शब्द रखते है, जैसे, 'सह सुपा' (२।१।४), 'उभे अभ्यस्तं सह' (६।१।५) ये सूत्र देखिये ।

(वा. १२) तथा वाक्यका अर्थ प्रत्येक अवयवको (लागू होता है)।

और ('प्रत्येक' शब्दका उच्चारण न किया जानेपर भी) वाक्यका मुख्य अर्थ वाक्यके प्रत्येक अवयवको पूर्णतया लागू होता हुआ बहुत स्थानोंमें दीख पडता है; जैसे, जब 'देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्रको भोजन दिया जाय' इस वाक्यका उच्चारण किया जाता है तब यद्यपि 'उनमेंसे प्रत्येक' ऐसा नहीं कहा जाता है तो भी भोजनक्रिया संपूर्णतया प्रत्येकको लागू होती है।

सो ही बात नहीं; कुछ स्थलोंमें वाक्यका मुख्य अर्थ संपूर्ण समुदायको

दण्ड्यन्तामिति । अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं दण्डयन्ति । सत्येतस्मिन्दृष्टान्ते यदि तत्र सहग्रहणं क्रियत इहापि प्रत्येकमिति वक्तव्यम् । अथ तत्रान्तरेण सहग्रहणं सहभूतानां कार्यं भवतीहापि नार्थः प्रत्येकमिति वचनेन ॥

अथ किमर्थमाकारस्तपरः क्रियते ।

आकारस्य तपरकरणं सवर्णार्थम्

आकारस्य तपरकरणं क्रियते । किं प्रयोजनम् । सवर्णार्थम् । तपरस्तत्कालस्य [१·१·७०] इति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात् ।

भी लागू होता है। उदाहरणार्थ, 'गर्गोंको सोनेकी सौ मुद्राएँ दण्ड किया जाय' वाक्य लीजिये । यहाँ यद्यपि ('गर्ग' और 'सोनेकी सौ मुद्राएँ' इन दो शब्दोंमेंसे 'सोनेकी सौ मुद्राएँ' शब्द अर्थकी दृष्टिसे अधिक महत्त्वका है, कारण कि) राजाओंको सोनेकी मुद्राओंकी बहुत आवश्यकता होती है, तो भी वे प्रत्येकको दण्ड नहीं करते, (तो सब गर्गोंसे सबको मिलाकर सोनेकी सौ मुद्राएँ दण्ड वसूल किया जाता है)। तब (समुदायको कार्य होता है ऐसा बतानेवाला) दृष्टान्त होते हुए भी (समुदायको कार्य होनेके हेतुसे यदि 'सह सुपा'—२।१।४, 'उभे अभ्यस्तं सह'—६।१।५) सूत्रोंमें 'सह' शब्द दिखायी देता है तो यहाँ भी (प्रत्येकको कार्य होनेके हेतुसे) 'प्रत्येक' शब्दका उच्चारण करना पड़ेगा। (ऊपरके दो सूत्रोंमें) यदि 'सह' शब्दका उच्चारण न किया जानेपर भी समुदायको कार्य हो सके, तो प्रस्तुत सूत्रमें भी 'प्रत्येक' शब्दका उच्चारण करनेकी आवश्यकता नहीं।

ठीक, प्रस्तुत सूत्रके 'आत्' शब्दमें तकार आगे लगाकर आकारका उच्चारण किसलिए किया है?

(वा.) आकारका तपरकरण सवर्णके लिए (किया है)।

आकारके आगे (प्रस्तुत सूत्रमें) तकार लगाया है।

उसका प्रयोजन क्या है?

सवर्ण लिये जायँ (यह उसका उपयोग है)। 'तपरस्तत्कालस्य' (१।१।७०) सूत्रसे (आकारके उच्चारणके लिए जितना समय लगता है) उतनेही समयमें उच्चारित होनेवाले जो आकारके सवर्ण हैं वे लिये जायँ (यह तकार लगानेका उपयोग है)।

---

२१. 'उभे अभ्यस्तम्' (६।१।५) सूत्रमें पाणिनिने उच्चारण नहीं किया है। 'सह सुपा' (२।१।४) सूत्रमें सह शब्द है; परन्तु उसका उपयोग अलग है। 'सह' इतनाही अलग सूत्र करके उस सूत्रसे कुछ स्थानोंपर सुबन्तका तिङन्तके साथ ही समास होता है; जैसे, पर्यभूषत्।

केषाम् । उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् । किं च कारणं न स्यात् ।

भेदकत्वात्स्वरस्य ॥ १३ ॥

भेदका उदात्तादयः । कथं पुनर्ज्ञायते भेदका उदात्तादय इति । एवं हि दृश्यते लोके । य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददात्यन्यत्वं करोपीति । अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति । भेदकत्वाद्गुणस्येति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । आनुनासिक्यं नाम गुणः । तद्भिन्नस्यापि यथा

ये सवर्ण कौनसे ?

उदात्त आकार, अनुदात्त आकार और स्वरित आकार।

पर तकार लगाये बिना ये उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आकार क्यों न लिये जायँ ?

(वा. १३) स्वरोंके भेदसे (सवर्णका ग्रहण न होगा)।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये स्वर अचोंके भेदके कारण होते हैं (अर्थात् उन स्वरोंसे अचोंके उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन भेद होते हैं।) [२४]

पर उदात्त आदि स्वर अचोंमें भेद उत्पन्न करते हैं यह कैसे ज्ञात होता है ?

लोकमें यह दीख पड़ता है कि उदात्त स्वरका उच्चारण करनेकी आवश्यकता होनेपर भी उसके बदले जो अनुदात्त स्वरका उच्चारण करता है उस शिष्यको खण्डिकोपाध्याय अर्थात् उसके छोटे गुरुजी ' अन्य स्वरका उच्चारण करके तुम भूल करते हो ' यह कहकर थप्पड़ मारते है।

यह उपयोग तो है सही, पर —

पर क्या ?

' स्वर भेद उत्पन्न करते हैं ' कहनेके बदले ' गुण भेद उत्पन्न करते हैं ' ऐसा कहना चाहिये।

उसका क्या उपयोग है ?

(उदात्त, अनुदात्त इत्यादि स्वर जैसे गुण हैं वैसे) अनुनासिक अर्थात् 'नासिकासे उच्चारण' यह भी (अक्षरोंका) एक गुण है। (इस गुणके कारण) सामान्य आकारसे सानुनासिक आकार भिन्न होता है; अतः उसका भी ('आत्' यह तपर उच्चारण करनेसे ग्रहण) हो जाय (यह उपयोग है)। पर उसका

---

२४. तब 'वृद्धिरादैच्' इस प्रकृत सूत्रमें पाणिनिने उदात्त स्वर लगाकर 'आ' कारका उच्चारण किया ऐसा समझा जाय तो अनुदात्त तथा स्वरित 'आ' कारको वृद्धिसंज्ञा नहीं होगी यह दोष आता है।

२५. तब प्रकृत सूत्रमें पाणिनिने निरनुनासिक आकारका उच्चारण किया ऐसा समझा जाय तो भी सानुनासिक 'आ' कारको भी वृद्धिसंज्ञा होती है।

स्यात्। किं च कारणं न स्यात्। भेदकत्वाद्गुणस्य। भेदका गुणाः। कथं पुनर्ज्ञायते भेदका गुणा इति। एवं हि दृश्यते लोके। एकोऽयमात्मोदकं नाम तस्य गुणभेदादन्यत्वं भवति। अन्यदिदं शीतमन्यदिदमुष्णमिति। ननु च भो अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते। तद्यथा। देवदत्तो मुण्ड्यपि जट्यपि शिख्यपि स्वामाख्यां न जहाति। तथा बालो युवा वृद्धः वत्सो दम्यो: बलीवर्द इति॥ उभयमिदं गुणेषूक्तं भेदका अभेदका इति। किं पुनरत्र न्याय्यम्। अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत्। यदयमस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः [७.१.७५] इत्युदात्तग्रहणं करोति। यदि भेदका गुणाः स्युरुदात्तमेवोच्चारयेत्।

ग्रहण ('त' कार न लगानेपर भी) क्योंकर न होगा?

(न होगा;) कारण कि गुण भेद उत्पन्न करते हैं अर्थात् गुण भेद करनेवाले हैं। (और इससे सानुनासिक 'आ' निरनुनासिक 'आ' से भिन्न होनेके कारण 'त' कारसहित 'आ' का उच्चारण न करनेपर प्रस्तुत सूत्रमें सानुनासिकका ग्रहण न होगा।)

पर (स्वरकी तरह) अन्य गुण भी भेद उत्पन्न करते हैं यह कैसे समझा जाता है?

लोकमें यह दीख पड़ता है। पानी एक ही स्वरूपका एक सामान्य पदार्थ है। गुणके कारण उसके भिन्न भिन्न भेद होते हैं; और लोग कहते हैं कि यह ठंडा पानी भिन्न है, और यह गरम पानी भिन्न है।

अजी, पर गुणके कारण भेद उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसा भी दिखायी देता है। उदाहरणार्थ, देवदत्तने यद्यपि मुंडन किया अथवा वह जटायुक्त हो वा शिखायुक्त हो, तो भी वह अपनी 'देवदत्त' संज्ञा नहीं छोड़ता है। (तीनों अवस्थाओंमें उसका 'देवदत्त' ही नाम कायम रहता है।) तथा बाल, तरुण वा वृद्ध लीजिये, (वह भिन्न भिन्न नहीं होता है;) वैसे ही बछड़ा (लीजिये) अथवा गाड़ीसे जोता हुआ बैल (लीजिये) वा साँड़ (लीजिये)।

ठीक, अब गुणोंके बारेमें आपने दोनों पक्ष बताये हैं कि, गुण भेद उत्पन्न करते हैं, और गुण भेद उत्पन्न नहीं करते। उनमेंसे समुचित क्या है?

गुण भेद उत्पन्न नहीं करते यही विधान योग्य है। सो कैसे?

कारण कि 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (७।१।७५) सूत्रमें (आचार्य पाणिनि) 'उदात्त' शब्दका उच्चारण करते हैं। (उससे वे सूचित करते हैं कि गुणोंसे अर्चोंमें भेद न माने जायँ।) यदि गुण भेद उत्पन्न करते तो ('उदात्तः' शब्दका उच्चारण करके 'अनङ्' उदात्त होता है कहनेके बदले 'अनङ्' मेंका अकार) उदात्त स्वरसे युक्त ही उच्चारित होता।

यदि तर्ह्यभेदका गुणा अनुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते तत्स्वरितादेः स्वरितान्ताच्च प्राप्नोति। नैष दोषः। आश्रीयमाणो गुणो भेदको भवति। तद्यथा। शुक्लमालभेत। कृष्णमालभेत। तत्र यः शुक्ल आलब्धव्ये कृष्णमालभते न हि तेन यथोक्तं कृतं भवति॥ असंदेहार्थस्तर्हि तकारः। ऐजित्युच्यमाने संदेहः स्यात्किमिमावैचावेवाहोस्विदाकारोऽप्यत्र निर्दिश्यत इति। संदेहमात्रमेतद्भवति सर्वसंदेहेषु चेदमुपतिष्ठते व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणमिति। त्रयाणां ग्रहणमिति

पर 'गुणोंसे भेद न माने जायँ' (ऐसा कहा जाय) तो जिनके आरंभमें अनुदात्त है तथा अन्तमें उदात्त है इन शब्दोंको जो कार्य (४।२।४४; ४।३।६७) कहे हैं वे, जिनके आरंभमें स्वरित है, तथा जिनके अन्तमें स्वरित है उन शब्दोंसे होने लगेंगे।

यह दोष न आयेगा। (कारण कि, उदात्त आदि शब्दसे अथवा निपातनसे) कहा हुआ गुण (पदार्थमें) भेद निर्माण करता है; जैसे, 'शुक्लमालभेत' वाक्य अथवा 'कृष्णमालभेत' वाक्य लीजिये। वहाँ (शुक्ल शब्दसे और कृष्ण शब्दसे गुणका उच्चारण किया गया है और इसीलिए) श्वेत बैलके बदले जो काले बैलको मारता है (अथवा काले बैलके बदले श्वेतको मारता है) उस व्यक्तिका कर्म समुचित नहीं किया होता है। (अतः आकारसे सब प्रकारके आकारका आप-ही-आप ग्रहण-हो जानेसे उसीके लिए तकारका उच्चारण करनेकी आवश्यकता नहीं यह सिद्ध होता है।)

तो फिर (कमसे कम) संशयनिरासनके लिए यहाँ तकारका उच्चारण किया जाय। (उसका स्पष्टीकरण यह है कि तकार न लगाकर आ और ऐच्की संधि करके) 'ऐच्' पदका उच्चारण करनेसे संशय निर्माण होगा कि ऐच् अर्थात् केवल ऐच् शब्द लिया जाय अथवा ('आ' और 'ऐच्' की संधि करके उच्चारित ऐच् शब्द लिया जाय अर्थात् उस शब्दमें) 'आ' कार भी है ऐसा अर्थ किया जाय।

(संशय तो निर्माण होगा सही,) पर यह नाममात्र ही संशय होगा; कारण कि (संशयका निरसन करनेके लिए) सभी संशयस्थलोंमें यह (परिभाषा) उपस्थित होती ही है—'संदेहस्थलमें विशिष्ट अर्थ व्याख्यानसे किया जाय, संशय आता है *इस निमित्तसे शास्त्र निरर्थक न समझा जाय।'* (*'ऐच्' शब्दमें आ और ऐच् पद* हैं और 'आ' कार, 'ऐ' कार और 'औ' कार ये) तीनों यहाँ लिये जायँ ऐसा यहाँ व्याख्यान करेंगे। (यह करना अनुचित नहीं; कारण कि) इसी प्रकारके अन्य

---

२६. अथवा जिसके आरंभमें उदात्त है ऐसे (उ.)।

२७. अथवा जिसके अन्तमें अनुदात्त है ऐसे (उ.)।

२८. सूत्रमें शब्दका उचारण करते समय उसमेंके जिस वर्णको जो उचित स्वर हो उसका उचारण न करके पाणिनिने भिन्न ही स्वर उस वर्णको लगाया हो तो उसको निपातन कहते हैं।

व्याख्यास्यामः । अन्यत्रापि ह्ययमेवंजातीयकेषु संदेहेषु न कंचियत्नं करोति। तद्यथा। औतोऽम्शसोः [६.१.९३] इति॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति। खट्व इन्द्रः। खट्वेन्द्रः। खट्व उदकं खट्वोदकम्। खट्व ईषा खट्वेषा। खट्व ऊढा खट्वोढा। खट्व एलका खट्वैलका। खट्व ओदनः खट्वौदनः। खट्व ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः। खट्व औपगवः खट्वौपगव इति। अथ क्रियमाणेऽपि तकारे कस्मादेव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति।

संशयस्थानोंमें आचार्य पाणिनि संशय न रहनेके लिए कुछ भी विशिष्ट यत्न नहीं करते हैं; (वहाँ व्याख्यानसे ही संशयका निराकरण किया जाता है)। जैसे, 'औतोम्शसोः' (६।१।९३) सूत्र देखिये।[२९]

(ठीक, संशयनिरास यदि तकारके उच्चारणका उपयोग न हो) तो यह उपयोग समझा जाय। (यदि तकार रखा जाय तो) स्थानी तीन वा चार मात्राओंसे युक्त होनेपर उनके स्थानमें निकटताके कारण आदेश भी तीन वा चार मात्राओंसे युक्त (होने लगेंगे), वे वैसे न हों। (वे दो मात्राओंसे युक्त न होनेके लिए तकार रखना आवश्यक है।) उदाहरणके लिए आगे दिये हुए शब्द और उनकी संधियाँ देखिये—खट्वाँ + इन्द्रः = खट्वेन्द्रः; खट्वा + उदकम् = खट्वोदकम्, खट्वा + ईषा = खट्वेषा, खट्वा + ऊढा = खट्वोढा; खट्वा + एलका = खट्वैलका; खट्वा + ओदनः = खट्वौदनः; खट्वा + ऐतिकायनः = खट्वैतिकायनः, खट्वा + औपगवः = खट्वौपगवः इत्यादि।

ठीक, पर यहाँ तकार रखनेपर भी तीन और चार मात्राओंसे युक्त स्थानियोंके तीन और चार मात्राओंसे युक्त आदेश क्यों न होंगे?

कारण कि 'तपर वर्ण, जिसके उच्चारणके लिए समान काल लगता है ऐसे ही अपने सवर्णका ग्रहण करता है' यह नियम है (१।१।७०)[३१]।

---

२९. यहाँ आ और ओ इनके बीचमें तकार रखकर 'आदोत' ऐसा पाणिनिने नहीं पढा है; 'औतः' ऐसा पढा है। तथापि वहाँ एक औकार न लेके आ और ओ ये दो वर्ण ही लिए जायँ ऐसा व्याख्यानसे निश्चित किया जाता है।

३०. 'आ' कारकी दो मात्राएँ और 'इ' कारकी एक मिलकर दो स्थानियोंकी तीन मात्राएँ होती हैं। खट्वा ईषा इत्यादि उदाहरणोंमें दो स्थानियोंकी मिलकर चार मात्राएँ होती हैं।

३१. तब दीर्घ अर्थात् द्विमात्र ऐकारको और औकारको ही वृद्धिसंज्ञा होती है। तथा द्विमात्र एकारको और ओकारको ही गुणसंज्ञा होती है। त्रिमात्र अथवा चतुर्मात्र एकार इत्यादिको गुणसंज्ञा ही होती नहीं। अत गुण और वृद्धि करते समय त्रिमात्र इत्यादि आदेश नहीं होते।

तपरस्तत्कालस्येति नियमात् । ननु तः परो यस्मात्सोऽय तपरः । नेत्याह । तादपि परस्तपरः । यदि तादपि परस्तपर ऋदोरप् [३.३ ५७] इतीहैव स्यात् यवः स्तवः । लवः पव इत्यत्र न स्यात् । नैष तकारः । कस्तर्हि । दकारः । किं दकारे प्रयोजनम् । अथ किं तकारे । यद्यसंदेहार्थस्तकारो दकारोऽपि । अथ मुखसुखार्थस्तकारो दकारोऽपि ॥

परन्तु ' त् ' जिसके आगे लगाया गया है ऐसा वर्ण यह ' तपर ' शब्दका अर्थ है न ? [32]

हम कहते हैं कि यही केवल नहीं । तकारके आगे रहनेवाला वर्ण भी ' तपर ' समझा जाता है । [33]

' तकारके आगे रहनेवाला वर्ण ' यही यदि ' तपर ' शब्दका अर्थ समझा जाय तो ' ऋदोरप् ' (३।३।५७) सूत्रसे ' यवः ', ' स्तवः ' इत्यादि शब्दोंमें ही ' अप् ' प्रत्यय होगा, ' लवः ', ' पवः ' इत्यादि शब्दोंमें ' अप् ' प्रत्यय न होगा । [34]

(' ऋदोरप् ' सूत्रमें) ' तकार ' का उच्चारण ही नहीं किया है ।

तो फिर किस वर्णका उच्चारण किया है ?

' दकार ' का उच्चारण है ।

' दकार ' का उच्चारण करनेका क्या उपयोग है ?

' तकार ' के उच्चारणका भी क्या उपयोग है ?

यदि ' तकार ' के उच्चारणका उपयोग अर्थके संबधमें संशय [35] निर्माण न होने देना यह हो तो ' दकार ' का भी वही उपयोग है । तथा उच्चारण करनेमें मुखके द्वारा सुखसे उच्चारण [36] हो यह यदि तकारका उपयोग लिया जाय तो दकारका भी वही उपयोग समझा जायगा ।

---

३२ तब ' वृद्धिरादैच् ' इस प्रकृत सूत्रमें ऐकारके पीछे तकार रखा गया है । उस पीछेके तकारसे ऐकार दीर्घ ही लिया जाता है यह कैसे कहा जायगा ?

३३ *' तपर ' शब्दमें केवल बहुव्रीहि समास ही है सो बात नहीं, तो यहाँ पंचमीतत्पुरुष समास भी है ।*

३४. ' ऋदोः ' में ऋत् इस तकारके आगे ह्रस्व उकारका उच्चारण करके उसकी ' ऋदो ' यह पंचमी रखी है । उस उकारसे दीर्घ ऋकारका ग्रहण न होनेके कारण लॄ, पॄ इन दीर्घ ऋकारान्त धातुओंके आगे अप् प्रत्यय नहीं होगा ।

३५. तकार न रखके ऋ और उ का संधि करके ' रो ' ऐसा उच्चारण किया जाय तो वहाँ क्या रेफ ही उच्चारित है यह सन्देह प्राप्त होता है ।

३६. बीचमें व्यञ्जन न रखकर स्वरके आगे दूसरे स्वरके उच्चारणमें थोड़ासा विशेष प्रकारका प्रयत्न करना पड़ता है । और बीचमें व्यञ्जन रखनेपर उस शब्दका सुखसे उच्चारण किया जाता है ।

[अदेङ् गुणः १।१।२॥] इको गुणवृद्धी ॥ १ । १ । ३ ॥

इग्ग्रहणं किमर्थम् ।

इग्ग्रहणमात्संध्यक्षरव्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् ॥ १ ॥

इग्ग्रहणं क्रियत आकारनिवृत्त्यर्थं संध्यक्षरनिवृत्त्यर्थं व्यञ्जननिवृत्त्यर्थं च । आकारनिवृत्त्यर्थं तावत् । याता वाता । आकारस्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति ॥ संध्यक्षरनिवृत्त्यर्थम् । ग्लायति म्लायति । संध्यक्षरस्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति ॥ व्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् । उम्भिता उम्भितुम् उम्भितव्यम् । व्यञ्जनस्य

[अकार, एकार और ओकार इन तीन वर्णोंको गुणसंज्ञा होती है। १।१।२]

(पा. सू. १. १. ३) गुण ओर वृद्धि कहनेवाले शास्त्रमें 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है।

इस सूत्रमें 'इकः' पद किसलिए रखा है?

(वा. १) आ, सन्ध्यक्षर और व्यञ्जनकी निवृत्ति होनेके लिए सूत्रमें 'इक्' शब्दका उच्चारण किया है।

आ, सन्ध्यक्षर (ए, ऐ, ओ, औ) और व्यञ्जन ये वर्ण (गुण और वृद्धि आदेशोंके स्थानी) न हों इसीलिए 'इकः' पद रखा है। (उससे 'आ'कार आदि वर्णोंको गुण और वृद्धि नहीं होती है।) उनमेंसे 'आ'कारको गुण न होना यह उपयोग 'याता,' 'वाता' (उदाहरणोंमें दीख पड़ता है)। (मस्तुत सूत्रमें 'इकः' पदका उच्चारण न करनेसे) यहाँ 'आ'कारको गुण प्राप्त होता है; पर 'इकः' पदके ग्रहणसे वह नहीं होता है। सन्ध्यक्षरको गुण न होना यह उपयोग 'ग्लायति,' 'म्लायति' (उदाहरणोंमें दीख पड़ता है)। ('इकः' पदका उच्चारण न करनेसे) यहाँ सन्ध्यक्षरको (अर्थात् 'ऐ'कारको) गुण प्राप्त होता है; 'इकः' पदके ग्रहणसे

---

१. इस प्रश्नका तात्पर्य यह है कि यह समूचा सूत्र किसलिए किया है। तथापि 'गुणवृद्धि' पद अगले सूत्रमें अनुवृत्त होता है। तब अगले सूत्रमें उसका उच्चारण नहीं करना पड़ेगा इसलिए 'इकः' इस एक पदका यहाँ उल्लेख किया है।

२. 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) इस गुण कहनेवाले शास्त्रमें 'इको गुणवृद्धी' इस परिभाषासूत्रसे 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होनेके कारण इगन्त अंगको गुण होता है ऐसा इस शास्त्रका अर्थ होता है। तब चेता इत्यादि उदाहरणोंमें इकार इत्यादि इकोंको गुण होता है। आकार इक् न होनेके कारण याता आदि उदाहरणोंमें आकारको गुण नहीं होता है।

३. 'ग्लै' धातुमें मूल ऐकारका धातुपाठमें पाणिनिने उच्चारण किया है। यदि एकारको गुण होके एकार हो तो 'ग्ले' इस एकारान्त धातुका ही उच्चारण करनेसे इष्ट कार्य सिद्ध होगा।

गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति ॥ आकारनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नाकारस्य गुणो भवतीति यदयमातोऽनुपसर्गे कः [३.२.३.] इति ककारमनुबन्धं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । कित्करण एतत्प्रयोजनं कितीत्याकारलोपो यथा स्यात् । यदि चाकारस्य गुणः स्यात्कित्करणमनर्थकं यात् । गुणे कृते द्वयोरकारयोः पररूपेण सिद्धं रूपं स्यात् गोदः कम्बलद इति। पश्यति त्वाचार्यो नाकारस्य गुणो भवतीति ततः ककारमनुबन्धं करोति ॥ संध्यक्षरनिवृत्त्यर्थेनापि नार्थः । उपदेशसामर्थ्यात्संध्यक्षरस्य गुणो न भविष्यति ॥ व्यञ्जननिवृत्त्यर्थेनापि नार्थः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति यदयं जनेर्ड शास्ति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । डित्करण एतत्प्रयोजनं डितीति

यह नहीं होता है। व्यञ्जनको गुण न होना यह उपयोग 'उम्भिता,' 'उम्भितुम्,' 'उम्भितव्यम्' (उदाहरणोंमें दिखायी देता है) । ('इक्' पद रहनेसे) यहाँ व्यञ्जनको गुण प्राप्त होता है, 'इकः' पदके ग्रहणसे वह नहीं होता है।

'आ'कारको गुण न होना यह उपयोग इक् पदका है यह विधान निरर्थक है। कारण कि, जब कि आचार्य (पाणिनि) 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) सूत्रमें 'अ' प्रत्ययको ककार इत्संज्ञक लगाकर 'क' प्रत्यय कहते हैं, तब उनकी सूत्ररचनासे यह दीख पडता है कि 'आ' कारको गुण नहीं होता है।

यह ज्ञापक कैसे लिया जाय ?

'क' प्रत्ययमें ककार इत् करनेका उपयोग यह है कि 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) सूत्रसे धातुके 'आ' कारका लोप हो। पर यदि 'आ' कारको गुण हो तो 'क' कार इत् करनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं। कारण कि 'आ' कारका गुण जो 'अ' कार है और प्रत्ययका 'अ' कार है ये दोनों मिलकर पररूप (६।१।९७) अकार होके 'गोदः', कम्बलदः' इत्यादि रूप सिद्ध होंगे हीं। अतः आचार्य (पाणिनि) का मत यह दीख पडता है कि 'आ' कारको गुण नहीं होता है और इसीलिए वे 'क' प्रत्ययमें ककार इत्संज्ञक लगाते है।

सन्ध्यक्षरको गुण न होना यह इक् पदका उपयोग है यह विधान भी निरर्थक है, कारण कि उसको यदि गुण होने लगेगा तो उसका मूल उच्चारण भी व्यर्थ होगा। अतः उच्चारणके बलपर ही सन्ध्यक्षरको गुण न होगा।

तथा व्यञ्जनको गुण न होना यह इक् पदका उपयोग है ऐसा कहना भी व्यर्थ है, कारण कि, जब कि 'जन्' धातुके आगे 'ड' प्रत्यय कहा है (३।२।९७) तो आचार्य (पाणिनि) की सूत्ररचनासे ही अनुमान निकलता है कि व्यञ्जनको गु नहीं होता है।

यह ज्ञापक अर्थात् अनुमान कैसे निकलता है ?

टिलोपो यथा स्यात्। यदि व्यञ्जनस्य गुणः स्याड्डित्करणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृते त्रयाणामकाराणां पररूपेण सिद्धं रूपं स्यात् उपसरजः मन्दुरज इति। पश्यति त्वाचार्यो न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति ततो जनेर्डं शास्ति॥ नैतानि सन्ति ज्ञापकानि। यत्तावदुच्यते कित्करणं ज्ञापकमाकारस्य गुणो न भवतीत्युत्तरार्थमेतत्स्यात्। तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः [३.२.५] इति। यत्तर्हि गापोष्टक् [८] इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति॥ यदप्युच्यत उपदेश-

'ड'कार इत्संज्ञक करनेका उपयोग यह है कि डकार जिसका इत् है ऐसा प्रत्यय आगे रहनेसे पिछले 'टि' भागका लोप हो। यदि व्यञ्जनको गुण होगा तो 'ड' कार इत् करना व्यर्थ होगा। कारण कि गुण करनेपर तीन अकारोंका पररूप (६।१।९७) होके 'उपसरजः', 'मन्दुरजः' इत्यादि रूप सिद्ध होंगे। अतः आचार्य पाणिनिका मत यों दीख पड़ता है कि व्यञ्जनको गुण नहीं होता है, और इसीसे वे 'जन्' धातुके आगे 'ड' प्रत्यय कहते हैं।

ये अनुमान नहीं निकाले जा सकते हैं। 'क'कार इत्संज्ञक करनेसे अनुमान निकलता है कि, 'आ'कारको गुण नहीं होता है ऐसा जो कहा है उसके संबंधमें (इतना ही उत्तर दिया जा सकता है कि यद्यपि 'आतोऽनुपसर्गे कः'—३।२।३— सूत्रमें 'क'कार इत्संज्ञक करनेका कुछ भी प्रयोजन न हो तो भी) 'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' (३।२।५) इस अगले सूत्रमें ककार इत्संज्ञक करनेका उपयोग होगा।

यद्यपि ('क' प्रत्ययके ककारका उपयोग दिखाया गया) तो भी 'गापोष्टक्' (३।२।८) सूत्रके 'टक्' प्रत्ययमें 'क' कार इत्संज्ञक करनेका दूसरा कोई उपाय दिखाना संभवनीय नहीं।[८]

---

४. 'टेः' (६।४।४३) सूत्रसे डित् प्रत्यय आगे रहनेपर पिछले 'टि' का लोप कहा है। उपसर उपपद रहनेपर 'जन्' धातुके आगे 'ड' प्रत्यय किया जानेपर 'जन्' धातुमेंके अन् इस 'टि' भागका लोप होकर 'उपसरज' यह शब्द सिद्ध होता है। 'टेः' सूत्रसे यद्यपि 'भ' संज्ञकके 'टि' का लोप कहा है तो भी वहाँ 'ड' प्रत्ययको विशेष हेतुसे 'टि' लोपके लिए 'ड' कार लगाया जानेके कारण 'उपसरज' में 'भ' संज्ञा न होनेपर भी लोप होता है।

५. केवल 'अ' प्रत्यय कहनेसे ही इष्ट कार्य सिद्ध होगा।

६. 'जन्' धातुके नकारको गुणसे अकार आदेश किया जानेपर।

७. 'तुन्दपरिमृजः' में 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) सूत्रसे वृद्धि प्राप्त होती है। तथा 'शोकापनुदः' में 'पुगन्त०' (७।३।८६) सूत्रसे गुण प्राप्त होता है। परन्तु 'क' प्रत्यय कित् होनेके कारण 'क्ङिति च' (१।१।५) सूत्रसे उस वृद्धिका और गुणका निषेध होता है।

८. केवल 'गा' और 'पा' इन दो धातुओंके आगे ही यह 'टक्' प्रत्यय कहा है। तब 'सामगः', 'सोमपः' में धातुमेंके अकारका लोप (६।४।६४) होना यही कित्

सामर्थ्यात्संध्यक्षरस्य गुणो न भवतीति यदि यथसंध्यक्षरस्य प्राप्नोति तत्तदुपदेशसामर्थ्याद्बाध्यत आयादयोऽपि तर्हि न प्राप्नुवन्ति। नैष दोषः। यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते यस्य तु विधेर्निमित्तमेव नासौ बाध्यते। गुणं च प्रत्युपदेशोऽनर्थक आयादीनां पुनर्निमित्तमेव ॥ यदप्युच्यते जनेर्डवचनं ज्ञापकं न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति न च जनेर्गुणेन सिध्यति। कुतो ह्येतज्जनेर्गुण उच्यमानोऽकारो भवति न पुनरेकारो वा स्यादोकारो वेति। आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य मात्रिकोऽकारो भविष्यति।

तथा 'सन्ध्यक्षरोंका उच्चारण जब कि किया है तब सन्ध्यक्षरको गुण नहीं होता (ऐसा जो कहा है उसके संबधमें यह बताया जा सकता है कि) 'उच्चारणके बलपर सन्ध्यक्षरको जो जो कार्य होंगे उन सबका बाध होगा।' और उससे ('ग्लै' आदि धातुओंके सन्ध्यक्षरोंको होनेवाले) आय्, आव् इत्यादि (आदेश) भी नहीं होंगे (यह दोष आयेगा)।'

कारण कि जिस विधिके बारेमें (अर्थात् जो विधि किया जानेपर सन्ध्यक्षरोंका) उच्चारण व्यर्थ होता है वह विधि (उस उच्चारणसे) बाधित होता है, पर जो विधि होनेके लिए ऐ, औ ये निमित्तमात्र है उस विधिका (सन्ध्यक्षरके उच्चारणके बलपर)[१] बाध नहीं होता है। गुणके सबधमें (अर्थात् सन्ध्यक्षरको गुण किया जानेपर सध्यक्षरका) उच्चारण व्यर्थ होता है, (पर सन्ध्यक्षरको होनेवाले) आय्, आव् इत्यादि आदेशोंका (सन्ध्यक्षर) निमित्तमात्र होता है।

तथा 'जन्' धातुके आगे कहे हुए 'ड' प्रत्ययसे व्यञ्जनको गुण नहीं होता है यह अनुमान निकलता है (ऐसा जो ऊपर कहा है) उसके बारेमें इतना ही कहना है कि "(कोई विधि कहे बिना अन्य रीतिसे) अपने-आप ही इष्टकी सिद्धि होनेपर यदि कोई विधि कहा जाय (तभी वह विधि व्यर्थ होता है और व्यर्थ होनेके कारण) उससे (आचार्यके मतकी) किसी बातका अनुमान निकलता है।" किन्तु 'जन्' धातुके आगे कहे हुए 'ड' प्रत्ययके संबधमें मात्र वैसी बात नहीं। कारण कि यहाँ नकारका *गुण करके इष्टसिद्धि नहीं होती है। ऐसा क्यों तो 'जन्' धातुके नकारको गुण हो तो* वह 'अ' कार ही क्यों हो? एकार वा ओकार क्यों न हो?

पर व्यञ्जनकी आधी मात्रा होनेके कारण एक मात्रासे युक्त 'अ' कार ही उसके निकटका होनेसे व्यञ्जनको 'अ' कार ही गुण होगा।

प्रत्ययका उपयोग होता है। गुणका अथवा वृद्धिका निषेध करना यह उपयोग 'गा' और 'पा' धातुओंमें सभवनीय नहीं। अत 'आ' कारको गुण नहीं होता है इसके बारेमें इस 'टक्' प्रत्ययका ककार ज्ञापक होगा।

१ अत 'ग्लायति' आदि रूप सिद्ध नहीं होंगे।

एवमप्यनुनासिकः प्राप्नोति । पररूपेण शुद्धो भविष्यति । एवं तर्हि गमेरप्ययं डो वक्तव्यः । गमेश्च गुण उच्यमान आन्तर्यत ओकारः प्राप्नोति । तस्मादिग्ग्रहणं कर्तव्यम् ॥

यद्यीग्ग्रहणं क्रियते द्यौः पन्थाः सः इममित्येतेऽपीकः प्राप्नुवन्ति ।

संज्ञया विधाने नियमः ॥ २ ॥

संज्ञया ये विधीयन्ते तेषु नियमः । किं वक्तव्यमेतत् । न हि । कथम-

---

(यह यद्यपि हो और 'अ'कार हीं हो) तो भी यह सानुनासिक होगा न ?

(कुछ बाधा नहीं ।) दो 'अ'कारों का पररूप होके अन्तमें शुद्ध (अर्थात् निरनुनासिक) ही होगा।

पर (यद्यपि 'जन्' धातुके बारेमें गुणसे इष्ट कार्य सिद्ध हो तो भी) 'गम्' धातुके आगे वही 'ड' प्रत्यय कहना चाहिये, कारण कि 'गम्' धातुके 'अ'कारको यदि गुण किया जाय तो ('अ'कार न होके) निकटका होनेके कारण ओकार होने लगेगा। (संक्षेपमें) 'इकः' पद सूत्रमें रखना आवश्यक है।

ठीक, पर इक्को हीं *गुण और वृद्धि* होती है तो 'द्यौः', 'पन्थाः', 'सः', 'इमम्' इत्यादि (उदाहरणोंमें जो औ, आ, अ इत्यादि आदेश कहे हे वे भी) इक्को ही होने लगेंगे। (कारण कि औकारको और आकारको वृद्धिसंज्ञा है और अकारको गुणसंज्ञा है।)

(वा. २) संज्ञाका उच्चारण करके विधान किया हो तो नियम होता है।

(ऊपरके आदेश इक् को होने लगेंगे तो यह दोष नहीं आयेगा, कारण कि

---

१०. मकारकी नकारकी जैसी आधी मात्रा होनेके कारण उसको दो मात्राओंसे युक्त ए, ओ की अपेक्षा अकार ही निकटका है। तो भी उस मकारको 'ओ' कार स्थानकी दृष्टिसे निकटका है, कारण कि मकारका ओष्ठ-स्थान है, और स्थानसे प्राप्त निकटता अन्योंकी अपेक्षा अधिक प्रबल समझी जाती है। (१।१।५० भाष्य देखिये)। तब 'गम्' धातुके मकारको गुणसे 'ओ' कार हो तो गुरुतल्पग आदि उदाहरण सिद्ध न होनेके कारण 'टि' लोपके लिए 'ड' कार लगाना ही चाहिये । अत वास्तवमें व्यञ्जनको गुण न होनेके विषयमें ज्ञापक नहीं प्राप्त होता है।

११. 'द्यौ' में दिव् शब्दके वकारको 'दिव औत' (७।१।८४) सूत्रसे औकार आदेश होता है। वह आदेश वकारके बदले इकारको हो तो 'द्यौ' रूप सिद्ध नहीं होगा। 'पन्था' में 'पथिमथ्यृ॰' (७।१।८५) सूत्रसे कहा हुआ 'आ' कार आदेश पथिन् शब्दके नकारको न होके इकारको होगा। 'स' में 'इक्' न होनेके कारण 'त्यदादीनाम्' (७।२।१०२) सूत्रसे अकार आदेश होगा ही नहीं। 'इमम्' में उसी सूत्रसे कहा हुआ अकार आदेश इदम् शब्दके मकारके बदले इकारको होगा।

नुच्यमानं गंस्यते । गुणवृद्धिग्रहणसामर्थ्यात् । कथं पुनरन्तरेण गुणवृद्धिग्रहणमिको गुणवृद्धी स्याताम् । प्रकृतं गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् । वृद्धिरादैजदेङ्गुण इति । यदि तदनुवर्ततेऽदेङ्गुणो वृद्धिश्चेत्यदेङां वृद्धिसंज्ञापि प्राप्नोति । संबन्धमनुवर्तिष्यते । वृद्धिरादैच् । अदेङ्गुणो वृद्धिरादैच् । तत इको गुणवृद्धी इति । गुण-

---

जहाँ गुण और वृद्धि इन) संज्ञाओंका उच्चारण करके (गुण या वृद्धि) यह आदेश कहा हो वहाँ (वह आदेश इक्को ही होता हैं) । ऐसा नियम (इस सूत्रसे) होता है ।

तो फिर यह कहना चाहिये न ?

नहीं; (यह कहनेकी आवश्यकता नहीं) ।

पर न कहनेसे कैसे ज्ञात होगा ?

गुण और वृद्धि पदोंके उच्चारणके बलपर ।

(उच्चारणके बलपर तो आप कहते हैं, पर गुण और वृद्धि पद कहाँ व्यर्थ आते हैं कि उनका बल आप कह सकेंगे ? इस सूत्रमें गुण और वृद्धि पद अवश्य रखने चाहियें । कारण कि) उन गुण और वृद्धि पदोंके ग्रहणके बिना, इक् को गुण और वृद्धि होती है यह अर्थ कैसे हो ?

क्यों ? पूर्वसूत्रके गुण और वृद्धि पद प्रस्तुत सूत्रमें अनुवृत्त होंगे ही ।[१२]

पूर्वसूत्रमें इन पदोका कहाँ उच्चारण किया गया है ?

'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) और 'अदेङ् गुणः' (१।१।२) सूत्रोंमें ।

यदि ('वृद्धिरादैच्' का) वह (वृद्धि पद यहाँ— १।१।२) आता है (ऐसा कहा जाय) तो वह 'वृद्धि' पद 'अदेङ् गुणः' सूत्रमें भी आया हो और अकार तथा एङ् को (गुणसंज्ञा जैसी) वृद्धिसंज्ञा भी होने लगेगी ।

(तो फिर 'वृद्धिरादैच्' सूत्रसे जो वृद्धिपद अनुवृत्त हुआ है वह न केवल अनुवृत्त हुआ है तो आदैच् पदसे) संबद्ध होते हुए अनुवृत्त हुआ है (ऐसा समझा जाय) । 'वृद्धिरादैच्' यह पहला सूत्र है । उसके बाद 'अदेङ् गुणः' सूत्रमें जो वृद्धिपद आया है वह 'आदैच्' से संबद्ध होकर ही आया है । (अतः वृद्धिपदका

---

१२. तब उसीसे इष्ट कार्य सिद्ध होते हुए जब कि फिरसे यहाँ 'गुणवृद्धी' पद रखा गया है तो उसके बलपर गुण और वृद्धि शब्दोंका उच्चारण करके गुणका तथा वृद्धिका जहाँ विधान किया हो वहीं वह नियम लागू होता है ऐसा समझा जा सकता है ।

१३. अतः आ, ऐ और औ इनको पूर्वसूत्रसे जो वृद्धिसंज्ञा वही है उसीका इस सूत्रमें अ, ए और ओ इनको गुणसंज्ञका विधान करनेमें अनुवाद किया है ऐसा दिखायी देगा । इसमें अ, ए और ओ को वृद्धिसंज्ञा होगी यह दोष नहीं प्राप्त होता है ।

वृद्धिग्रहणमनुवर्तते । आदैजदेङ्ग्रहणं निवृत्तम् ॥ अथवा मण्डूकगतयोऽधिकाराः । यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः ॥ अथवैकयोगः करिष्यते । वृद्धिरादैजदेङ्गुणः । तत इको गुणवृद्धी इति । न चैकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति ॥ अथवान्यवचनाच्चकाराकरणात्प्रकृतापवादो विज्ञायते यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति । अन्यस्याः संज्ञाया वचनाच्चकारस्य चानुकर्षणार्थस्याकरणात्प्रकृताया वृद्धिसंज्ञाया गुणसंज्ञा बाधिका भविष्यति यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति ॥ अथवा वक्ष्यत्येतत् । अनुवर्तन्ते च नाम विधयो न चानुवर्त-

---

अदेङ् पदसे संबंध न होनेके कारण कुछ भी दोष नहीं आता है।) उसके अनन्तर 'इको गुणवृद्धी' सूत्रमें केवल गुण और वृद्धि ये दो पद ही आयेंगे और 'अदेङ्' तथा 'आदैच्' पद यहीं रुक जायेंगे । अथवा 'अधिकार' के रूपमें उच्चारित पद (पिछले सूत्रसे अगले सूत्रमें) मेंढक जैसे जाते हैं; अर्थात् जैसे मेंढक कूदते कूदते चलते हैं वैसे 'अधिकार' पद (इस सूत्रसे उस सूत्रपर कूदन करके जाते हैं, अर्थात् कभी कभी बीचके सूत्रमें प्रवेश न करके आगे कूदते हैं। अतः 'अदेङ् गुणः' सूत्रको स्पर्श न करके तत्काल वृद्धिपद यहाँ आयेगा)। अथवा 'वृद्धिरादैजदेङ् गुणः' इस रूपका एक ही सूत्र करेंगे और तदनन्तर 'इको गुणवृद्धी' (दूसरा सूत्र होगे); इससे ('वृद्धिरादैजदेङ् गुणः' यह) एक ही पूरा सूत्र होनेसे ('वृद्धि' शब्दकी) अनुवृत्ति ('अदेङ् गुणः' में) होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

अथवा—अन्य संज्ञा कही जानेके कारण तथा 'च' शब्द न रखनेसे ऐसा ज्ञात होता है कि प्रकृत ('वृद्धि' संज्ञा का गुणसंज्ञा) बाधक होगी, जैसे सामान्य नियमसे प्राप्त होनेवाले कार्य का अपवाद (विशेष नियम) बाधक होता है। अथवा ('अदेङ् गुणः' सूत्रमें 'वृद्धि' पदकी अनुवृत्ति होते अ, ए और ओ की वृद्धिसंज्ञा प्राप्त होनेपर भी उनकी 'गुण' यह) अन्य संज्ञा कही जानेके कारण तथा (यह कहनेवाले सूत्रमें) अनुवृत्ति होनेके लिए 'च शब्द न रखनेसे' (यह ज्ञात होगा कि) प्रकृत 'वृद्धि' संज्ञाका 'गुण' संज्ञा बाध करेगी[१]। जैसे सामान्यरूपसे कहे गये कार्यका अपवादसूत्र बाध करता है (वैसे ही यह होगा)। अथवा आगे (१।३।११) सूत्रका यह सूचित करनेवाले हैं कि कोई विधि अर्थात् विधि बतानेवाले शब्द) आगे सूत्रमें प्रविष्ट होते हैं; पर केवल प्रविष्ट होनेसे वैसा होता है सो बात नहीं, सो

---

१. 'च' शब्द न रखनेसे ज्ञात होता है कि अन्य होनेके कारण 'अदेङ् गुणः' सूत्रमें पूर्वसूत्रसे 'वृद्धि' शब्दकी जो अनुवृत्ति हुई है वह निवृत्त होगी। क्योंकि 'इको गुणवृद्धी' सूत्रमें 'वृद्धि' शब्दकी अनुवृत्ति होना यह उसका प्रयोजन है।

नादेव भवन्ति । किं तर्हि । यत्नाद्भवन्तीति ॥ अथवोभय निवृत्त तदपेक्षिष्यामहे ॥

'किं पुनरयमलोऽन्त्यशेष आहोस्विदलोऽन्त्यापवादः । कथ चाय तच्छेषः स्यात्कथ वा तदपवादः । यद्येक वाक्य तच्चेद च अलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्ति इको गुणवृद्धी अलोऽन्त्यस्येति ततोऽय तच्छेष' । अथ नाना वाक्यम् अलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्ति इको गुणवृद्धी अन्त्यस्य चानन्त्यस्य चेति ततोऽय तदपवादः । कश्चात्र विशेषः ।

वैसा होनेके लिए यत्न करना पडता है ।(ऐसा यत्न यहॉं न किया[16] जानेसे अकार और एड्को वृद्धिसंज्ञा न होगी, तो गुणसंज्ञा ही होगी ।) अथवा (प्रस्तुत 'इको गुणवृद्धी' सूत्रमें आने के पहले ही) वृद्धि शब्द तथा गुणशब्द भी रुक जाता है और उन (दोनों शब्दों) का यहॉं (अर्थात् प्रस्तुत सूत्रमें) हम अध्याहार करेंगे ।

ठीक, तो क्या (वाक्यार्थ के कार्यमें) प्रस्तुत (सूत्र 'अलोन्त्यस्य'–१।१।५२– सूत्रकी शेषपूर्ति लिया जाय) अथवा 'अलोन्त्यस्य' सूत्रका अपवाद (समझा जाय)? यह सूत्र 'अलोन्त्यस्य' सूत्रकी शेषपूर्ति कैसे समझी जाय अथवा 'अलोन्त्यस्य' सूत्रका अपवाद कैसे समझा जाय?

यदि वह सूत्र और यह सूत्र दोनों मिलाकर एक वाक्य किया जाय और "(षष्ठी विभक्तिका उच्चारण करके अमुकके स्थानमें अमुक होता है ऐसा कहनेसे) वह उस शब्दके अन्त्य वर्णको होता है" इससे "गुण और वृद्धि आदेश अन्त्य इक् वर्णको होते हैं" यह अर्थ किया जाय तो प्रस्तुत (सूत्र) उस ('अलोन्त्यस्य'— १।१।५२—सूत्र) की शेषपूर्ति होती है । पर यदि (दोनों सूत्रोंके) दो भिन्न भिन्न वाक्य किये जायँ और 'षष्ठी विभक्तिका उच्चारण करके कहा गया कार्य अन्त्य वर्णको होता है' तथा 'गुण और वृद्धि ये कार्य इक्को होते हैं, वह इक् अन्तमें हो या न हो' (यह अर्थ किया जाय) तो प्रस्तुत (सूत्र) उस ('अलोन्त्यस्य' सूत्र) का अपवाद होता है ।

इन दोनों अर्थोंमें क्या भेद दीख पडता है?

---

१५ मंडूकप्लुतिसे जो अधिकार चालू होते हैं उनका बीचमें कुछ संबंध ही नहीं होता है । अथवा सर्वत्र संबंध होता है, पर वह नाममात्र ही है, उससे कुछ भी कार्य नहीं होता है । जहॉं कुछ विशेष प्रयत्न किया हुआ दीख पडेगा, वहॉं उसका सबंध कार्यकारी होता है । मंडूकप्लुतिका ही यह एक प्रकार है ऐसा समझा जाय ।

१६ 'अदेङ् गुण ' में । अत यहॉं ' वृद्धि ' पदका केवल संबंध हुआ है, पर वह कार्यकारी न होनेके कारण अ ए, और ओको वृद्धिसंज्ञा नहीं होती है ।

वृद्धिगुणावलोऽन्त्यस्येति चेन्मिदिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणम् ॥ ३ ॥

वृद्धिगुणावलोऽन्त्यस्येति चेन्मिदिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं कर्तव्यम् । मिदेर्गुणः [७.३.८२] इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥ पुगन्तलघूपधस्य गुण इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति । ऋच्छेर्लिटि गुण इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥ ऋदृशोऽङि गुणः [७.४.१६] इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥ क्षिप्रक्षुद्रयोर्गुण इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥

(वा. ३) वृद्धि और गुण अन्त्य इक् वर्णको होते हैं तो मिद्, पुगन्त धातु, ह्रस्व स्वर जिनकी उपधामें हैं ऐसे धातु, ऋच्छ्, दृश्, क्षिप्र और क्षुद्रके संबंधमें (*अर्थात् इनको गुण वा वृद्धि कहनेवाले सूत्रमें*) '*इक्*' *शब्द रखना* पडेगा ।

वृद्धि और गुण अन्त्य इक् वर्णको होता है ऐसा कहा जाय तो[१७] *मिद्, पुगन्त धातु, ह्रस्व स्वर जिनकी उपधामें है ऐसे धातु, ऋच्छ्, दृश्, क्षिप्र, और क्षुद्रके संबंधमें (अर्थात् इनको गुण वा वृद्धि कहनेवाले सूत्रमें) 'इक्' शब्द रखना पड़ेगा ।* उदाहरणार्थ, 'मिदेर्गुणः' (७।३।८२) सूत्रमें '*इकः' पद रखना पड़ेगा । कारण कि (वह न रखा जाय तो) इकार अन्त्यवर्ण न* होनेसे वहाँ (यह प्रस्तुत 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा) नहीं प्राप्त होगी । (अतः वहाँ इकारको गुण नहीं होगा) । [तथा 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) सूत्रमें 'इकः' शब्दका उच्चारण करना पड़ेगा; न उच्चारण किया जाय तो 'ऋ' कार अन्तमें न होनेसे उसको वृद्धि न होगी ।] उसी प्रकार 'पुगन्तलघूपदस्य च' (७।३।८६) सूत्रमें 'इकः' पदका उच्चारण करना पड़ेगा, (न उच्चारण किया जाय तो 'ह्रेपयति', 'सेवति' आदि उदाहरणोंमें इक् वर्ण) अन्तमें न होनेसे (उसको गुण) न होगा । वैसेही 'लिट्' प्रत्यय आगे रहनेपर 'ऋच्छ्' धातुको कहा हुआ गुण (७।४।११) लीजिये । (वहाँ भी) 'इकः' पद रखना पडेगा; कारण कि ('इकः' न रखा जाय तो इक् वर्ण अर्थात् 'ऋ' कार) अन्तमें न होनेसे (उसको गुण) न होगा । उसी प्रकार 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७।४।१६) सूत्र लीजिये । (वहाँ भी) 'इकः' पद रखना पडेगा; कारण कि वहाँ भी 'इक्' वर्ण अर्थात् 'ऋ' कार अन्तमें न होनेसे (उसको गुण) नहीं होगा । तथा 'क्षिप्र' और 'क्षुद्र' को गुण कहनेवाले सूत्रमें भी (६।४।१५६) 'इकः' पद रखना पडेगा । कारण कि (वहाँ भी) 'इक्' वर्ण अन्तमें न होनेसे (उसको गुण नहीं होगा) ।

---

[१७] गुण और वृद्धिके संबंधमें 'इको गुणवृद्धी' सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्रकी शेषपूर्ति है यह पक्ष लिया जाय तो ।

सर्वादेशप्रसङ्गश्चानिगन्तस्य ॥ ४ ॥

सर्वादेशश्च गुणोऽनिगन्तस्य प्राप्नोति । याता वाता । किं कारणम् । अलोऽन्त्यस्येति षष्ठी चैव ह्यन्त्यमिकमुपसंक्रान्ता । अङ्गस्येति च स्थानषष्ठी । तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गं तस्य गुणः सर्वादेशः प्राप्नोति । नैष दोषः । यथैव ह्यलोऽन्त्यस्येति षष्ठ्यन्त्यमिकमुपसंक्रान्तैवमङ्गस्येत्यपि स्थानषष्ठी । तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गं तत्र षष्ठ्येव नास्ति कुतो गुणः कुतः सर्वादेशः ॥ एवं तर्हि नायं दोषसमुच्चयः । किं तर्हि । पूर्वापेक्षोऽयं दोषः । ह्यर्थे चायं चः पठितः । मिदि-

---

(वा. ४) तथा जिस (धातु) के अन्तमें 'इक्' नहीं रहता है उस धातुके बारेमें गुणरूप आदेश पूरे धातुको होने लगेगा।

उसी प्रकार (वृद्धि और गुण अन्त्य 'इक्' को होते हैं ऐसा कहनेपर) जिस (धातु) के अन्तमें 'इक्' नहीं रहता है उस धातुके विषयमें ('सार्वधातुकार्ध०' ७।३।८४—सूत्रसे) गुणरूप आदेश पूरे धातुको होने लगेगा। जैसे, 'याता,' 'वाता' में ('या' और 'वा' को होने लगेगा)।

यह होनेका क्या कारण है?

कारण यों है—'अलः अन्त्यस्य' शब्दोंकी षष्ठीका संबंध 'इकः' शब्दसे होता है (और 'अन्त्य इक्को' यह अर्थ होता है। अतः 'याता' आदि उदाहरणोंमें उन दोनों परिभाषाओंका कोई उपयोग नहीं।) अब 'अंगस्य' षष्ठीका अर्थ है 'स्थान'; इस कारणसे (अंगको गुण होता है यह अर्थ होनेसे) जो अंग इगन्त नहीं उस पूरे अंगको गुण प्राप्त होता है।

यह दोष नहीं आता है। कारण कि जैसे 'अलः,' 'अन्त्यस्य' षष्ठी 'इकः' पदकी ओर गयी वैसे 'अंगस्य' स्थानषष्ठी भी (उन परिभाषाओंके बलपर) 'अन्त्यस्य इकः' इस पदकी ओर ही जाती है। और उससे जो अंग इगन्त नहीं उसके बारेमें षष्ठी ही रहती नहीं; तब उसको कहाँका गुण और कहाँका सर्वादेश?

ठीक, तो ('मिद्' आदि धातुओंको गुण कहनेवाले सूत्रमें इक् पद अधिक रखना और अनिगन्त 'या,' 'वा' इत्यादि धातुओंके विषयमें पूरे धातुको आदेश होना) ये दो भिन्न भिन्न दोष हैं ऐसा हम नहीं कहते।

तो फिर क्या कहते हैं?

हम यों कहते हैं कि 'सर्वादेशप्रसङ्ग०' वार्तिक पूर्ववार्तिकका शेष है। ('मिद्' आदि धातुओंको गुण कहनेवाले सूत्रमें 'इकः' पद रखना पड़ेगा ऐसा जो पूर्ववार्तिकमें कहा है वहाँ 'इकः' पद न रखा जाय तो क्या होगा वह इस वार्तिकमें कहा है। अतः पूर्ववार्तिकमें जो कहा है उसका हेतु अगले वार्तिकमें दिखाया है।) यहाँ 'च' शब्द 'हि' शब्दके अर्थमें प्रयुक्त किया है। (संक्षेपमें) 'मिदि

पुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्येति। मिदेर्गुण इक इति वचनादन्त्यस्य न। अन्त्यस्येति वचनादिको न। उच्यते च गुणः। स सर्वादेशः प्राप्नोति। एवं सर्वत्र॥ अस्तु तर्हि तदपवादः।

इग्मात्रस्येति चेज्जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधः॥५॥

इग्मात्रस्येति चेज्जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्यस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। जुसि गुणः। स यथेह भवति अजुहवुः अबिभयुरिति एवमनेनिजुः पर्यवेविषुः अत्रापि प्राप्नोति॥ सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणः। स यथेह भवति कर्ता हर्ता नयति तरति भवति एवमीहिता ईहितुमित्यत्रापि प्राप्नोति॥ ह्रस्वस्य गुणः

पुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य' (यह एक ही वार्तिक अर्थके बारेमें समझा जाय, और उसका अर्थ यों किया जाय— गुण और वृद्धि अन्त्य इक्‌को किये जाएँ ऐसा दो परिभाषाओंको मिलाकर कहा है।) अतएव 'मिद्' धातुको कहा हुआ गुण प्रकृत परिभाषासे इक्‌को किया जाय ऐसा कहा जानेसे वह अन्त्य व्यञ्जनको नहीं हो सकता है, (और 'अलोन्त्यस्य' परिभाषासे) अन्त्य वर्णको गुण किया जाय ऐसा कहा जानेसे (उपान्त्य) इक्‌को वह नहीं हो सकता है। और मिद् धातुको गुण तो कहा ही गया है, अतः वह पूरे धातुको होगा (उसके सिवा दूसरा मार्ग ही रहता नहीं)। यही प्रकार शेष सभी धातुओंके विषयमें समझा जाय। (ठीक, तो फिर 'तदपवाद' पक्ष लिजिये (अर्थात् 'इको गुणवृद्धी' सूत्र 'अलोन्त्यस्य' सूत्रका अपवाद समझिये)।

(वा. ५) यदि (गुण) केवल इक्‌को हो तो जुस् प्रत्यय, सार्वधातुक प्रत्यय और आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर (कहा हुआ गुण) तथा ह्रस्वको (कहा हुआ गुण) और तदनंतरके सूत्रोंसे (कहा हुआ गुण) इन सब गुणोंको अनन्त्य इक्‌के बारेमें प्रतिषेध करना पडेगा।

यदि (गुण) केवल इक्‌को होता है (वह इक् चाहे अन्तमें हो वा न हो) ऐसा कहा जाय तो जुस् प्रत्यय, सार्वधातुक प्रत्यय और आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर (कहा हुआ गुण ७।३।८३,८४) तथा ह्रस्वको (कहा हुआ गुण–७।३।१०८) और तदनंतरके सूत्रोंसे (कहा हुआ गुण) इन सब गुणोंका अनन्त्य इक्‌के विषयमें प्रतिषेध कहना पडेगा। जुस् प्रत्यय आगे रहनेपर (कहा हुआ) गुण (७।३।८३) लीजिये। वह जैसे 'अजुहवुः', 'अबिभयुः' रूपोंमें होता है वैसे ही वह 'अनेनिजुः', 'पर्यवेविषुः' रूपोंमें भी अनन्त्य इक्‌को होने लगेगा। सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यये आगे रहनेपर (कहा हुआ) गुण (७।३।८४) वह जिस प्रकार 'कर्ता', 'हर्ता', 'नयति', 'तरति', 'भवति', इत्यादि रूपोंमें होता है, उसी प्रकार वह 'ईहिता', 'ईहितुम्' रूपोंमें इक्‌को होने लगेगा। ह्रस्वको कहा हुआ गुण (७।३।१०८)

[७. ३. १०८]। स यथेह भवति हेऽग्ने हे वायो इति एवं हेऽग्निचित् हे सोमसुदित्यत्रापि प्राप्नोति ॥ जसि गुणः । स यथेह भवति अग्नयः वायव इति एवमग्निचितः सोमसुत इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥ ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोर्गुणः । स यथेह भवति कर्तरि कर्तारौ कर्तार इति एवं सुकृति सुकृतौ सुकृत इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥ घेर्ङिति [७. ३. १११] गुणः। स यथेह भवति अग्नये वायवे, एवमग्निचिते सोमसुत इत्यत्रापि प्राप्नोति॥ ओर्गुणः [६. ४. १४६]। स यथेह भवति बाभ्रव्यः माण्डव्य इति एवं सुश्रुत् सौश्रुत इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥ नैष दोषः ।

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थम् ॥ ६ ॥

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थं भविष्यति । पुगन्तलघूपधस्यैवानन्त्यस्य नान्यस्यानन्त्यस्येति ॥ प्रकृतस्यैष नियमः स्यात् । किं च प्रकृतम् । सार्वधातुकार्ध-

---

लीजिये । वह जैसे 'हे अग्ने' 'हे वायो' रूपोंमें होता है, वैसे ही 'हे अग्निचित्', 'हे सोमसुत्' रूपोंमें भी तकारके पिछले इक्को होने लगेगा। 'जस्' प्रत्यय आगे रहनेपर (कहा हुआ) गुण (७।३।१०९) लीजिये। वह जिस प्रकार 'अग्नयः', वायवः' रूपोंमें होता है, उसी प्रकार वह 'अग्निचितः', 'सोमसुतः' रूपोंमें भी इक्को होने लगेगा 'ङि' और सर्वनामस्थान आगे रहनेपर 'ऋ' कारको (कहा हुआ) गुण (७।३।११०) लीजिये। वह जैसे कर्तरि, कर्तारौ, कर्तारः रूपोंमें होता है, वैसेही सुकृति, सुकृतौ, सुकृतः रूपोंमें भी 'ऋ कारको होने लगेगा । तथा 'घि' संज्ञक शब्दको ङित् प्रत्यय आगे रहनेपर (कहा हुआ) गुण (७।३।१११) लीजिये। वह 'अग्नये', 'वायवे' रूपोंमें जैसे होता है, वैसेही 'अग्निचिते', 'सोमसुते' रूपोंमें भी इक्को होने लगेगा। तथा 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) सूत्रसे 'उ' कारको कहा हुआ गुण लीजिये। वह जैसे 'बाभ्रव्य', 'माण्डव्यः' रूपोंमें होता है, वैसेही 'सुश्रुत्', 'सौश्रुतः' रूपोंमें भी होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता है। कारण कि—

(वा. ६) 'पुगन्त' और 'लघूपध' शब्द रखनेका अनन्त्य इक्के बारेमें नियम करनेके लिए उपयोग किया जायगा।

(अन्तमें रहनेवाले या न रहनेवाले सभी इकोंको गुण हो तो गुण कहनेवाले ७।३।८६—सूत्रमें) 'पुगन्त' और 'लघूपध' शब्द रखनेका (अन्य प्रयोजन न रहनेसे उन शब्दोंका गुण कहनेवाले सूत्रमें नीचे दिया हुआ) अन्त्य इक्के बारेमें यों नियम करनेके लिए उपयोग किया जायगा—'यदि अनन्त्य वर्णको गुण प्राप्त हो

धातुकयोरिति । तेन भवेदिह नियमान्न स्यात् ईहिता ईहितुम् ईहितव्यमिति । ह्रस्वाद्योर्गुणस्त्वनियतः सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति । अथाप्येवं नियमः स्यात् । पुगन्तलघूपधस्य सार्वधातुकार्धधातुकयोरेवेति । एवमपि सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणोऽनियतः सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति । ईहिता ईहितुम् ईहितव्यमिति । अथाप्युभयतो नियमः स्यात् । पुगन्तलघूपधस्यैव सार्वधातुकार्धधातुकयोः सार्वधातुकार्धधातुकयोरेव पुगन्तलघूपधस्येति । एवमप्ययं जुसि गुणोऽनियतः सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति । अनेनिजुः पर्यवेविषुरिति ॥ एवं तर्हि नायं तच्छेषो नापि तदपवादः । अन्यदेवेदं परिभाषान्तरमसंबद्धमनया परिभाषया । परिभाषान्तरमिति च मत्वा क्रोष्ट्रीया.

सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर गुण होना यह प्रकृत है। उससे क्या होगा? उदाहरणार्थ, ईहिता, ईहितुम, ईहितव्यम रूपोंमें ('सार्वधातुकार्धधातुकयोः'—७।३।८४ सूत्रसे) प्राप्त गुण ('पुगन्तलघूपधस्य च' यह नियम समझनेसे नहीं होगा। पर ह्रस्व स्वरको और इतरोंको 'ह्रस्वस्य गुण:' (७।३।१०८) इत्यादि सूत्रोंसे जो गुण कहा है उसके संबंधमें नियम लागू न होनेसे वह उपान्त्य इक्को भी होने लगेगा; (और उससे अनेक दोष निर्माण होंगे))।

और 'पुगन्तलघूपधस्य च' नियम 'पुगन्त और लघूपध धातुओंको यदि गुण प्राप्त हो तो सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर ही होता है' इस रूपका किया जाय [illegible] और आर्धधातुक आगे रहनेपर होनेवाला गुण भी नियमित न होगा और वह उपान्त्य [illegible] भी होगा; जसे 'ईहिता', 'ईहितुम', ईहितव्यम्' रूप देखिये।

ठीक, तो (ये दोष टालनेके लिए) [illegible] दोनों बाजूओंसे नियम करके 'यदि सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर [illegible] धातुओंको होता है, औप्त्यको गुण प्राप्त हो) तो वह पुगन्त और लघूपध धातुओंको होता है, और आर्धधातुक पुगन्त और लघूपध धातुओंको गुण प्राप्त हो तो वह सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर ही होता है' ऐसा अर्थ किया तो भी जुस् प्रत्यय आगे रहते [illegible] (७।३।८३) नियमबद्ध नहीं है और वह उपान्त्य इक्को प्राप्त [illegible] ना ही है। उदाहरणार्थ, 'अनेनिजुः', 'पर्यवेविषुः' रूप देखिये।

ठीक, तो प्रस्तुत ('इको गुणवृद्धी' सूत्र 'अलोन्त्य [illegible] सूत्रकी) शेषपूर्ति भी न ली जाय अथवा उसका अपवाद भी [illegible] अन्य ही एक परिभाषासूत्र है, उसका 'अलोन्त्यस्य' इस परि[illegible] संबंध नहीं (ऐसा समझा जाय)। (इस विधानके लिये यह प्र[illegible] सूत्र 'अलोन्त्यस्य' सूत्रसे पूर्णतया भिन्न है ऐसा समझकर [illegible] पड़ा है।

१८. इट नियम ही क्यों किया जाय, विपरीत नियम क्यों [illegible] अभिप्राय है।

पठन्ति । नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेनेति । यदि चायं तच्छेषः स्यात्तेनैव तस्यायुक्तो विप्रतिषेधः । अथापि तदपवाद उत्सर्गापवादयोरप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । तत्र नियमस्यावकाशः । राज्ञः क च [४. २. १४०] राजकीयम् । इको गुणवृद्धी इत्यस्यावकाशः । चयनम् चायकः लवनम् लावकः इति । इहोभयं प्राप्नोति । मेद्यति मार्ष्टीति । इको गुणवृद्धी इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन । नैष युक्तो विप्रतिषेधः । विप्रतिषेधे हि परमित्युच्यते । पूर्वश्चायं योगः परो नियमः । इष्टवाची परशब्दः । विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति । एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः ।

(' अलोन्त्यस्य ' नियमका बाध करके) विप्रतिषेधसे इक् को गुण और वृद्धि होती है । प्रस्तुत सूत्र यदि 'अलोन्त्यस्य' सूत्रकी शेषपूर्ति होती तो (दोनों सूत्र मिलकर मानो एक ही सूत्र होनेके कारण) अपना आपसे विप्रतिषेध (अर्थात् विरोध) होना संभवनीय नहीं । तथा प्रस्तुत सूत्रका ' अलोन्त्यस्य ' सूत्रका अपवाद समझा जाय तो ' अलोन्त्यस्य ' सूत्र उत्सर्ग अर्थात् साधारण सूत्र होनेसे और ' इको गुणवृद्धी ' यह अपवादसूत्र होनेसे (दोनों समबल न होनेके कारण) उनमें विप्रतिषेध अर्थात् विरोध है यह मानना उचित नहीं ।

(अब दोनों सूत्र तुल्यबल दिखाना हो तो दोनोंका ही भिन्न भिन्न चरितार्थ यों बताना चाहिये—) ' राज्ञ. क च ' (४।२।१४०) सूत्रसे सिद्ध ' राजकीय ' रूप लीजिये । यहाँ ' अलोन्त्यस्य ' सूत्रको स्वतंत्र अवसर मिलता है । ' इको गुणवृद्धी ' सूत्रको ' चयनम् ', ' चायक. ', ' लवनम् ', ' लावक. ' रूपोंमें अवसर मिलता है । ' मेद्यति ', ' मार्ष्टि ' उदाहरणोंमें दोनों सूत्र प्राप्त होते हैं और ([illegible]

द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधो न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः। नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः। किं तर्हि। असंभवोऽपि। स चास्त्यत्रासंभवः। कोऽसावसंभवः। इह तावद्वृक्षेभ्यः प्लक्षेभ्य इत्येकः स्थानी द्वावादेशौ। न चास्ति संभवो यदेकस्य स्थानिनो द्वावादेशौ स्याताम्। इहेदानीं मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्तीति द्वौ स्थानिनावेक आदेशः। न चास्ति संभवो यद्द्वयोः स्थानिनोरेक आदेशः स्यादित्येषोऽसंभवः। सत्येतस्मिन्नसंभवे युक्तो विप्रतिषेधः। एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। द्वयोर्हि सावकाशयोः समवस्थितयोर्विप्रतिषेधो भवत्यनवकाशश्चायं

है अर्थात् जो कार्य (हमें) इष्ट है वह होता है' (यह 'विप्रतिषेधे०' सूत्रका अर्थ समझा जाता है।)

यद्यपि यह अर्थ समझा जाय तो भी यहाँ 'विप्रतिषेध' है यह विधान उचित नहीं। कारण कि विप्रतिषेध अर्थात् एकके साथ दो कार्योंका योग; और यहाँ तो दो दो कार्य जिसके हैं ऐसा एक स्थानी दीख ही नहीं पड़ता।

'एकके दो कार्य होना' यह एक ही अर्थ विप्रतिषेध शब्दका है सो बात नहीं; तो '(दो शास्त्र एक उदाहरणमें प्रवृत्त होते हुए उनका) असंभव (अर्थात् उन दोनोंके द्वारा बतायी गयी बातोंका एक ही समय स्वीकार न करना' यह) भी (विप्रतिषेध शब्दका अर्थ है)। इस प्रकारका असंभव प्रस्तुत उदाहरणमें दीख पड़ता है।

यहाँ वह असंभव कौनसा?

यहाँ 'वृक्षेभ्यः', 'प्लक्षेभ्यः' उदाहरणोंमें 'अ' कार एक ही स्थानी है और उसको 'आ' कार (७।३।१०२) और 'ए' कार (७।३।१०३) ये दो आदेश प्राप्त होते हैं। एक ही स्थानीको एक ही समय दो आदेश होना संभवनीय नहीं। मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति इन प्रस्तुत उदाहरणोंमें (इकार और दकार) इन दो स्थानियोंको एक ही समय एक ही आदेश (गुण) प्राप्त होता है; और दो स्थानियोंको एक ही समय एक ही आदेश प्राप्त होना संभवनीय नहीं। इस प्रकारका असंभव प्रस्तुत सूत्रमें है और असंभव होनेसे यहाँ विप्रतिषेध लेना उचित ही है।

ऐसा यद्यपि हो तो भी यहाँ विप्रतिषेध समझना उचित नहीं होता है। कारण कि जिनके बारेमें स्वतंत्र उदाहरण पाये जाते हैं ऐसे दो कार्य (एक ही समय एक ही स्थानपर) प्रवृत्त होनेपर विप्रतिषेध होता है। प्रस्तुत सूत्रके बारेमें स्वतंत्र उदाहरण नहीं बताया जा सकता।

---

२१. तो 'मेद्यति' में गुणरूपी एक कार्यके इकार और दकार ये दो स्थानी हैं।

योगः । ननु चेदानीमेवास्यावकाशः प्रक्लृप्तः । चयनम् चायकः लवनम् लावक इति । अत्रापि नियमः प्राप्नोति । यावता नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते-ऽतस्तदपवादोऽयं योगो भवति । उत्सर्गापवादयोश्चायुक्तो विप्रतिषेधः । अथापि कथंचिदिको गुणवृद्धी इत्यस्यावकाशः स्यादेवमपि यथेह विप्रतिषेधादिको गुणो भवति मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति एवमिहापि स्यात् अनेनिजुः पर्यवेविषुरिति ॥ एवं तर्हि वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति यत्र ब्रूयादिक इत्येतत्तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । किं कृतं भवति । द्वितीया षष्ठी प्रादुर्भाव्यते । तत्र कामचारो गृह्यमाणेन चेकं विशेषयि-

---

पर अभी प्रस्तुत सूत्रके स्वतंत्र उदाहरण 'चयनम्', 'चायकः', 'लवनम्', 'लावकः' इत्यादि बताये गये हैं न ?

यहाँ भी ('अलोऽन्त्यस्य'—१।१।५२) इस नियमसूत्रकी प्राप्ति है ही[22]। और जब कि (प्रकृत 'इको गुणवृद्धी' सूत्र जहाँ जहाँ लागू होता है वहाँ वहाँ 'अलोऽन्त्यस्य') नियमसूत्र प्राप्त होता ही है, (कहीं भी नहीं ऐसा नहीं,) ऐसा होते हुए भी आचार्य पाणिनिने इस सूत्रकी रचना की है, तब यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्रका अपवादसूत्र ही होता है; और उत्सर्ग-सूत्र और अपवादसूत्र इन दोनोंमें विप्रतिषेध (मानना) उचित नहीं। ठीक, तो मान लीजिये, यद्यपि किसी तरह 'इको गुणवृद्धी' सूत्रका स्वतंत्र उदाहरण बताया जाय तो 'मेद्यति', 'मेद्यतः', 'मेद्यन्ति' उदाहरणोंमें विप्रतिषेधसे 'इको गुणवृद्धी' सूत्र लागू होकर ('मिदेर्गुणः'—७।३।८२—सूत्रसे) इक्‌को गुण होता है तथा 'अनेनिजुः', 'पर्यवेविषुः' रूपोंमें ('जुसि च'—७।३।८३— सूत्रसे) गुण होने लगेगा (और ये रूप दूषित होंगे)।

ठीक, तो 'जहाँ वृद्धि होती है, गुण होता है ऐसा बोला जाय वहाँ 'इकः' (अर्थात् 'इक्‌को') यह पद उपस्थित होता है' ऐसा इस प्रस्तुत सूत्रका अर्थ किया जाय।

यह अर्थ करनेसे क्या किया जाता है ?

(गुण और वृद्धि कहनेवाले शास्त्रोंमें एक षष्ठ्यन्त शब्द मूलसे रहता ही है, वहाँ उसके साथ 'इकः' यह) दूसरा षष्ठ्यन्त शब्द (इस परिभाषाके कारण) लिया जाता है; और (अर्थ करते समय) इच्छाके अनुसार सूत्रमें प्रत्यक्ष उच्चारित शब्द 'इकः' पदका विशेषण किया जाता है अथवा 'इकः' शब्द सूत्रमें उच्चारित

---

२२. उसका उपयोग चाहे हो वा न हो, 'चयनम्' आदि उदाहरणोंमें गुण आदि कर्तव्य होनेपर 'अलोऽन्त्यस्य' की प्राप्ति हमेशा होती है।

२३. 'चयनम्' में गुण कर्तव्य होनेपर 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषाकी प्राप्ति होती है सही, पर यहाँ उसका कुछ भी उपयोग न होनेसे उसकी गणना नहीं की जा सकती है यह अभिप्राय है।

तुमिका वा गृह्यमाणम्। यावता कामचार इह तावन्मिदिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेषु गृह्यमाणेनेकं विशेषयिष्यामः। एतेषां य इगिति। इहेदानीं जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्विका गृह्यमाणं विशेषयिष्यामः। एतेषां गुणो भवतीकः। इगन्तानामिति॥ अथवा सर्वत्रैवात्र स्थानी निर्दिश्यते। इह तावन्मिदेरित्यविभक्तिको निर्देशः। मिद एः मिदेः मिदेरिति। अथवा षष्ठीसमासो भविष्यति। मिद इः मिदिः मिदेरिति॥ पुगन्तलघूपधस्येति नैवं विज्ञायते पुगन्तस्याङ्गस्य लघूपधस्य चेति। कथं तर्हि। पुक्यन्तः पुगन्तः। लघ्व्युपधा लघूपधा। पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधं पुगन्तलघूपधस्येति। अवश्यं चैतदेव विज्ञेयम्। अङ्ग-

---

शब्दका विशेषण किया जाता है। इच्छाके अनुसार (दोनों रीतियोंमेंसे एक रीतिका स्वीकार करना पड़नेसे) यहाँ मिद्, पुगन्त धातु, लघूपध धातु, ऋच्छ, दृश् क्षिप्र और क्षुद्रको गुण और वृद्धि कहनेवाले सूत्रोंमें जिनका गुण वा वृद्धि कही है उन शब्दोंको 'इकः' शब्दके विशेषण करेंगे और 'उनका जो इक् उसको' यह अर्थ करेंगे। यहाँ अब जुस्, सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर गुण कहनेवाले (७।३।८६) सूत्रमें तथा ह्रस्व आदिको गुण कहनेवाले (७।३।१०८) सूत्रमें 'इकः' शब्दको जिनका गुण कहा है उन शब्दोंका विशेषण करेंगे और 'इक् अर्थात् इगन्त धातुओं और शब्दोंको गुण होता है' यह अर्थ करेंगे।

अथवा (दूसरा उपाय यह है कि) उपर्युक्त सभी उदाहरणोंमें (जिसको गुण वा वृद्धि होनी चाहिये वह) स्थानी उस सूत्रमें ही निर्दिष्ट किया गया है (ऐसा समझा जाय), (इससे कुछ भी दोष नहीं रहेगा)। इसका स्पष्टीकरण यों है—उदाहरणके लिए 'मिदेर्गुणः'—७।३।८२—सूत्र लीजिये।) यहाँ 'मिद्' धातु षष्ठी विभक्ति लगाये बिना उच्चारित है अर्थात् 'मिदेः' में 'मिद्' और 'एः' ये (दो पद) हैं। अथवा ('मिदेः' यह) षष्ठीतत्पुरुष समास होगा अर्थात् मिद् का जो इ वह मिदि है और उस मिदिको (*गुण होता है*)।

तथा 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) सूत्र लीजिये। उसका अर्थ *यों नहीं करना चाहिये कि पुगन्त और लघूपध अङ्गको गुण होता है।*

तो फिर अर्थ कैसे करना चाहिये?

'पुगन्त' अर्थात् 'पुक्' आगे रहनेपर जो अन्त अर्थात् पिछला अन्त्य वर्ण, और 'लघूपधा' अर्थात् लघु उपधा। 'पुगन्तलघूपध' समाहारद्वंद्व समास लेके पुक् आगे रहनेपर अन्त्य वर्णको (इग्रूप वर्णको) तथा लघु उपधाको (सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर गुण होता है यह अर्थ करना चाहिये)। और

---

२४. 'ए' यह इकारकी षष्ठी है। उसके साथ 'मिद्' का अन्वय करके 'मिद् धातुका अवयव जो इकार है उसको यह अर्थ किया जा सकता है।

विशेषणे हि सतीह प्रसज्येत भिनत्ति छिनत्तीति ॥ ऋच्छेरपि प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम् । ऋच्छति ऋ ऋ ऋताम् ऋच्छत्यृतामिति ॥ दृशेरपि योगविभागः करिष्यते । उरड्डि गुणः । उरड्डि गुणो भवति । ततो दृशेः । दृशेश्चाड्डि गुणो भवति । उरित्येव ॥ क्षिप्रक्षुद्रयोरपि यणादिपरं गुण इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनमिको यथा स्यादनिको मा भूदिति ॥

वस्तुतः यही अर्थ अवश्य करना चाहिये। कारण कि (पुगन्त और लघूपध ये शब्द) अङ्गके विशेषण किये जायँ तो 'भिनत्ति', 'छिनत्ति' इत्यादि रूपोंमें भी (गुण) होने लगेगा। तथा 'ऋच्छत्यृताम्' (७।४।११) सूत्रमें भी ऋकारका प्रश्लेष करनेके लिए उस सूत्रके 'ऋच्छति, ऋ ऋ ऋताम्' ये पदें समझे जायँ। दृश् धातुको होनेवाले गुणके संबंधमें (प्रबंध करनेके लिए 'ऋदृशोऽङ्डि गुणः'—७।४।१६—इस एक सूत्रके) दो सूत्र करेंगे। पहला सूत्र 'उरँङि गुणः' करके उसका अर्थ 'ऋकारान्त धातुको अङ् प्रत्यय आगे रहनेपर गुण होता है' यह करेंगे। तदनन्तर 'दृशेः' यह दूसरा सूत्र करेंगे और उस 'दृशेः' सूत्रमें पूर्वसूत्रका 'उः' पद अनुवृत्त होगा ही। अतः 'दृश्' धातुके ऋकारको अङ् प्रत्यय आगे रहनेपर गुण होता है (यह अर्थ होगा)। 'क्षिप्र' और 'क्षुद्र' शब्दोंके बारेमें (यह बताया जा सकता है कि उनको गुण कहनेवाले 'स्थूलदूर०' ६।४।१५१—सूत्रमें) 'यणादिपर गुणः' इतने ही शब्दोंका उच्चारण करके इष्टसिद्धि होनेपर भी (आचार्य पाणिनि) जो 'पूर्वस्य' शब्द सूत्रमें रखते हैं वह शब्द रखनेका उपयोग यह है कि 'इक्को गुण हो, इक्के सिवा अन्य किसीको न हो।'[२७]

---

२५. 'ऋच्छति' पदका 'ऋ' इस पहले वर्णके साथ षष्ठीतत्पुरुष करके उस 'ऋच्छत्यृ' शब्दका ऋ और ऋत् के साथ द्वंद्व समास किया जाय, इससे 'ऋच्छति' का जो ऋकार है उसको गुण होगा।

२६. उ. और अङ्डि ये पद हैं। 'उ' पद 'ऋ' वर्णकी षष्ठी है।

२७ 'स्थूलदूर०' इस एक सूत्रके दो सूत्र किये जायँ—(१) 'स्थूलदूरयुवह्रस्वानां यणादिपरम्' और (२) 'क्षिप्रक्षुद्रयोः पूर्वस्य च गुणः'। स्थूल, दूर और युव इन तीन शब्दोंमेंके यणादिपर ल, र और व इस भागका लोप होनेपर पिछले उकारको 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) सूत्रसे गुण होगा। ह्रस्व शब्दको गुण आवश्यक ही नहीं। 'यणादिपर' शब्दका अर्थ यों है—'यण्के आगे जो आदि अर्थात् पिछला वर्ण है उसके आगे पर जो भाग है'। 'क्षिप्र' और 'क्षुद्र' इन शब्दोंमेंके यण्के अर्थात् रेफके पिछले वर्ण पकार और दकारके अगले भागका अर्थात् 'र' अक्षरका लोप होके, और उस पकार और दकारके पूर्वके वर्णको गुण होकर क्षेपिष्ठ और क्षोदिष्ठ ये रूप सिद्ध होंगे।

अथ वृद्धिग्रहणं किमर्थम्। किं विशेषेण वृद्धिग्रहणं चोद्यते न पुनर्गुणग्रहणमपि। यदि किंचिद्गुणग्रहणस्य प्रयोजनमस्ति वृद्धिग्रहणस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः। अयमस्ति विशेषः। गुणविधौ न क्वचित्स्थानी निर्दिश्यते। तत्रावश्यं स्थानिनिर्देशार्थं गुणग्रहणं कर्तव्यम्। वृद्धिविधौ पुनः सर्वत्रैव स्थानी निर्दिश्यते॥ अचो ञ्णिति [७ २.११५]। अत उपधायाः [११६]। तद्धितेष्वचामादेः [११७] इति॥ अत उत्तरं पठति।

वृद्धिग्रहणमुत्तरार्थम्॥ ७॥

वृद्धिग्रहणं क्रियत उत्तरार्थम्। क्ङिति [१ १.५] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति स वृद्धेरपि यथा स्यात्। कश्चेदानीं क्ङित्प्रत्ययेषु वृद्धेः प्रसङ्गो यावता ञ्णितीत्युच्यते। तच्च मृज्यर्थम्। मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते सा क्ङिति मा भूत्।

ठीक। प्रस्तुत सूत्रमें 'वृद्धि' शब्द किसलिए रखा है?

विशेषतः 'वृद्धि' शब्दके संबंधमेंही क्यों पृच्छा की जा रही है? 'गुण' शब्दके विषयमें क्यों नहीं? यदि 'गुण' शब्द रखनेका कुछ विशेष उपयोग हो तो 'वृद्धि' शब्द रखनेका भी वही उपयोग होना उचित है। दोनोंमें भेद तो क्या है?

(है तो!) आगे दिया हुआ यह भेद है। गुण कहनेवाले सूत्रोंमें कुछ स्थलोंपर (७।३।८३, ८४) स्थानीका निर्देश नहीं किया है, अतः (जिस सूत्रमें स्थानी नहीं कहा है) वहाँ 'इक्' को स्थानी समझनेके लिए ('इको गुणवृद्धी' सूत्रका 'इको गुण.' भाग आवश्यक है। अर्थात्) 'गुण' शब्द रखना आवश्यक है। पर जिन सूत्रोंमें वृद्धि कही है उन सभी सूत्रोंमें, उदाहरणार्थ 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५), 'अत उपधायाः' (७।२।११६), 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) इत्यादि सूत्रोंमें (अमुकको वृद्धि होती है इस तरह) स्थानीका निर्देश किया गया है। (इससे 'इको गुणवृद्धी' सूत्रमें 'वृद्धि' शब्दका उपयोग नहीं।)

यह सब ध्यानमें लेके उत्तर देनेके लिए वार्तिककार वार्तिक पढते हैं—

(वा. ७) (प्रस्तुत सूत्रमें) 'वृद्धि' शब्दका उच्चारण अगले सूत्रके लिए (किया है)।

प्रस्तुत सूत्रमें 'वृद्धि' शब्द अगले सूत्रके लिए रखा गया है। अगला सूत्र 'क्ङिति च' (१।१।५) है। उसमें निषेध कहना है वह वृद्धिका भी हो इसलिए।

पर ञकार अथवा णकार जिसका इत् है ऐसाही प्रत्यय आगे रहनेपर (वृद्धि) कही है (७।२।११५–११७)। अतः ककार अथवा ङकार जिसका इत् है ऐसा प्रत्यय आगे रहनेपर वृद्धि होना संभवनीय ही कैसे (कि जिसका प्रतिषेध अगले सूत्रमें करना पड़ेगा)?

प्रतिषेध करना 'मृज्' धातुके लिए उपयुक्त है। मृज् धातुको जो वृद्धि बतायी है (७।२।११४) वह (वृद्धिका) विशिष्ट निमित्त उच्चारण करके नहीं बतायी

मृष्टः मृष्टवानिति । इहार्थं चापि मृज्यर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम् । मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते सेको यथा स्यादनिको मा भूदिति ।

मृज्यर्थमिति चेद्योगविभागात्सिद्धम् ॥ ८ ॥

मृज्यर्थमिति चेद्योगविभागः करिष्यते । मृजेर्वृद्धिरचः । ततो ञ्णिति । ञिति णिति च वृद्धिर्भवति । अच इत्येव । यद्यचो वृद्धिरुच्यते न्यमार्ट् अटोऽपि वृद्धिः प्राप्नोति ।

अटि चोक्तम् ॥ ९ ॥

किमुक्तम् । अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवतीति ॥

है; वह, ककार या ङकार जिसका इत् है ऐसा प्रत्यय आगे रहनेपर भी, उदा० मृष्ट, मृष्टवान् रूपोंमें भी, होने लगेगी। वहाँ वह न हो (इसलिए प्रस्तुत सूत्रमें 'वृद्धि' शब्द रखना चाहिये)। (और इसके अतिरिक्त अगले सूत्रके लिए क्यों ?) इस प्रस्तुत सूत्रमें भी 'मृज्' धातुके लिए 'वृद्धि' शब्द अवश्य रखना चाहिये। अर्थात् मृज् धातुको (वृद्धिका) विशिष्ट स्थानी दिखाये बिना वृद्धि कही है, वह (मार्ष्टि आदि रूपोंमें) इक्को ही होनी चाहिये, इक्के अतिरिक्त अन्य किसीको न हो।

(वा. ८) यदि 'मृज्' धातुके लिए ('वृद्धि' शब्द आवश्यक है) ऐसा कहा जाय तो सूत्रविभागसे इष्ट कार्य सिद्ध होगा।

मृज् धातुके लिये ही (प्रस्तुत सूत्रमें 'वृद्धि' शब्द रखना आवश्यक है।) ऐसा हो तो सूत्रोंका विभाग अन्य प्रकार करनेसे इष्ट कार्य सिद्ध होगा। 'अचोञ्णिति' सूत्रके दो भाग हम करेंगे और (उनमेंसे पहला भाग पिछले सूत्रके साथ जोड़कर) 'मृजेर्वृद्धिरचः' यह एक सूत्र होगा और 'ञ्णिति' यह दूसरा सूत्र होगा। (पहले सूत्रसे मृज् धातुके अच्को अर्थात् ऋकारको ही वृद्धि होगी और दूसरे सूत्रसे) ञित् अथवा णित् प्रत्यय आगे रहनेपर जो वृद्धि हम कहेंगे, वहाँ ('अच.' पद पिछले सूत्रसे लाकर) अच्को ही वृद्धि करेंगे।

यदि मृज् धातुके अच्को (अर्थात् स्वरको) वृद्धि कही जाय तो 'न्यमार्ट्' में अडागमके (६।४।७१) अकारको भी वह होने लगेगी।

(वा. ९) अडागमके विषयमें (अर्थात् अडागमको वृद्धि न होनेका उपाय) कहा ही है।

क्या उपाय कहा है ?

उपाय यह है कि—अन्त्य वर्णके निकटके और दूरके इन दो वर्णोंको कोई कार्य एक ही समय प्राप्त हो तो अन्त्यके निकटके वर्णको ही वह होता है, (दूरके वर्णको होता नहीं)। — (इस साधारण नियमका अवलंब करना।)

---

२८. यह नियम 'स्थाने ऽन्तरतमः' (१।१।५०) में कहा है।

वृद्धिप्रतिषेधानुपपत्तिस्त्विक्प्रकरणात् ॥ १० ॥

वृद्धेस्तु प्रतिषेधो नोपपद्यते। किं कारणम्। इक्प्रकरणात्। इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधो न चैवं सति मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिर्भवति। तस्मान्मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिरेषितव्या॥

एवं तर्हीहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते। परिमृजन्ति परिमार्जन्ति। परिमृजन्तु परिमार्जन्तु। परिममृजतुः परिममार्जतुरित्याद्यर्थम्। तदिहापि साध्यम्। तस्मिन्साध्ये योगविभागः करिष्यते। मृजेर्वृद्धिरचो भवति। ततोऽचि क्ङिति। अजादौ च क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति। परिमार्जन्ति

(वा. १०) (' मृज् ' धातुकी वृद्धिके बारेमें) वृद्धिका प्रतिषेध उपपन्न नहीं हो सकता है, कारण कि इक्का प्रकरण चल रहा है।

पर ' मृज् ' धातुके संबंधमें वृद्धिका प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

क्यों ?

क्योंकि इक्का प्रकरण चल रहा है। इक्को कहे हुए गुण और वृद्धिका प्रतिषेध ' क्ङिति च ' आदि सूत्रोंमें[२९] बताया है। ऊपर बताये गये (' अचो ञ्णिति ' सूत्रका योगविभाग करके अच्को वृद्धि कहना आदि उपाय प्रयुक्त किये जानेपर) मृज् धातुको कही गयी वृद्धि इक्को कही है ऐसा नहीं कहा जा सकता (और उससे उसका प्रतिषेध भी नहीं होगा।) वह निषेध होनेके लिए ' मृज् धातुको होनेवाली वृद्धि ' ' इक्को ही कही है ' इस रूपकी की जाय (और उसके लिए प्रस्तुत ' इको गुणवृद्धी ' सूत्रमें ' वृद्धि ' पद रखा जाय)।

ठीक, पर ऐसा कहा जाय तो (हम यों उत्तर देंगे)—यहाँ अन्य कोई व्याकरणकार मृज् धातुको अच् जिसके आरंभमें है ऐसा जो संक्रम अर्थात् कित् वा ङित् प्रत्यय वह आगे रहनेपर विकल्पसे वृद्धि करते हैं और ' परिमृजन्ति ', ' परिमार्जन्ति ', ' परिमृजन्तु ', ' परिमार्जन्तु ', ' परिममृजतुः ', ' परिममार्जतुः ' इत्यादि रूप सिद्ध करते हैं। ये रूप हमको भी सिद्ध करने चाहिये। वे सिद्ध होनेके लिए हम यों योगविभाग करेंगे—' मृजेर्वृद्धिरचः ' यह एक सूत्र होगा, उसके बाद ' अचि क्ङिति ' इतना ही सूत्र किया जायगा। और ' अजादि कित् वा ङित् प्रत्यय आगे होनेपर मृज् धातुको वृद्धि होती है ' यह अर्थ करेंगे और उससे ' परिमार्जन्ति ', ' परिमार्जन्तु ' (इत्यादि उदाहरण सिद्ध करेंगे)।

---

२९. यह न माना जाय तो ' लैगवायन ' यह शब्द सिद्ध नहीं होगा। ' लिगु ' शब्दके आगे फक् प्रत्यय, उसमेंके फकारको आयन् आदेश (७।१।२), उकारको गुण (६।४।१४६), उसको अव् आदेश (६।१।७८) और इकारको वृद्धि (७।२।११८) होकर लैगवायन शब्द सिद्ध होता है। वहाँ गुणका निषेध होने लगेगा।

परिमार्जन्तु । किमर्थमिदम् । नियमार्थम् । अजादावेव क्ङिति नान्यत्र । क्वान्यत्र मा भूत् । मृष्टः मृष्टवानिति । ततो वा । वाचि क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति । परिमृजन्ति परिमार्जन्ति । परिममृजतुः परिममार्जतुरिति ॥ इहार्थमेव तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम् । सिचि वृद्धिरविशेषेणोच्यते सेको यथा स्यादनिको मा भूदिति । कस्य पुनरनिकः प्राप्नोति । अकारस्य । अचिकीर्षीत् अजिहीर्षीत् । नैतदस्ति । लोपोऽत्र बाधको भविष्यति ॥ आकारस्य तर्हि प्राप्नोति । अयासीत् अवासीत् ।

यह ('अचि विङति' सूत्र) किसलिए (किया जाय)? (क्या 'मृजेर्वृद्धिरचः' सूत्रसे इष्टसिद्धि नहीं होती?)

(इष्ट कार्य सिद्ध होता है; फिर भी विशेष हेतुसे वह सूत्र किया जाय और) उससे यों नियम समझा जाय—(कित् वा ङित् प्रत्यय आगे रहनेपर यदि वृद्धि हो तो) वह अजादि कित् वा ङित् प्रत्यय आगे रहनेपर होती है, अन्यत्र (अर्थात् अन्य कित् वा ङित् प्रत्यय आगे रहनेपर) नहीं होती है।

अन्यत्र कहाँ कहाँ वह न हो?

'मृष्टः', 'मृष्टवान्' इत्यादि रूपोंमें (वह न हो)।

इस ('अचि क्ङिति' सूत्र) के पश्चात् 'वा' (यह सूत्र हम करेंगे), और 'अजादि कित् अथवा ङित् प्रत्यय आगे रहनेपर विकल्पसे वृद्धि होती है' (ऐसा उसका अर्थ करेंगे); और 'परिमृजन्ति', 'परिमार्जन्ति', 'परिममृजतुः', 'परिममार्जतुः' (ये रूप सिद्ध करेंगे)।

ठीक, (इतना प्रयास करके मृज् धातुके बारेमें यद्यपि दोष दूर किया जाय) तो भी (अगले प्रयोजनके लिए अर्थात्) सिच् प्रत्यय आगे रहनेपर (कही गयी वृद्धि—७।२।१—इक्की होनेके लिए) प्रस्तुत सूत्रमें 'वृद्धि' पद रखना चाहिये; इससे 'अमुक वर्णको' ऐसा विशेष उल्लेख न करके सामान्यतः सिच् आगे रहनेपर जो वृद्धि बतायी है वह इक्को होगी, इक्के सिवा अन्य स्वरको न होगी।

पर किस अन्य स्वरको वह प्राप्त होगी?

'अ' कारको; जैसे,[३०] 'अचिकीर्षीत्', 'अजिहीर्षीत्' रूप देखिये।

यहाँ यह (अर्थात् 'अ' कारको वृद्धि होनेका संभव ही) नहीं; कारण कि ('अ' कारका) लोप (६।४।४८) उसका बाध करेगा।

ठीक, तो 'आ' कारको वृद्धि होने लगेगी; उदाहरणार्थ, 'अयासीत्', 'अवासीत्' रूप देखिये।

३०. कृ और हृ इन धातुओंके आगे सन् प्रत्यय (३।१।७) लगाकर चिकीर्ष, जिहीर्ष ये अकारान्त धातु (३।१।३२) होते हैं। उनके ये लुङ् प्रत्ययके रूप हैं।

नास्त्यत्र विशेषः सत्यां वृद्धावसत्यां वा ॥ संध्यक्षरस्य तर्हि प्राप्नोति। नैव संध्यक्षरमन्त्यमस्ति। ननु चेदमस्ति ढलोपे कृत उदवोढाम् उदवोढम् उदवोढेति। नैतदस्ति। असिद्धो ढलोपस्तस्यासिद्धत्वान्नैतदन्त्यं भवति ॥ व्यञ्जनस्य तर्हि प्राप्नोति। अभैत्सीत् अच्छैत्सीत्। हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका भविष्यति ॥ यत्र तर्हि सा प्रतिषिध्यते। अकोषीत् अमोषीत्। सिचि वृद्धेरप्येष प्रतिषेधः। कथम्।

यहाँ वृद्धि हो वा न हो, उससे रूपमें कोई भी भेद नहीं होता है।

तो संध्यक्षरको वृद्धि होने लगेगी।

(यह संभवनीय ही नहीं, कारण कि सिच् प्रत्यय आगे रहनेपर अंगके) अन्तमें संध्यक्षर कभी नहीं पाया जाता है।

क्यों? ढकारका लोप किया जानेपर 'उदवोढाम्'[31], 'उदवोढम्', 'उदवोढ' (इत्यादि उदाहरणोंमें संध्यक्षर 'ओ' कार पाया जाता है)।

सो बात नहीं। प्रथम ढकारका जो लोप (हुआ वह वृद्धि—७।२।१—की दृष्टिसे असिद्ध—८।२।१—है।) वह असिद्ध होनेसे 'ओ' कार अन्त्य नहीं कहा जाता है।

ठीक, तो व्यञ्जनको वृद्धि होने लगेगी। 'अभैत्सीत्'[32], 'अच्छैत्सीत्' (रूप देखिये)।

(यहाँ भी व्यञ्जनको वृद्धि नहीं होगी। क्योंकि) 'वदव्रजहलन्तस्याचः' (७।२।३) यह वृद्धि उसका बाध करेगी।

ठीक, पर जहाँ ('वदव्रज०—७।२।३—इस वृद्धिका 'नेटि'—७।२।४—सूत्रसे) निषेध किया जाता है वहाँ अर्थात् 'अकोषीत्'[33], 'अमोषीत्' इत्यादि रूपोंमें ('सिचि वृद्धि०'—७।२।१—सूत्रसे) षकारको वृद्धि होगी।

(नहीं होगी; कारण कि 'नेटि'—७।२।४—सूत्रसे जो निषेध कहा है वह जैसे 'वदव्रज०'—७।२।३—इस वृद्धिका है, वैसे ही) वह निषेध 'सिचि वृद्धि०'

---

३१. 'उत्' उपसर्ग है और 'अवोढाम्' क्रियापद है। वह् धातु, उसके आगे लुङ् प्रत्यय (३।२।११०), उसके स्थानमें प्रथम पुरुषके द्विवचनका तस् प्रत्यय (३।४।७८), उसको ताम् आदेश (३।४।१०१), बीचमें च्लि प्रत्यय (३।१।४३), उसको सिच् आदेश (३।१।४४), पीछे अट् आगम (६।४।७१), सिच् प्रत्ययका लोप (८।२।२६), हकारको ढकार (८।२।३१), प्रत्ययके तकारको धकार (८।२।४०), उसको ष्टुत्वसे ढकार (८।४।४१), पूर्व ढकारका लोप (८।३।१३), धातुमेंके अकारको ओकार (६।३।११२) होकर अवोढाम् रूप सिद्ध होता है। 'उदवोढम्' मध्यमपुरुष द्विवचनका रूप है और 'उदवोढ' मध्यमपुरुष बहुवचनका रूप है।

३२. भिद् और छिद् धातुओंके लुङ्के ये क्रियापद हैं। ये धातु अनिट् होनेके कारण यहाँ सिच् प्रत्ययको इट् आगम हुआ है।

३३ कुष् और मुष् धातु सेट् होनेके कारण यहाँ सिच् प्रत्ययको इट् आगम हुआ है।

लक्षणं हि नाम ध्वनति भ्रमति मुहूर्तमपि नावतिष्ठते। अथवा सिचि वृद्धिः
परस्मैपदेष्विति सिचि वृद्धिः प्राप्नोति। तस्या हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका। तस्या
अपि नेटीति प्रतिषेधः। अस्ति पुनः क्वचिदन्यत्राप्यपवादे प्रतिषिद्ध उत्सर्गोऽपि
न भवति। अस्तीत्याह। सुजाते अश्वसूनृते। अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते
अन्यदिति। पूर्वरूपत्वे प्रतिषिद्धेऽयादयोऽपि न भवन्ति॥
उत्तरार्थमेव तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। सिचि वृद्धिरविशेषेणोच्यते

(७।२।१) इस सूत्रसे भी कही हुई वृद्धिका ही है।

सो कैसे?

कारण कि शास्त्र सर्वदा गुनगुन शब्द करते[१४] घूमता है; वह एक स्थानपर थोड़े समय तक भी स्थिर नहीं रहता है। अथवा (दूसरी रीतिका भी अवलंब किया जा सकता है)—पहले 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्रसे ('अकोषीत,' 'अमोषीत' रूपोंमें) वृद्धि प्राप्त होती है; हलन्त धातुको जो 'वदव्रज०' वृद्धि कही है वह उसका बाध करती है, और उसका भी 'नेटि' सूत्रसे प्रतिषेध होता है। (तो भी 'सिचि वृद्धिः' इस उत्सर्गशास्त्रका 'वदव्रज०' इस अपवादशास्त्रसे बाध हुआ वह क़ायम ही है।)

ठीक, पर अपवादका निषेध होनेपर उत्सर्गसूत्र फिरसे प्रवृत्त नहीं होता है इसके विषयमें अन्यत्र कहीं प्रमाण है क्या?

'है तो' ऐसा हम कहेंगे। 'सुजाते अश्वसूनृते,' 'अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम,' 'शुक्रं ते अन्यत्' ये उदाहरण देखिये। (यहाँ अय् आदि आदेशोंका—६।१।७८—अपवाद जो पूर्वरूप है—६।१।१०९—उस) पूर्वरूपका बाध (६।१।११५) होनेपर यद्यपि अय् आदि आदेश प्राप्त हों तो भी वे नहीं होते है।

ठीक। ('सिचि वृद्धिः०' सूत्रसे इक्को वृद्धि होनेके लिए यद्यपि प्रस्तुत सूत्रमें 'वृद्धि' पद उपयुक्त है यह नहीं कहा जा सकता है तो भी) उसी 'सिचि वृद्धिः०' सूत्रमें 'इकः' पद उपस्थित होनेके लिए प्रस्तुत सूत्रमें 'वृद्धि' शब्द रखना आवश्यक है; (इससे वह वृद्धि इक्को कही है ऐसा होगा)। और वैसा हो तो 'क्ङिति च'

---

१४. जिस प्रकार कोई राक्षस चिल्लाता हुआ घूमता है और घूमते समय कुछ भक्ष्य खोजता है, पर चिल्लानेमें स्पष्ट शब्द न होनेके कारण 'उसको अमुक भक्ष्य चाहिये' यह समझमें नहीं आता है, उसी प्रकार 'नेटि' यह वृद्धिनिषेधशास्त्र वृद्धिको खोजता हुआ घूमता है और उसके गुनगुनशब्दमात्रसे यह समझमें नहीं आता कि उसको 'अमुक ही वृद्धि' चाहिये। जो वृद्धि प्राप्त होती है उसको वह पकड़ेगा ही; केवल एक ही वृद्धिको पकड़े नहीं बैठेगा। घूमनेसे अन्य वृद्धिको भी वह पकड़ेगा ही। एक वृद्धिको पकड़नेमें समय लगनेसे अन्य वृद्धि छूट जायगी सो बात भी नहीं, कारण कि उसको बिलकुल समय नहीं लगता है।

सा क्ङिति मा भूत्। न्यनुवीत् न्यधुवीत्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। अन्तरङ्गत्वादत्रो-वङादेशे कृतेऽनन्त्यत्वाद्वृद्धिर्न भविष्यति॥ यदि तर्हि सिच्यन्तरङ्गं भवति अकार्षीत् अहार्षीत् गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वाद्वृद्धिर्न प्राप्नोति। मा भूदेवम्। हलन्तस्येत्येवं भविष्यति॥ इह तर्हि न्यस्तारीत् व्यदारीत् गुणे रपरत्वे चानन्त्य-

---

(१।१।५) सूत्रसे निषेध होकर वह 'न्यनुवीत्,' 'न्यधुवीत्'[३५] इत्यादि उदाहरणोंमें नहीं होगी। नहीं तो 'अमुक प्रकारका सिच् आगे रहनेपर' ऐसा कुछ विशेष न कहा जानेसे ऊपरके उदाहरणोंमें वह होने लगेगी।

यह उपयोग नहीं दिखाया जा सक्ता है; कारण कि यहाँ उवङ् आदेश अंतरंग[३६] है। (वह वृद्धिका बाध करके पहले होगा और वह होनेपर) अन्तमें उकार न रहनेसे उकारको वृद्धि नहीं होगी।

ठीक, (वास्तवमें देखा जाय तो सिच् प्रत्यय लगाकर बनाये गये रूपोंके संबंधमें अंतरंगबहिरङ्ग विचार न किया जाय यह सर्वसाधारण नियम होनेपर भी यदि 'न्यनुवीत्,' 'न्यधुवीत्' रूपोंमें) वह विचार किया जाय तो 'अकार्षीत्,' 'अहार्षीत्' उदाहरणोंमें भी वह विचार करना पडेगा और वहाँ *गुण* (७।३।८४) किया जानेपर तथा उस गुणके आगे रेफ लगानेपर (१।१।५१) (अकार) अन्तमें न रहनेसे[३७] (उसको 'सिचि वृद्धि०' सूत्रसे) वृद्धि नहीं होगी)।

ठीक, यह न होगी तो न हो, ('वदव्रज०'—७।२।३—सूत्रसे) व्यञ्जनान्त धातुको होनेवाली वृद्धि होगी।

ठीक, ('अकार्षीत्,' 'अहार्षीत्' ये उदाहरण रहने दीजिये,) 'न्यस्तारीत्,' 'व्यदारीत्' उदाहरण लीजिये। यहाँ गुण किया जानेपर, रेफ लगाया जानेपर अन्तमें 'अ' कार न होनेसे (उसको 'सिचि वृद्धिः०' सूत्रसे) वृद्धि न होगी, और

---

३५ 'नि' उपसर्गपूर्वक णू और धू इन तुदादिगणमेंके धातुओंके लुङ्के ये क्रियापद है। यहाँ 'सिच्' प्रत्यय 'गाङ्कुटादिभ्यो०' (१।२।१) सूत्रसे ङित् समझा जाता है इसलिए 'क्ङिति च' (१।१।५) सूत्रसे वृद्धिका निषेध होता है।

३६. अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग इनमेंके अङ्ग शब्दका अर्थ है निमित्त। 'न्यनुवीत्' में इस् यह इट् आगमयुक्त सिच् प्रत्यय उवङ् आदेशका (६।४।७७) निमित्त होनेके कारण उवङ् अन्तरङ्ग है। तथा उस सिच् प्रत्ययके बाहरका ईत् यह परस्मैपद प्रत्यय वृद्धिका निमित्त होनेके कारण वृद्धि बहिरङ्ग है। और 'अन्तरङ्गशास्त्र कर्तव्य होते हुए बहिरङ्गशास्त्र असिद्ध होता है' इस प्रकारकी परिभाषा है।

३७ कृ और हृ इन धातुओंके ये क्रियापद हैं। यहाँ वृद्धिके पूर्व अन्तरङ्ग गुण किया जाय तो कर् और हर् होके अकार अन्तमें रहता नहीं।

त्वाद्वृद्धिर्न प्राप्नोति हलन्तलक्षणायाश्च नेटीति प्रतिषेधः । मा भदेवम् । ल्रान्तस्य [७. २. २] इत्येवं भविष्यति ॥ इह तर्हि अलावीत् अपावीत् गुणे कृतेऽवादेशे चानन्त्यत्वाद्वृद्धिर्न प्राप्नोति हलन्तलक्षणायाश्च नेटीति प्रतिषेधः । मा भूदेवम् । ल्रान्तस्येत्येवं भविष्यति । ल्रान्तस्येत्युच्यते न चेदं ल्रान्तम् । ल्रान्तस्येत्यत्र वकारोऽपि निर्दिश्यते । किं वकारो न श्रूयते । लुप्तनिर्दिष्टो वकारः ॥ यद्येवं मा भवानवीत् मा भवान्मवीत् अत्रापि प्राप्नोति । अविमव्योर्नेति वक्ष्यामि । तद्वक्तव्यम् ।

'वदव्रज०' सूत्रसे भी वृद्धि न होगी; कारण कि हलन्त अर्थात् व्यञ्जनान्त धातुको जो वृद्धि कही है उसका 'नेटि' यह यहाँ निषेध आता है ।

न होगी तो न हो । 'अतो ल्रान्तस्य' (७।२।२) सूत्रसे यहाँ वृद्धि होगी ।

ठीक, तो अलावीत्, अपावीत् उदाहरण लीजिये । यहाँ वृद्धिका बाध करके अन्तरङ्गत्वके लिए पहले गुण और अव् आदेश करनेपर स्वर अन्तमें न रहनेसे 'अचि वृद्धिः' सूत्रसे वृद्धि न होगी; व्यञ्जनान्त धातुको 'वदव्रज०' (७।२।३) सूत्रसे जो वृद्धि कही है वह हो तो उसका 'नेटि' (७।२।४) सूत्रसे निषेध होता है ।

ठीक, न होगी तो न हो । 'अतो ल्रान्तस्य' (७।२।२) सूत्रसे यहाँ भी वृद्धि होगी ।

पर उस सूत्रमें 'लकारान्त और रेफान्त' ऐसा निर्देश किया गया है । यहाँ अन्तमें न लकार है, अथवा न रेफ भी ।

'ल्रान्तस्य' शब्दमें लकारों और रेफोंके साथ सूत्रकारने वकारका भी उच्चारण किया है ।

उसका उच्चारण किया हो तो वकार कहीं क्यों सुना नहीं जाता है ?

वकार रखा गया है, पर उसका लोप (६।१।६६) होनेके कारण वह नहीं सुना जाता है ।

ऐसा कहा जाय तो 'मा[३८] भवानवीत्', 'मा भवान् मवीत्' इन उदाहरणोंमें वृद्धि होने लगेगी ।

(न होगी; कारण कि) हम कहेंगे कि अव् और मव् धातुओंको वृद्धि नहीं होती है ।

(तो फिर अव्, मव् शब्द सूत्रमें—७।२।५—अधिक रखके) वैसा उच्चारण करना पड़ेगा ।

---

३८. यहाँ माङ् अव्यय लगानेसे आट् आगमका (६।४।७२) निषेध (६।४।७४) हुआ है । अन्यथा आट् आगम होकर आवीत् रूप होता है; वहाँ अव् धातुके आकारको वृद्धि प्राप्त हुई वा न हुई इसमें कुछ भी भेद नहीं दिखायी देगा । बीचमें भवान् शब्द न लगाया जाय तो मावीत् रूप होता है; वहाँ भी वृद्धि प्राप्त हुई अथवा न हुई इसमें कुछ भी भेद नहीं दिखायी देगा । अतएव भवान् शब्द लगाया है ।

णिश्विभ्यां तौ निमातव्यौ।

यद्यप्येतदुच्यतेऽथवैतर्हि णिश्व्योः प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति। गुणे कृतेऽयादेशे च यान्तानां नेत्येव प्रतिषेधो भविष्यति॥ एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति यदयमतो हलादेर्लघोः [७.२.७] इत्यकारग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। अकारग्रहणस्यैतत्प्रयोजनमिह मा भूत् अकोषीत् अमोषीत्। यदि सिच्यन्तरङ्गं स्यादकारग्रहणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृतेऽलघुत्वाद्वृद्धिर्न भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यो न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति

(वा.) 'णि' और 'श्वि' इनके बदले वे ('अव्' और 'मव्') लिये जायँगे।

(कोई बाधा नहीं। यद्यपि अधिक शब्द रखके उच्चारण किया जाय तो भी वे अधिक शब्द मानो न रखे जानेके समान ही है; कारण कि 'णि' और 'श्वि' शब्द 'ह्म्यन्तक्षण०'—७।२।५—सूत्रमें आवश्यक नहीं है। उनके स्थानमें 'अव्', 'मव्' शब्द रखे जा सकते हैं। इसका स्पष्टीकरण यों है कि—) यद्यपि (अव्, मव् शब्द 'ह्म्यन्तक्षण०'—७।२।५—सूत्रमें) अधिक रखे जायँ तो भी 'णि' और 'श्वि' का निषेध उन सूत्रोंमें न करना चाहिये; कारण कि 'णि' और 'श्वि' को गुण और अयादेश करनेपर यकारान्त धातुओंको वृद्धिका जो निषेध कहा है यह उनको होगा ही।

ठीक, तो हम कहेंगे कि जब कि 'अतो हलादेर्लघोः' (७।२।७) सूत्रमें आचार्य (पाणिनि) 'अतः' यह 'अकार' का उच्चारण करते हैं, तब उनकी रचनासे ज्ञात होता है कि सिच् (प्रत्यय लगाकर बनाये गये रूपों) के कार्यमें अन्तरङ्ग—बहिरङ्गका विचार न किया जाय।

यह कैसे ज्ञात होता है?

'अतो हलादेर्लघोः' (७।२।७) सूत्रमें अकार रखनेका उपयोग यह है कि 'अकोषीत्', 'अमोषीत्' (इत्यादि उदाहरणों) में उकारको वृद्धि न हो। यदि सिच् (प्रत्ययके रूपों) में अन्तरङ्गबहिरङ्गविचार होगा तो ('अतो हलादेर्लघोः' —७।२।७—सूत्रमें) अकार रखना व्यर्थ होगा। कारण कि गुण (७।३।८६—अन्तरङ्ग होनेके कारण 'अकोषीत्' उदाहरणमें वह पहले किया जायगा और वह) किया जानेपर उपधा स्वर ह्रस्व न होनेसे वृद्धिकी प्राप्ति ही न होगी। अतः आचार्य (पाणिनि) का मत यह दीख पड़ता है कि सिच् (के रूपके संबंध) में अन्तरङ्ग-बहिरङ्गविचार नहीं करना चाहिये, अतएव वे ('अतो हलादेर्लघोः' सूत्रमें) अकार रखते हैं।

ततोऽकारग्रहणं करोति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्त्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। यत्र गुणः प्रतिषिध्यते तदर्थमेतत्स्यात् न्यकुटीत् न्यपुटीदिति। यत्तर्हि णिश्व्योः प्रतिषेधं शास्ति तेन नेहान्तरङ्गमस्तीति दर्शयति। यच्च करोत्यकारग्रहणं लघोरिति कृतेऽपि ॥

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः ॥ ११ ॥

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिरास्थेया ॥

यह ज्ञापक नहीं दिया जा सकता है। इस सूत्रमें अकार रखनेका और उपयोग है।

वह कौनसा?

जहाँ गुणका निषेध किया है वहाँ वृद्धि न हो यह उपयोग। उदाहरणार्थ, 'न्युकुटीत्', 'न्युपुटीत्'[३९] रूप देखिये।

ठीक, (यह ज्ञापक ठीक न हो) तो (दूसरा ज्ञापक दिया जा सकता है। वह यों है—'हम्यन्तक्षण०'—७।२।५—सूत्रमें) जब कि 'णि' और 'श्वि' के विषयमें (आचार्य पाणिनि वृद्धिका) निषेध कहते[४०] हैं तब वे सूचित करते हैं कि (सिच्के रूपोंके बारेमें) अन्तरङ्गबहिरङ्ग विचार न करना चाहिये। और ('लघु' शब्द रखा जानेपर भी 'अतो हलादेर्लघोः' सूत्रमें) जो 'अकार' रखा गया है[४१] उससे भी वही बात सूचित होती है।

(वा. ११) अतः यह वृद्धि इक्को कही गयी है (ऐसा समझना चाहिये)।

अतः (संक्षेपमें, 'सिचि वृद्धिः' इस वृद्धिका 'क्ङिति च' यह निषेध होनेके

---

३९. 'नि' उपसर्गपूर्वक कुट् और पुट् इन धातुओंके लुङ्के ये रूप हैं। यहाँ सिच् प्रत्यय ङित् समझा जानेके कारण (१।२।१) गुणका निषेध (१।१।५) होता है।

४०. यदि यहाँ अन्तरङ्गबहिरङ्ग-विचार होता तो औनवीत् (ऊन + णि), अश्वयीत् उदाहरणोंमें वृद्धिकी अपेक्षा (७।२।१) पहले अन्तरङ्गगुण (७।३।८४) और उसको अय् आदेश होनेके बाद यकारान्त कहनेसे ही वृद्धिका निषेध हुआ होता। तब उस सूत्रमें (७।२।५) 'णि' और 'श्वि' शब्द व्यर्थ हुए होते।

४१. 'अतो हलादेर्लघोः' (७।२।७) सूत्रमें 'अतः' का उच्चारण न किया जाय और केवल 'लघु' शब्द उच्चारित हो तो ह्रस्व 'अ'कारसे भिन्न इ, उ और ऋ ये तीन ही वर्ण प्राप्त होंगे। और चिन्, गुप् और नृत् जैसे धातुओंमें इकार आदिको वृद्धि होगी यह दोष प्राप्त होता है। परन्तु यहाँ अंतरङ्ग गुण (७।३।८६) वृद्धिका बाध करके पहले प्राप्त हो तो यह दोष नहीं आता है। अब 'न्युकुटीत्'में गुणका निषेध होता है तो भी उस गुणने वृद्धिका बाध किया गया वह कायम ही है यह बात 'मृजाते अश्वसूत्रते' इत्यादि उदाहरण दिखाकर सिद्ध की गयी है।

षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वादिग्निवृत्तिः ॥ १२ ॥

षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वात्सर्वेषामिका निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति। दधि मधु। पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात्।

अन्यतरार्थं पुनर्वचनम् ॥ १३ ॥

अन्यतरार्थमेतत्स्यात्। सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुण एवेति ॥

प्रसारणे च ॥ १४ ॥

प्रसारणे च सर्वेषां यणां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति। याता वाता। पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात्।

लिए) वह वृद्धि इक्को ही कही गयी है ऐसा सिद्ध होना चाहिये। (और वह सिद्ध होनेके लिए प्रकृत सूत्रमें 'वृद्धि' शब्द अवश्य रखना चाहिये)।

(वा. १२) प्रस्तुत सूत्रमें षष्ठी विभक्ति 'स्थान' अर्थमें प्रयुक्त की जानेसे सब इकोंका नाश होने लगेगा।

प्रस्तुत सूत्रमें 'इकः' पदमें 'षष्ठी' विभक्ति 'स्थान' अर्थमें प्रयुक्त की जानेसे प्रस्तुत सूत्रसे सभी इकोंका नाश होने लगेगा[४२] (और उनके स्थानमें गुण या वृद्धि होगी), जैसे, 'दधि,' 'मधु' इत्यादि रूपोंमें गुण या वृद्धि होगी।

यह यदि हो तो (स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न सूत्र बनाके गुण होता है, वृद्धि होती है, ऐसे) गुण और वृद्धिके विधान (आचार्य पाणिनि) बार बार क्यों करते हैं?

(वा. १३) (गुण और वृद्धि इन दोनोंमेंसे) एक ही होनेके लिए बार बार विधान किया है।

(गुण और वृद्धि इन दोनोंमेंसे) अमुक एक ही हो यह कहनेके लिये, जैसे सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय आगे होनेपर गुण ही होता है, (वृद्धि नहीं होती है,) यह कहनेके लिए ('सार्वधातुकार्धधातुकयोः–७।३।८४–) सूत्र किया है।

(वा. १४) तथा संप्रसारणके विषयमें (यही होता है)।

उसी प्रकार 'इग्यणः संप्रसारणम्' (१।१।४५) सूत्रमें भी ('षष्ठी' का अर्थ 'स्थान' होनेसे) सभी यण् (अर्थात् अर्धस्वर) नष्ट होंगे और उनसे 'याता', 'वाता' रूपोंमें भी (यकार और वकार नष्ट होंगे, और उनके स्थानमें संप्रसारण) होने लगेगा।

ऐसा होगा तो पुन. भिन्न भिन्न सूत्रोंमें संप्रसारण क्यों कहा है?

---

४२. 'इको गुणवृद्धी' यह प्रस्तुत सूत्र [illegible] गुण और वृद्धि [illegible] है ऐसा [illegible] है।

विषयार्थं पुनर्वचनम् ॥ १५ ॥

विषयार्थमेतत्स्यात् । वचिस्वपियजादीनां कित्येवेति ॥

उरण्रपरे च ॥ १६ ॥

उरण्रपरे न सर्वकाराणां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति । कर्तृ हर्तृ ।

सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनात् ॥ १७ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । षष्ठ्यधिकार इमे योगाः कर्तव्याः । एकस्तावत्क्रियते

(वा. १५) विषय (अर्थात् स्थान) बतानेके लिए पुनः विधान किया है ।)

संप्रसारणके विषय अर्थात् निश्चित स्थान बतानेके लिए। उदाहरणार्थ, ('वचिस्वपियजादीनां किति'—६।१।१५— सूत्रसे) वच्, स्वप् और यज् इत्यादि धातुओंको कित् प्रत्यय आगे रहनेपर ही (संप्रसारण होता है यह कहनेके लिए)।

(वा. १६) तथा 'उरण् रपरः' सूत्रमें (सभी ऋकारोंकी निवृत्ति होगी)।

वैसे ही 'उरण् रपरः' (१।१।५१) सूत्रसे सब ऋकार नष्ट होने लगेंगे, और उससे 'कर्तृ', 'हर्तृ' इत्यादि उदाहरणोंमें भी ऋकारके स्थानमें (अर्) होगा।

(वा. १७) पर ये सब सूत्र षष्ठ्यधिकारमें लिये जानेसे यह सब सिद्ध होगा।

यह सब सिद्ध होगा (और कुछ भी बाधा नहीं रहेगी)।

सो कैसे ?

'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) सूत्रसे आगे चलनेवाला जो षष्ठी अधिकार है उस अधिकारमें ये सूत्र लिये जायें।[४१] (तीनोंमेंसे) एक ('उरण् रपरः'—१।१।५१

---

४१ सब षष्ठी विभक्तिका उच्चारण करके जहाँ गुण या वृद्धि कही हो वहाँ गुण या वृद्धि आदेश इक्को किये जायँ। इस प्रकार वहाँ प्रबंध मात्र किया जाता है, पर यह स्वतंत्र विधायक-सूत्र नहीं। उदाहरणार्थ 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) में 'अङ्गस्य' इस षष्ठी विभक्तिका उच्चारण किया है, कारण कि वह 'अङ्गस्य' इस अधिकारमें पढा गया है। तथा 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' यह सूत्र स्वतन्त्र विधायक नहीं। 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) में 'वचिस्वपियजादीनाम्' इस षष्ठी विभक्तिका उच्चारण किया गया है वहाँ 'वचि' आदि धातुओंमेंके यण्को सम्प्रसारण होता है यह व्यवस्था की जाती है। उसी प्रकार 'उरण् रपर' यह भी स्वतन्त्र विधायक नहीं। 'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) में 'ऋतः' यह षष्ठी विभक्ति उच्चारित है वहाँ ऋकारको कहा हुआ इकार अण् 'रपर' होता है यह व्यवस्था की गयी है।

तत्रैव। इमावपि योगौ षष्ठ्यधिकारमनुवर्तिष्येते॥ अथवा षष्ठ्यधिकार इमौ योगावपेक्षिष्यामहे॥ अथवेदं तावदयं प्रष्टव्यः। सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो भवतीतीह कस्मान्न भवति। याता वाता। इदं तत्रापेक्षिष्यत इको गुणवृद्धी इति। यथैव तर्हीदं तत्रापेक्षिष्यत एवमिहापि तदपेक्षिष्यामहे। सार्वधातुकार्धधातुकयोरिको गुणवृद्धी इति॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे तृतीयमाह्निकम्॥

—यह पहला सूत्र) उस अधिकारमें रखा ही गया है। ('इको गुणवृद्धी'—१।१।३—और 'इग्यणः संप्रसारणम्'—१।१।४५ ये अवशिष्ट) दोनों सूत्र षष्ठी अधिकारमें अनुवृत्त होंगे अथवा षष्ठी अधिकारमें ही ये दोनों सूत्र हम रखेंगे। अथवा (दूसरा समाधान यों है)—इस (शंकाकार) से यह (आगे दिया हुआ प्रश्न) पूछा जाय। सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर गुण होता है तो यहाँ 'याता', 'वाता' में गुण क्यों नहीं होता है? इसलिए कि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) सूत्रमें 'इको गुणवृद्धी' सूत्रका संबंध होता है (अर्थात् इक्को गुण और वृद्धि होती है ऐसा अर्थ लिया जाता है)। ठीक, तो प्रस्तुत 'इको गुणवृद्धी' सूत्र जैसे वहाँ ('सार्वधातुकार्धधातुकयोः' में) लिया जाता है वैसे ही वह सूत्र यहाँ भी हम लेंगे और सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर ही इक्को (*गुण और वृद्धि*) करेंगे।

इस प्रकार श्रीभगवान् पतञ्जलिके रचे हुए व्याकरणमहाभाष्यके पहले अध्यायके पहले *पादका तीसरा आह्निक समाप्त हुआ।*

संयोगादिसंज्ञानामकं चतुर्थाह्निकम्

संयोगादिसंज्ञाह्निक (अ. १ पा. १ आह्निक ४)

(गुणवृद्धिनिषेधस्थलोंके विषयमें विवेचन—पिछले आह्निकमें ' गुण होता है ' या ' वृद्धि होती है ' यह विधान करके गुण या वृद्धि कही गयी हो तो इ, उ, ऋ, ऌ इन्हींको होती है ऐसा कहने के कारण अष्टाध्यायीमें भिन्न भिन्न स्थानोंपर जो गुण या वृद्धिका विधान किया गया है उसका सामान्य निषेध प्रस्तुत आह्निकमें "न धातुलोप०" (१।१।४–६) इत्यादि तीन सूत्रोंमें बताया गया है; और उसके बाद संयोग, अनुनासिक और सवर्ण संज्ञाओंका विचार किया गया है। धातुके भागका जिससे लोप हुआ है वह आर्धधातुक प्रत्यय आगे होनेपर उस आर्धधातुक प्रत्ययके कारण धातुके स्वरको गुण या वृद्धि नहीं होती ऐसा "न धातुलोप०" (सू. ४) सूत्रसे कहा गया है। वस्तुतः इस सूत्रकी उपयोगिता बहुत कम स्थानोंपर है; उलटे, इस सूत्रसे कुछ स्थानोंपर जहाँ गुण या वृद्धि होनी चाहिये वहाँ वह हो नहीं सकती यह दोष आता है इसलिए वार्तिककारोंने कुछ नियत विशिष्ट उदाहरणोंके लिए ही यह सूत्र है ऐसा नियमन किया है और बादमें ये उदाहरण भी अन्य रीतिसे साध्य होनेके कारण बताया है कि इस सूत्रकी आवश्यकता नहीं है, और भाष्यकारने भी यह स्पष्ट किया है। ' क्ङिति च ' सूत्र गुण और वृद्धिका अत्यंत व्यापक रीतिसे निषेध बताता है। परन्तु उसमें भी वार्तिककारोंने 'क् या ङ् के कारण ही गुण होने लगा तो उसका निषेध किया जाय ' ऐसा बताया है, और उससे उपधाको होनेवाले गुणके लिए उपधावर्ण निमित्तके अत्यंत निकट नहीं होता है यह जो बाधा संभवनीय है उसे दूर किया है। परन्तु, भाष्यकारने बताया है कि 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' इस परिभाषाके कारण लघु उपधाको गुण बतानेवाले सूत्रके साथ ही साथ गुणनिषेध बतानेवाले प्रस्तुत सूत्रका वाक्यार्थ होनेके कारण और ' रोरवीति ' यह स्वतंत्र उदाहरण वैदिक प्रयोगरूप होनेके कारण ' क् अथवा ङ् के निमित्त ही होनेवाले गुणका निषेध होता है ' इस वार्तिककी आवश्यकता नहीं। "इको गुणवृद्धी" (सू. ३) इस परिभाषासूत्रसे होनेवाली ही गुणवृद्धियोंका 'क्ङिति च' (सू. ५) इस प्रस्तुत सूत्रसे निषेध होनेके कारण "अचो ञ्णिति" इत्यादि सूत्रोंसे सामान्यतया स्वरको बतायी हुई वृद्धिका प्रस्तुत सूत्रसे निषेध नहीं होता है। इसके बाद "दीधीवेवीटाम्" (सू. ६) इस सूत्रके ' दीधी ' और ' वेवी ' वेदमें ही दिखायी देनेवाले धातु होनेके कारण उन्हें गुणनिषेध बतानेकी आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार, इट् आगमको ' इ ' इस ह्रस्व इकारके रूपमें बताये जानेके कारण स्वभावतः ही उसको गुण न हो यही सूत्रकारोंका ही अभिप्राय दिखायी देता है ऐसा बताकर "दीधीवेवीटाम्" (सू. ६) इस सूत्रकी भी आवश्यकता नहीं है यह भाष्यकारने सुझाया है।

संयोग, अनुनासिक और सवर्ण संज्ञाओंके विषयमें विचार—संयोगसंज्ञा बतानेवाले "हलोऽनन्तराः संयोगः" (सू. ७) इस सूत्रका विवेचन करते समय उसमें 'अनन्तर' शब्दका (१) अंतर न रखते हुए उच्चारित व्यंजन, अथवा (२) जिनमें दूसरे प्रकारका वर्ण नहीं है ऐसे व्यंजन इस प्रकार दोनों तरहका अर्थ लिया जा सकता है ऐसा बताया है; और दो वा अधिक व्यंजनोंको मिलाकर संयोगसंज्ञा हो, प्रत्येक व्यंजनको स्वतंत्र रूपसे न हो इसलिए सूत्रमें क्या 'सह' शब्द रखना आवश्यक है वा नहीं इस विषयमें भाष्यकारने विवेचन किया है। सूत्रकारने 'सह' अथवा 'प्रत्येक' इस प्रकारके शब्द बहुत कम स्थानोंपर रखे हैं। लोकव्यवहार देखनेपर 'सह' अथवा 'प्रत्येक' ऐसा स्पष्ट शब्द न उच्चारनेपर भी 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः' इस न्यायसे 'दश ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्' ऐसा बतानेपर दसों ब्राह्मणोंमेंसे हर एकको स्वतंत्र रूपसे भोजन दिया जाता है; उसी प्रकार 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' इस न्यायसे 'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्' यह आज्ञा दी जानेपर राजा लोग सुवर्णसे धनसंपन्न होनेके कारण सभी गर्गोंको मिलाकर उनसे सौ ही कार्षापण लिये जाते हैं। सूत्रोंमें भी 'सह' अथवा 'प्रत्येक' ऐसा स्पष्ट शब्द न उच्चारनेपर उपर्युक्त न्यायका अवलंब करके, और "शिष्ट लोगोंके किये व्याख्यानके सहारे संशयस्थलमें निर्णय किया जाय" इस अर्थके "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः०" इस वैयाकरण-संकेतको अनुसरण करके 'दो वा अधिक व्यंजनोंको मिलाकर ही संयोगसंज्ञा होती है' ऐसा भाष्यकारने निर्णय दिया है; और बहुत व्यंजन एक दूसरेके पास आनेपर यह संयोगसंज्ञा उनमेंसे किन्हीं दो, तीन वा सबको हो सकती है, प्रत्येकको अलग अलग नहीं ऐसा कहा गया है। संयोगसंज्ञाके बाद भाष्यकारने अनुनासिकसंज्ञाका विचार किया है (सू. ८), और मुख और नासिका इन दोनोंके बीचसे उच्चारित वर्णको अनुनासिक कहा जाय यह स्पष्ट निर्णय दिया है। वैसेही, 'अनुनासिक' इस संज्ञाके कारण वर्णोंको अनुनासिकत्व दिया जाना, और अनुनासिकत्व होनेवाले ही वर्णको अनुनासिक संज्ञा दिया जाना ऐसा 'इतरेतराश्रय' दोष दिखायी देता है उसका निराकरण 'शब्द नित्य होनेके कारण अनुनासिक वर्ण स्वतःसिद्ध ही हैं, वे नये उत्पन्न नहीं किये जाते, संज्ञासे केवल उन्हें वैसा पहचाना जाता है,' इस प्रकारकी नित्यकी प्रतिपादनपद्धतिसे ही किया गया है।

सावर्ण्यविचार—अनुनासिक संज्ञाके बाद भाष्यकारने सवर्ण संज्ञाका विचार किया है। (सू. ९) *जिन वर्णोंका आस्य अर्थात् उच्चारणका स्थान और साधन, उसी* तरह प्रयत्न अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न समान होते हैं वे सवर्ण समझे जायें ऐसा 'सवर्ण' *संज्ञाकी व्याख्या भाष्यकारने दी है।* सूत्रमेंका 'आस्य' शब्द यत्-प्रत्ययान्त (आस्ये भवमास्यं) लेकर आस्य शब्दका अर्थ आस्यमें अर्थात् मुखमें उत्पन्न होनेवाला (स्थान तथा करण) ऐसा किया गया है; उसी प्रकार 'यत्नस्य प्रारम्भः' ऐसा प्रयत्न शब्दका अर्थ करके प्रयत्न शब्दसे केवल आभ्यन्तर प्रयत्न ही लिये जाते हैं और बाह्य प्रयत्न भिन्न हों तो भी चल सकते हैं इस तरह भाष्यकारने प्रतिपादन किया है। इसके बाद ऋ और ऌ

न धातुलोपआर्धधातुके ॥ १ । १ । ४ ॥

धातुग्रहणं किमर्थम् । इह मा भूत् । लूञ् लविता लवितुम् । पूञ् पविता

स्वरोंका सावर्ण्य कहा जाय, जिससे ऋकारका उच्चारण किया जानेपर लृकार लिया जाय ऐसा वार्तिककारोंका कहना बताकर ऋ और लृ इनका सवर्ण दीर्घ ॠ सधिकार्यसे हो यह सावर्ण्यका उपयोग भाष्यकारने दिया है। पाणिनिकी प्रक्रियामें दीर्घ लृ नहीं है; तथापि जिसमें दो रेफ हैं ऐसा ॠ और जिसमें दो लकार हैं ऐसा ॡ ये दो मात्राओंवाले ॠ और ॡ ऋकारके आगे ऋ अथवा लृ आनेपर सवर्णदीर्घ किये जायें ऐसा वार्तिककारोंने 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस सूत्रके विषयमें वैकल्पिक विधान किया है और इससे ऋ और लृ इनका सावर्ण्य कहनेकी आवश्यकता नहीं है इस शंकाका भाष्यकारने निराकरण किया है। यही नहीं तो सावर्ण्य बताना आवश्यक है और यह कहनेपर द्विमात्रिक दीर्घका अलग विधान करनेकी आवश्यकता नहीं है ऐसा भी बताया है। अब ऋ और लृ का सावर्ण्य लिया जाय तो लृकारका व्यवधान होनेपर भी नकारको णकार प्राप्त होनेपर वह होने लगेगा इस दोषका निराकरण 'चुटुतुल०' और 'त्रिभिश्च मध्यमैर्वर्गैः०' इन पुराने वैयाकरणोंके वार्तिकोंसे ही होता है ऐसा कहा है। इसके बाद "नाज्झलौ" (सू १०) इस सूत्रसे स्वर और व्यंजन इनमें सावर्ण्य नहीं हो सकता यह कहनेपर भी स्थान और प्रयत्न समान होनेके कारण 'श' कार 'इ' कार ही है ऐसा समझकर दोषकी प्राप्ति कैसे संभवनीय है सो बताकर स्वरोंका प्रयत्न विवृत और श ष स ह इनका प्रयत्न ईषद्विवृत होनेके कारण वह दोष दूर होता है ऐसा भाष्यकारने दिखाया है। इसके अतिरिक्त, 'वाक्यापरिसमाप्ति' इस न्यायसे वर्णोंका उपदेश, इत्संज्ञा, प्रत्याहार, सवर्णसंज्ञा, सवर्णग्रहण इत्यादि सब कार्य क्रमसे पर एकके बाद दूसरा होनेपर ही व्यवहार चालू होता है यह वस्तुस्थिति होनेके कारण 'श' कारको 'इ' नहीं समझा जा सकता है ऐसा भी भाष्यकारने कहा है।]

(पा. सू. १।१।४) धातुके (अवयवके) लोपका कारण होनेवाला आर्धधातुक प्रत्यय आगे रहनेपर (उस आर्धधातुक प्रत्ययके निमित्तसे इक्को होनेवाले गुण और वृद्धि ये आदेश) न होंगे।

यहाँ (प्रस्तुत सूत्रमें) धातु शब्दका प्रयोग किसलिए किया गया है?

लूञ्—'लविता लवितुम्', पूञ्—'पविता पवितुम्' यहाँ (गुणका निषेध) न हो इसलिए।

---

१. 'लूञ् छेदने' धातुसे तृच् प्रत्यय अथवा तुमुन् प्रत्यय, लकारके अगले ऊकारको गुण (७।३।८४), उसके अगले प्रत्ययको इडागम (७।२।३५) और उसके पिछले ओकारको अवादेश (६।१।७८) करनेसे 'लविता', 'लवितुम्' ये रूप सिद्ध होते हैं। 'पविता', 'पवितुम्', में भी यही नियम समझा जाय। 'पूञ् पवने' यह धातु है इतना ही भेद है। यहाँ

पवितुम् ॥ आर्धधातुक इति किमर्थम् । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥ किं पुनरिदमार्धधातुकग्रहणं लोपविशेषणम् । आर्धधातुकनिमित्ते लोपे सति ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति । आहोस्विद्गुणवृद्धिविशेषणमार्धधातुकग्रहणम् ।

'आर्धधातुके' पद किसलिए प्रयुक्त किया गया है ?

'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' (यहाँ गुणका निषेध न हो इसलिए)।

परन्तु (१) क्या 'आर्धधातुके' लोपका विशेषण है ? अर्थात् 'आर्धधातुक प्रत्ययोंके निमित्त (धातुके अवयवका) लोप होनेसे उस स्थानपर जो गुण वा वृद्धि प्राप्त होगी, वह गुण वा वृद्धि प्राप्त नहीं होती' यह अर्थ समझा जाय ? अथवा (२) 'आर्धधातुक' पद गुण और वृद्धि इनका विशेषण है ? अर्थात् 'धातुके

प्रत्यय लगानेके पहले 'लूञ्'मेंके ञकारकी इत्संज्ञा (१।३।३) होती है और उसका लोप (१।३।९) करके अवशिष्ट केवल 'लू' भागकी धातुसंज्ञा की जाय। कारण कि क्रियावाचककी धातुसंज्ञा (१।३।१) विहित है। और 'लू' धातुसे बनाये गये 'लुनाति' इत्यादि किसी प्रयोगमें ञकार दिखायी नहीं देता है और लू इतनाही भाग दीख पड़ता है। अतः यह निश्चित है कि यह क्रियावाचकत्व ञकाररहित केवल लू भागको ही है। तब यहाँ 'धातु' यह शब्द न हो तो 'लोप होनेपर आर्धधातुक प्रत्ययसे प्राप्त गुण वा वृद्धि न की जाय' ऐसा इस सूत्रका अर्थ होनेसे ऊपरके उदाहरणमें तृच् आदि आर्धधातुक प्रत्यय लगानेसे उसके पिछले ऊकारको प्राप्त होनेवाले गुणका निषेध करना पड़ेगा। और 'धातु' शब्द रखा जाय तो 'लूञ्' इस ञकारघटित समुदायको धातुसंज्ञा न होनेसे उसमेंके ञकारका लोप धातुके अवयवका लोप नहीं है, इससे गुणनिषेध प्रसक्त नहीं होता है। इसलिए 'धातु' शब्द रखा गया है ऐसा समझा जाय।

२. 'रु शब्दे' यङ् प्रत्यय (३।१।२२), उसका लुक् (२।४।७४), द्वित्व (६।१।९), अभ्यासको गुण (७।४।८२), 'रोरु' को लट् प्रत्यय (३।२।१२३), उसको तिप् आदेश (३।४।७८), बीचमें शप् प्रत्यय (३।१।६८), उसका लुक् (२।४।७२), तिप् प्रत्ययको ईट् आगम (७।३।९४), उत्तरखंडमेंके उकारको गुण (७।३।७८) और गुणसे प्राप्त हुए ओकारको अवादेश (६।१।७८) करनेसे यह उदाहरण सिद्ध हुआ है। यहाँ 'आर्धधातुके' यह शब्द न रखा जाय तो यङ् प्रत्ययका लुक् यह धात्ववयवका लोप होनेके कारण सार्वधातुक नामके तिप् प्रत्ययसे प्राप्त होनेवाले गुणका निषेध करना पड़ेगा। इस दोषको टाल देनेके लिए 'आर्धधातुक' शब्द रखा गया है ऐसा समझा जाय।

३. सूत्रमें उच्चारित शब्दका उसी सूत्रमें उच्चारितके साथ अन्वय किया जाय, अनुच्चारितके साथ न किया जाय यह नियम है। अतः लोपका विशेषण है ऐसा तात्पर्य है।

४. पूर्वसूत्रमें इग्लक्षणस्थिति प्रधान है तो भी उस इग्लक्षणस्थितिमें संस्कार किसको किया जाय यह दिखानेका काम गुणवृद्धिपदने किया है। इग्लक्षणस्थितिका सब भार गुण और वृद्धिपर अवलंबित रहनेसे गुण और वृद्धिको प्राधान्य है। तब 'यद्धि गुणगुणप्रधान्ये प्रधानेनैव गृह्यते' इस न्यायसे 'आर्धधातुक' पद गुणवृद्धिपदका विशेषण है ऐसा अभिप्राय है।

धातुलोपे सत्यार्धधातुकनिमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति। किं चातः। यदि लोपविशेषणमुपेद्धः प्रेद्धः अत्रापि प्राप्नोति। अथ गुणवृद्धिविशेषणं क्नोपयती-त्यत्रापि प्राप्नोति। यथेच्छसि तथास्तु। अस्तु लोपविशेषणम्। कथमुपेद्धः प्रेद्ध इति। बहिरङ्गो गुणोऽन्तरङ्गः प्रतिषेधः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। यद्येवं नार्थो धातुग्रहणेन। इह कस्मान्न भवति। लूञ् लविता लवितुम्। आर्धधातुकनिमित्ते

अवयवका लोप होनेसे आर्धधातुक प्रत्ययोंके निमित्त जो गुण वा वृद्धि प्राप्त होगी वह नहीं होती' यह अर्थ समझा जाय?

इन दो प्रकारके अर्थोंमें क्या भेद होता है?

यदि 'आर्धधातुके' पद लोपका विशेषण माना जाय तो 'उपेद्धः', 'प्रेद्धः' में भी (गुणनिषेध) प्राप्त होता है। और यदि गुण और वृद्धि इनका विशेषण माना जाय तो 'क्नोपयति' में भी (गुणनिषेध) प्राप्त होता है।

तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा ही सही। 'आर्धधातुके' यह लोपका विशेषण माना जाय तो 'उपेद्धः', 'प्रेद्धः' उदाहरण कैसे सिद्ध होंगे?

('उपेद्धः', 'प्रेद्धः' में धातुका भाग जो नकार है उसका लोप प्रथमतः प्राप्त होनेके कारण उसके निमित्त जो) निषेध (आता है वह) अतरंग है और (बादमें आनेके कारण 'आद्गुण.' यह) गुण बहिरंग है। और अंतरंग (निषेध) की दृष्टिसे बहिरग (गुण) असिद्ध है। (इसीलिए यहाँ गुणनिषेधकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती और ये उदाहरण सिद्ध होंगे।) और यदि ऐसा हो तो 'धातु' शब्द प्रयुक्त किया गया है उसकी आवश्यकता नहीं; (इस प्रकार इसमें लाभ प्राप्त होता है।)

('धातु' शब्दका प्रयोग न किया जाय तो) लूञ्—लविता लवितुम्—यहाँ गुणका निषेध भला क्यों नहीं होता?

---

५. उप अथवा प्र उपसर्गपूर्वक इन्धू धातुको क्त प्रत्यय (३।२।१०२), नकारका लोप (६।४।२), प्रत्ययके तकारको धकार (८।२।४०) और 'आद्गुण' (६।१।८७) सूत्रसे गुण किया जानेसे उपर्युक्त उदाहरण सिद्ध किये गये हैं। यहाँ 'आद्गुण' इस गुणका निषेध करनेकी नौबत आती है। 'आर्धधातुके' यह गुणवृद्धिका विशेषण करनेसे यह दोष नहीं आता है। कारण कि 'आद्गुण' सूत्रसे होनेवाला गुण आर्धधातुक प्रत्ययके निमित्तसे नहीं होता है।

६. क्नुयी धातुको णिच् (३।१।२६) प्रत्यय, पुक् आगम (७।३।३६) और यकारका लोप (६।१।६६) करके 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) सूत्रसे गुण करनेसे 'क्नोपयति' रूप बनता है। यहाँ णिच्रूप आर्धधातुकके निमित्तसे आनेवाले गुणका निषेध प्राप्त होता है। 'आर्धधातुके' यह लोपका विशेषण किया जानेसे यह दोष नहीं आता है। कारण कि यहाँ यकारका लोप वकारको मानकर हुआ है, आर्धधातुक प्रत्ययको मानकर नहीं हुआ है।

लोपे प्रतिषेधो न चैष आर्धधातुकनिमित्तो लोपः ॥ अथवा पुनरस्तु गुणवृद्धि-विशेषणम् । ननु चोक्तं क्नोपयतीत्यत्रापि प्राप्नोतीति । नैष दोषः । निपातना-त्सिद्धम् किं निपातनम् । चेले क्नोपेः [३·४·३३] इति ॥

परिगणनं कर्तव्यम् ।

यङ्यक्क्यवलोपे प्रतिषेधः ॥ १ ॥

यङ्यक्क्यवलोपे प्रतिषेधो वक्तव्यः । यङ् । बेभिदिता मरीमृजः । यक् ।

आर्धधातुक प्रत्ययके कारण लोप होनेपर प्रतिषेध प्राप्त होनेवाला है। और (क्नूय् के यकारका) लोप तो आर्धधातुकके कारण हुआ लोप नहीं है। (इसीसे ऊपरके उदाहरणमें गुणनिषेध नहीं होता है।)

अथवा 'आर्धधातुके' पद गुणवृद्धिपदका विशेषण होने दीजिये। (इसमें कोई आपत्ति नहीं है।)

परंतु 'क्नोपयति' रूपमें गुणनिषेध प्राप्त होता है, यह तो पहले ही बताया गया है न?

यह दोष नहीं प्राप्त होता। निपातनसे ('क्नोपयति' उदाहरण) सिद्ध होता है।

यह निपातन कौनसा?

"चेले क्नोपेः" (३।४।३३) यह।

(इस निषेधके उदाहरणका) परिगणन किया जाय। (अर्थात् अमुक अमुक धात्ववयवका जहाँ लोप हुआ है वहीं गुणवृद्धिनिषेध होता है ऐसा कहा जाय। सो ऐसे कि—)

(वा. १) (धातुके अवयवभूत) यङ्, यक्, क्य और व् इनका लोप होनेपर (गुण और वृद्धिका) प्रतिषेध (होता है)।

धातुके अवयवभूत जो यङ्, यक्, क्य और व् इनका लोप होनेपर वहीं यह (गुणवृद्धिका) प्रतिषेध होता है ऐसा कहा जाय। (अर्थात् इसके अतिरिक्त अन्य स्थानपर यह निषेध नहीं होगा।)

'यङ्' का उदाहरण—बेभिदिता, मरीमृजः।

---

७. सूत्रान्तरसे प्राप्त न होनेवाला कार्य करके ही उच्चारण करना इस प्रक्रियाको निपातन कहते हैं। अतः जब कि पाणिनिने णिच् प्रत्ययमें क्नूय् धातुका 'क्नोपे.' उच्चारण किया है तो निषेध नहीं होता है ऐसा सिद्ध होता है।

८. 'बेभिद' इस यङन्त धातुको तृच्, उसको इडागम, 'यस्य हलः' सूत्रसे 'य' शब्दका लोप किया जानेपर प्राप्त होनेवाले लघूपध गुणका निषेध किया है। 'मरीमृज्य' इस यङन्त धातुको पचाद्यच् प्रत्यय, 'यङोऽचि च' सूत्रसे यङ्का लुक् किया जानेपर प्राप्त हुई 'मृजेर्वृद्धिः' का प्रतिषेध किया है।

कुपुमिता मगधकः । क्य । समिधिता दृषदकः । वलोपे । जीरदानुः । किं प्रयोजनम् ।

नुम्लोपसिव्यनुबन्धलोपेऽप्रतिषेधार्थम् ॥ २ ॥

नुम्लोपे सिव्यनुबन्धलोपे च प्रतिषेधो मा भूदिति । नुम्लोपे । अभाजि रागः उपबर्हणम् । सिवेः आस्रेमाणम् । अनुबन्धलोपे । लूञ् लविता लवितुम् ॥

'यङ्' प्रत्ययका उदाहरण—कुपुमिता[9], मगधक.।

'क्य' प्रत्ययका उदाहरण—समिधिता[10], दृषद्क.।

'व्' लोपका उदाहरण—जीरदानु.[11]।

इस परिगणनका प्रयोजन क्या है?

(वा २) नुम्का लोप, सिव् धातुके वकारका लोप और अनुबन्धका लोप होनेपर (गुण और वृद्धिका) प्रतिषेध न होनेके लिए।

नकारका लोप, सिव् धातुमेंके वकारका लोप और अनुबन्ध (इत्संज्ञक) का लोप होनेपर गुणवृद्धिप्रतिषेध न हो। नुम्लोपका उदाहरण—अभाजि[12], राग, उपबर्हणम्। (सिव्धातुमेंके वकारलोपका उदाहरण—) आस्रेमाणम्[13]। अनुबन्ध लोपका उदाहरण—लूञ् धातुके रूप लविता, लवितुम आदि।

---

९ कण्ड्वादि यगन्त कुपुभ्य और मगध्य इन धातुओंको तृच्, ण्वुल् और 'यस्य हल' सूत्रसे य शब्दका लोप किया जानेसे क्रमसे लघूपध गुण और 'अत उपधाया वृद्धि' इनका प्रतिषेध होता है।

१०. क्यच् प्रत्ययान्त समिध्य और दृषद्य इन धातुओंको क्रमसे तृच्, ण्वुल् प्रत्यय और 'क्यस्य विभाषा' इस सूत्रसे य शब्दका लोप किया जानेपर प्राप्त हुआ गुण और उपधावृद्धि इनका प्रतिषेध किया है।

११ 'जीव प्राणधारणे' इस धातुके आगे 'जीवे रदानु' वचनसे रदानु प्रत्यय और 'लोपो व्यो' से वकारका लोप किया जानेपर इगन्तको प्राप्त हुए गुणका निषेध किया है।

१२ 'नुम्लोप॰' वार्तिकमें नुम् यह पूर्वाचार्योंकी नकारकी संज्ञा समझी जाय। 'भञ्ज्' धातुको कर्मणि लुङ्, च्लि, चिण्, 'भञ्जेश्च चिणि' से नकारका लोप, 'अत उपधाया' से उपधावृद्धि इत्यादि। 'रञ्ज् रागे', घञ्, 'घञि च भाव॰' से नकारका लोप, उपधावृद्धि इत्यादि। 'वृहि वृद्धौ,' नुम् (७।१।५८), उसके बाद ल्युट् 'वृहेरच्यनिटि' वचनसे नकारलोप, लघूपधगुण इत्यादि। इस तरह अभाजि, राग, उपबर्हणम् ये उदाहरण सिद्ध होते हैं। यहाँ उपधावृद्धि और लघूपधगुण इनका प्रकृत सूत्रसे निषेध न हो इसलिए परिगणन करना आवश्यक है।

१३ 'षिवु गतिशोषणयो', दिवादि, आङ् उपसर्ग, 'आतो मनिन्॰', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' से मनिन् प्रत्यय, 'लोपो व्यो' से वकारलोप और गुण। आस्रेमाणम् द्वितीया एकवचन है। छान्दसत्वके कारण वकारको ऊडादेश नहीं किया है।

यदि परिगणनं क्रियते स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथ इत्यत्रापि प्राप्नोति । नक्ष्यत्येतत् । निपातनात्स्यदादिष्विति ॥ तत्तर्हि परिगणनं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । नुम्लोपे कस्मान्न भवति ।

इक्प्रकरणान्नुम्लोपे वृद्धिः ॥ ३ ॥

इग्लक्षणयोर्गुणवृध्द्योः प्रतिषेधो न चैषेग्लक्षणा वृद्धिः ॥ यदीग्लक्षणयोर्गुणवृध्द्योः प्रतिषेधः स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथः इत्यत्र न प्राप्नोति । इह च प्राप्नोति ।

यदि परिगणन किया जाय तो स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः यहाँ भी वृद्धि प्राप्त होती है।

' निपातनसे स्यदः आदि (ऊपरके उदाहरणों) में (वृद्धिविशेष आदि सिद्ध होता है) ' ऐसा (वार्तिककार) आगे कहनेवाले हैं।

तो फिर ऐसा दिखायी देता है कि परिगणन किया जाना चाहिये।

परिगणन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

तो फिर सकारका लोप होनेपर (गुणवृद्धिप्रतिषेध) क्यों नहीं होता है ?

(वा. ३) इक्प्रकरण चालू रहनेके कारण नुमका लोप होनेपर वृद्धि (होती) है।

(इक् पदोपस्थितिका प्रकरण चालू होनेके कारण) जहाँ इक् पदकी उपस्थिति होती है, उस प्रकारकी गुणवृद्धियोंका निषेध है। और प्रकृत उदाहरणमें प्राप्त वृद्धिशास्त्रमें तो इक् पदकी उपस्थिति नहीं होती। (इसीलिए नुमागमका लोप जिस स्थानपर हुआ हो उस स्थानपर (अमार्जि, रागः यहाँ) वृद्धि होती है।)

यदि इक् पदोपस्थितिसे युक्त गुणवृद्धियोंका यह प्रतिषेध हो तो स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः इन उदाहरणोंमें वह प्रतिषेध आ नहीं सकता। और अवोदः, एधः, ओद्मः

---

१४. ' स्यन्द् ' धातुके आगे भावी घञ् प्रत्यय, ' स्यदो जवे ' से नलोपका निपातन। ' श्रन्थ ग्रन्थ संदर्भे ', प्र अथवा हिम शब्द पूर्वमें रखकर भावी घञ् प्रत्यय, ' अवोदैधो० ' से नकारलोप। परिगणन किया जानेपर ऊपरके तीनों उदाहरणोंमें उपधावृद्धि प्रसक्त होती है।

१५. ' स्यदो जवे ', ' अवोदैधोद्मप्रश्रथहिमश्रथाः ' यह निपातन है। केवल नकारलोपके लिए ही यदि यह निपातन हो तो नलोपका विधान करनेसे ही इष्टसिद्धि होती है। तब निपातनसे नलोप और वृद्ध्यभाव ये कार्य सूचित होते हैं ऐसा अभिप्राय है।

१६. ' इक् ' पद ' इको गुणवृद्धी ' परिभाषाका प्रतीक है। ' प्रकरण ' शब्द प्रस्ताव (आरंभ) वाची है। तब पदोपस्थापक इक्परिभाषाका प्रारंभ करके निषेधप्रकरण कहा जानेके कारण जहाँ ' इको गुणवृद्धी ' परिभाषा प्राप्त होती है, उस प्रकारकी गुणवृद्धियोंका यह निषेध है ऐसा समझा जाय।

१७. ' उन्दी क्लेदने ', अवउपसर्ग, घञ्, निपातनसे नकारलोप, लघूपधगुण, ' एङि पररूपम्० ' से पररूप। ' ञि इन्धी दीप्तौ ', घञ्, निपातनसे नलोप और गुण। ' उन्दी क्लेदने ', औणादिक मन् प्रत्यय, निपातनसे नकारलोप और गुण।

अवोदः एधः ओद्म इति ।

निपातनात्स्यदादिषु ॥ ४ ॥

निपातनात्स्यदादिषु प्रतिषेधो भविष्यति न च भविष्यति ॥ यदीग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः स्त्रिव्यनुबन्धलोपे कथम्। स्त्रिवेः आस्त्रेमाणम्। लूञ् लविता।

प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम् ॥ ५ ॥

आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधो न चैष आर्धधातुकनिमित्तो लोपः ॥ यद्यार्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधो जीरदानुः अत्र न प्राप्नोति ।

रक्रि ज्यः प्रसारणम् ॥ ६ ॥

यहाँ वह प्रतिषेध प्राप्त होता है।

(वा. ४) निपातनसे स्यद आदिमें (प्रतिषेध सिद्ध होता है)।

('स्यदो जवे'—६।४।२८, 'अवोदैधौद्मप्रश्रथ०'—६।४।२९ इन सूत्रोंके आचार्यके द्वारा) उच्चारित प्रयोगसे स्यदादिमेंसे स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः इन उदाहरणोंमें प्रतिषेध सिद्ध होगा, (और अवोदः, एधः, ओद्मः यहाँ प्रतिषेध नहीं होगा)।

यद्यपि इक्पदोपस्थितिसे युक्त गुणवृद्धियोंका यह निषेध है ऐसा माना जाय, तो भी स्त्रिव् धातुमेंके वकारके लोप और अनुबंधके लोपके संबंधमें (गुण) कैसे प्रवृत्त होता है?

(वा. ५) प्रत्ययपर अवलंबित रहनेसे अन्य उदाहरणोंमें इष्ट कार्य सिद्ध होता है।

जिस स्थानपर आर्धधातुक प्रत्ययके कारण (धातुमेंके अवयवका) लोप होता है, वहाँ (गुणवृद्धियोंका) निषेध (किया जाता है)[१८]। और (स्त्रिव् धातुमेंके वकारका लोप और अनुबंधका लोप तो) आर्धधातुक प्रत्ययके कारण प्राप्त हुआ लोप नहीं है; (अतः ऊपरके स्थानपर गुण सिद्ध हो रहा है)।

यदि आर्धधातुक प्रत्ययके कारण प्राप्त लोपके स्थानपर ही यह निषेध हो तो 'जीरदानुः' उदाहरणमें (वह गुणनिषेध) हो नहीं सकता।

(वा. ६) 'रक्' प्रत्यय आगे रहनेपर 'ज्या' धातुको संप्रसारण होनेसे (इष्ट रूप सिद्ध होता है)।

---

१८. 'प्रत्ययाश्रयत्वात्' का अर्थ है 'आर्धधातुक प्रत्ययके आश्रयसे लोप हुआ हो।' अर्थात् 'आर्धधातुके' यह लोपका विशेषण है ऐसा तात्पर्य है।

१९. 'आस्त्रेमाणम्', 'लविता, लवितुम्' में।

२०. 'जीरदानुः' में 'जीव्' धातुमेंके वकारका 'लोपो व्यो०' सूत्रसे जो लोप हुआ है वह 'रदानु' प्रत्ययके आधारपर नहीं हुआ है, तो उस प्रत्ययमेंके 'र' वर्णके कारण हुआ है (६।१।६६)।

नैतज्जीवे रूपम् । रक्येतज्ज्य: प्रसारणम् । यावता चेदानीं रकि जीवेरपि सिद्धं भवति ॥ कथमुपबर्हणम् । बृहि. प्रकृत्यन्तरम् । कथं ज्ञायते बृहिः प्रकृत्यन्तरमिति । अचीति हि लोप उच्यते । अनजादावपि दृश्यते । निबृह्यते । अनिटीति चोच्यते । इटादावपि दृश्यते । निबर्हिता निबर्हितुमिति । अजादावपि न दृश्यते । बृहयति बृहकः ॥ तस्मान्नार्थः परिगणनेन ॥ यदि परिगणनं न क्रियते

यह ('जीरदानु' शब्द) 'जीव्' धातुसे नहीं बना है। तो 'ज्या' (धातु) के आगे रक् (प्रत्यय) जोडकर (धातुमें के यकारको) सम्प्रसारण, (पूर्वरूप आदि करनेके बाद 'जीर' शब्दका 'दानु' शब्दके साथ बहुव्रीहि करके यह रूप सिद्ध किया हुआ है)। और 'जीरदानु' रूप यदि 'रक्' प्रत्यय जोड़कर ही सिद्ध करना हो तो 'जीव्' धातुका भी 'जीर' रूप सिद्ध[21] किया जा सकता है।

'उपबर्हण' उदाहरण कैसे समझाया जाय?[22]

बृहि (बृह्) धातुसे 'बृह' यह स्वतन्त्र धातु है उसको 'उपबर्हण' रूप है।

स्वतन्त्र 'बृह्' धातु है, सो कैसे समझा जाय?

(जिसका 'इ' इत् है ऐसे बृहि धातुमेंके नकारका) अजादि प्रत्यय आगे होनेपर लोप होता है ऐसा बताया गया है। परन्तु वह लोप 'निबृह्यते' यहाँ हलादि प्रत्यय आगे रहनेपर भी दिखायी देता है। वैसेहीं (वह अजादि प्रत्यय) इडागमसे आरंभ किया हुआ (इडादि) न हो, ऐसा भी कहा गया है। परन्तु 'निबर्हिता', 'निबर्हितुम्' यहाँ इडागमसे आरंभ किया हुआ अजादि प्रत्यय आगे होनेपर भी नकारका लोप दिखायी देता है। और फिर (इडागमसे प्रारंभ न किया गया) अजादि प्रत्यय आगे होनेपर भी 'बृहयति' 'बृहक' यहाँ नकारका लोप नहीं दिखायी देता है[24]। अत परिगणन करनेसे कुछ भी लाभ नहीं, ऐसा सिद्ध

---

२१ 'जीव्' धातुके आगे रक् प्रत्यय, 'लोपो व्यो' से वलोप और 'क्ङिति च' से गुणनिषेध करनेसे 'जीर' शब्द सिद्ध होता है। अत परिगणन-प्रत्याख्यानके समय उस धातुके कल्पनामात्रसे संप्रसारण करना केवल क्लेश है ऐसा अभिप्राय है। फिर भी 'लोपो व्यो' मेंके वकारप्रत्याख्यानके समय सम्प्रसारणका ही आश्रय लेना पडता है।

२२ यहाँ 'बृहेरच्यनिटि' वचनसे नलोप किया गया है। परिगणन-प्रत्याख्यान किया जाय तो यहाँ गुणनिषेध प्राप्त होता है।

२३ 'बृह्' धातुमें नलोप न होनेसे सीधे ही गुण प्रवृत्त होता है।

२४ 'बृहेरच्यनिटि' वार्तिकसे जिसका इडागमपर आरंभ नहीं हुआ है ऐसा अजादि प्रत्यय आगे रहनेपर 'बृह्' धातुमेंके नकारका लोप कहा है। स्वतन्त्र 'बृह' धातु न मानकर उपबर्हणम् आदि नकाररहित रूप 'बृह्' धातुके ही नकारका लोप करके सिद्ध किये जायँ ऐसा वार्तिककारका अभिप्राय है। परन्तु यह समझा जाय तो भी निबृह्यते, निबर्हिता ये प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे, और वे तो दीख पडते हैं। इससे नकाररहित बृह् धातु है ऐसा अनुमानसे सिद्ध होता है। तब 'उपबर्हणम्' इत्यादि स्थलोंमें नलोप होनेके लिए 'बृहेरच्यनिटि' यह वचन अपूर्व

भेद्यते छेद्यते अत्रापि प्राप्नोति । नैष दोषः । धातुलोप इति नैवं विज्ञायते धातोर्लोपो धातुलोपो धातुलोप इति । कथं तर्हि । धातोर्लोपोऽस्मिंस्तदिदं धातुलोपं धातुलोप इति ॥ तस्मादिग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः ॥ यदि तर्हीग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः पापचकः पापठकः मगधकः दृपदकः अत्र न प्राप्नोति ।

होता है[25] ।

यदि परिगणन न किया जाय तो 'भेद्यते[26]', 'छेद्यते' यहां भी प्रतिषेध प्राप्त होनेका दोष लगता है।

यह दोष नहीं लगता। क्योंकि 'धातुलोपे' यहाँ 'धातोर्लोपः धातुलोपः, तस्मिन् धातुलोपे' इस प्रकार (षष्ठीतत्पुरुष) न लिया जाय। तो कैसे लिया जाय ? 'धातोर्लोपो यस्मिंस्तत् धातुलोपं, तस्मिन् धातुलोपे' इस प्रकार (सप्तमी बहुव्रीहि[27] समास) लिया जाय। तात्पर्य, (परिगणन न लेकर) इक्पदोपस्थितिसे युक्त गुणवृद्धिका ही इस सूत्रद्वारा निषेध किया जाता है (ऐसा सिद्ध हुआ)।

अब यदि इक्पदोपस्थितिसे युक्त गुणवृद्धियोंका ही यह प्रतिषेध है तो पापचकः[28], पापठकः, मगधकः दृपदकः यहाँ (वह निषेध प्राप्त नहीं हो सकता)।

स्वीकृत किया है उसका स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं। उलटे उस वचनकी स्वीकृतिमें 'बृंहयति' प्रयोग प्रतिबंधक है। अतः अनिदित बृह् धातु और इदित् बृहि धातु दोनों प्रयोगमें आते हैं ऐसा समझना चाहिये।

२५. संक्षेपमें, परिगणनके सभी प्रयोगोंका निबटारा अन्य रीतिसे होता है इसीलिए।

२६. 'भिदिर् विदारणे', णिच्, तदन्तको कर्मणि लट्, तङ्, यक्, भिद् इ य ते ऐसा होते हुए लघूपध गुणकी अपेक्षा नित्यत्वके कारण प्रथमतः णिलोप करके उसके बाद प्रत्ययलक्षणसे णिच् प्रत्ययका आश्रय करके प्राप्त होनेवाले लघूपध गुणका निषेध इस सूत्रसे होगा। कारण कि यहाँ णिलोप और गुण ये दोनों प्रक्रियाएँ आर्धधातुकनिमित्तक ही हैं। अतः पूर्वोक्त दोनों पक्षोंमें दोष आता है।

२७. 'धातुलोप' शब्दमें बहुव्रीहि समास लेके वह 'आर्धधातुके' शब्दका विशेषण समझा जाय। अतः लोप और गुणवृद्धी इनका निमित्त समझा गया आर्धधातुक एक होना चाहिये यह सिद्ध होता है। अर्थात् धातुलोपका निमित्तरूप समझा गया जो आर्धधातुक है उस आर्धधातुकसे प्राप्त होनेवाला गुण वा वृद्धि आदेश न किया जाय ऐसा सूत्रका अर्थ होनेसे भेद्यते आदि रूपोंमें णिलोप और गुणका निमित्तरूप समझा गया आर्धधातुक यक् और णिच् भिन्न भिन्न होनेके कारण वहाँ गुणका निषेध नहीं हो सकता है।

२८. यङन्त पापच्य और पापठ्य इन धातुओंके आगे ण्वुल्, अकारका लोपः और 'यस्य हलः' से यकारलोप, कण्ड्वादि यगन्त मगध्य और क्यजन्त दृपद्य इन धातुओंके आगे ण्वुल्, अकारलोप इत्यादि प्रक्रिया यथापूर्व ही समझी जाय।

२९. जहाँ गुणवृद्धियोंका स्थानी प्रत्यक्ष उच्चारित है वहाँ पदोपस्थापक इक्परिभाषा नहीं आ सकती। विधेयसमर्पक 'गुणवृद्धी' शब्दको देखकर स्थानिविशेषबोधक इक्पद उपस्थित होगा

अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात्

अकारलोपे कृते तस्य स्थानिवत्त्वाद्गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

अनारम्भो वा ॥ ७ ॥

अनारम्भो वा पुनरस्य योगस्य न्याय्यः । कथं बेभिदिता मरीमृजकः कुपुमिता समिधितेति । अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद्गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥ यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः । क च

(वा.) अकारके लोपको स्थानिवद्भाव होनेसे (गुण और वृद्धि नहीं होती है)।

('पापचकः' आदि ऊपरके उदाहरणोंमें 'अतो लोपः' इससे) अकारका लोप किया जानेपर उस (अकारलोप) को 'अचः परस्मिन्' इस सूत्रसे स्थानिवद्भाव होनेसे गुणवृद्धियाँ नहीं हो सकेंगी।

(वा. ७) अथवा प्रकृत सूत्रका आरंभ न किया जाय[30]।

अथवा इस प्रकृत सूत्रका आरंभ ही न किया जाय यही न्याय्य है।

तो 'बेभिदिता', 'मरीमृजकः', 'कुपुमिता', 'समिधिता' आदि उदाहरणोंका निर्णय कैसे किया जाय?

यहाँ भी (बेभिद + इता आदि स्थिति होनेपर परत्वके कारण 'यस्य हलः'— ६।४।४९—इस सूत्रसे 'य्' वर्णका लोप किया जानेपर किये हुए) अकार लोपको ('अचः परस्मिन्' इस सूत्रसे) स्थानिवद्भाव होनेके कारण गुणवृद्धियाँ नहीं हो सकेंगी।

तो जहाँ स्थानिवद्भाव नहीं आ सकता उन उदाहरणोंके लिए प्रस्तुत सूत्र किया जाना चाहिये।

और फिर उसका वाक्यार्थमें अन्वय करना। परन्तु इक्पदकी उपस्थिति होनेके ही समय प्रत्यक्ष उच्चारित स्थानीका अन्वय करके वाक्यार्थ हो चुका। उससे गुणवृद्धियोंको स्थानिविशेषकी जो आकांक्षा होती है वह शांत होनेसे परिभाषाकी इक्पदोपस्थापकत्व-शक्ति ही दबायी गयी। अतएव जहाँ स्थानी प्रत्यक्ष उच्चारित हो वहाँ इक्परिभाषा नहीं आ सकती। उपधावृद्धिमें 'अतः' यह स्थानी प्रत्यक्ष उच्चारित होनेसे वह इग्लक्षणवृद्धि नहीं; इससे उसके बारेमें यह प्रतिषेध नहीं आ सकता।

३०. यह निषेधसूत्र करके परिगणन मानना पड़ता है; अथवा इग्लक्षणगुणवृद्धिका ही निषेध होता है ऐसा उसका संकोच करना पड़ता है। पापचकः आदि उदाहरणोंमें जो दोष आता है उसकी गति स्थानिवद्भावसे करनी पड़ती है तो यह निषेधसूत्र ही नहीं चाहिये। इसके उदाहरण स्थानिवद्भावसे सिद्ध किये जायेंगे ऐसा समझकर वार्तिककार प्रतिषेधसूत्रका यह प्रत्याख्यान करते हैं।

स्थानिवद्भावो नास्ति । यत्र हलचोरादेशः । लोलुवः पोपुवः मरीमृजः सरीसृप इति । अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद्गुणवृद्धी न भविष्यतः । लुकि कृते न प्राप्नोति । इदमिह संप्रधार्यम् । लुक्क्रियतामल्लोप इति किमत्र कर्तव्यम् । परत्वादल्लोपः । नित्यो लुक् । कृतेऽप्यल्लोपे प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति । लुगप्यनित्यः । कथम् । अन्यस्य कृतेऽल्लोपे प्राप्नोत्यन्यस्याकृते शब्दान्तरस्य च प्राप्नु-

---

वह स्थानिवद्भाव कहाँ नहीं आ सकता ?

जिस स्थानपर व्यञ्जन और स्वर इन दोनोंको मिलाकर आदेश होता है वहाँ; जैसे, लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः, सरीसृपः आदि।

ऊपरके उदाहरणोंमें भी (यङ् प्रत्ययमेंके) अकारका लोप[32] करके उसको स्थानिवद्भाव करनेसे गुणवृद्धियाँ नहीं होंगी ।

(प्रथमतः 'यङोऽचि च'—२।४।७४—सूत्रसे संपूर्ण 'य' प्रत्ययका) लुक् करनेपर (अकारका लोप) प्राप्त नहीं होता ।

यहाँ यह विचार किया जाय कि ('लोलूय' इस स्थितिमें अच् प्रत्ययको निमित्त मानकर प्रथमतः 'य' का) लुक् किया जाय अथवा (यङ्के) अकारका लोप किया जाय ।

इनमेंसे क्या किया जाय ?

पर होनेके कारण (प्रथमतः यङ्के) अकारका लोप (किया जाय)।

परंतु (यङ्के) अकारका लोप किया हो अथवा न किया हो तो भी प्राप्त होनेके कारण वह लुक् नित्य है न ? (और अकारका लोप तो अनित्य है ।)

लुक् भी अनित्य है ।

सो कैसे ?

(यङ्के अकारका लोप किया जानेपर एकका अर्थात् केवल व्यञ्जनका लुक् प्राप्त होता है और अकारलोप न करनेपर अन्यका अर्थात् 'य' इस समुदायका लुक् प्राप्त होता है और) 'जिस व्यक्तिको लेकर जो विधि बताया गया हो वह विधि उस व्यक्तिके रूपान्तरके स्थानपर प्राप्त होनेपर अनित्य कहलाता है' इसलिए ।

तो ('अतो लोप कदापि अप्राप्त न होनेपर अर्थात् सर्वदा प्राप्त होनेपर

---

३१. लूञ् छेदने, पूञ् पवने, मृज् शुद्धौ, सृप्लृ गतौ, यङ्, द्वित्व । पहले दो स्थलोंमें अभ्यासको गुण होता है और अगले दो स्थानोंमें अभ्यासको 'रीक्' आगम होता है । लोलूय, मरीमृज्य इत्यादि यङन्त धातुओंके आगे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो०' सूत्रसे पचादित्वके कारण अच् प्रत्यय होता है और 'यङोऽचि च' सूत्रसे यकाराकारविशिष्ट यङ्का लुक् होता है ।

३२. 'यस्य हलः' (६।४।४९) सूत्रमेंके 'यस्य' इस विभक्तसूत्रसे यकारका लोप होता है ऐसा अभिप्राय है ।

वन्विधिरनित्यो भवति। अनवकाशस्तर्हि लुक्। सावकाशो लुक्। कोऽवकाशः। अवशिष्टः। अथापि कथंचिदनवकाशो लुक्स्यादेवमपि न दोषः। अल्लोपे योग-विभागः करिष्यते। अतो लोपः। ततो यस्य। यस्य च लोपो भवति। अत इत्येव। किमर्थमिदम्। लुकं वक्ष्यति तद्बाधनार्थम्। ततो हलः। हल उत्तरस्य च यस्य लोपो भवतीति। इहापि तर्हि परत्वाद्योगविभागाद्वा लोपो लुकं बाधेत। कृष्णो

यङ्का) लुक् (कहा जानेके कारण वह) अनवकाश (अर्थात् अचरितार्थ) होता है। अतः निःसंशय वह लुक् लोपको दूर करके पहले होगा।)

(उस यङ्के) लुक् (को स्थान प्राप्त होनेके कारण वह) सावकाश ही है।[34]

वह स्थान कौनसा?

यङ्के अकारका लोप करनेपर उर्वरित यकार यह स्थान है।

अब किसी तरहसे यह लुक् अनवकाश सिद्ध किया जाय तो भी दोष नहीं आता है। (अर्थात् वहाँ 'अतो लोपः' पहले होगा ही।) क्योंकि 'अतो लोपः' के विषयमें योगविभाग (अलग दो सूत्रोंकी रचना) किया जायगा। वह यों है— 'अतो लोपः'के आगे ('यस्य हलः' इनमेंसे) 'यस्य' (इतना ही स्वतंत्र सूत्र माना जाता है)। यहाँ पूर्वसूत्रमेंसे 'अतः' पदकी अनुवृत्ति है ही। अतएव 'य शब्दमेंके अकारका लोप होता है' यही उसका अर्थ है। यह सूत्र किसलिए? 'यङोऽचि च' इस सूत्रसे लुक् बतलाया जानेवाला है, उसका बाध करनेके लिए। उसके आगे 'हलः' सूत्र है। व्यञ्जनके आगेको 'य' शब्दका लोप होता है यही उसका अर्थ है।

यदि यह बात है तो "कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्" (ऋ. सं. १।७९।२) इस वैदिक वाक्यमें 'नोनूय' इस यङन्त धातुसे बने हुऐं 'नोनाव' इस उदाहरणमें भी पर होनेके कारण अथवा योगविभागके कारण अकारका लोप लुक्का बाध करेगा?

---

३३. इस शंकाकारको योगविभागका अज्ञान होनेसे अनवकाशत्वके कारण अल्लोपका लुक् बाधक है ऐसा वह समझता है।

३४. अकारका लोप और यकारका लुक् इस प्रकारका लुक् और लोप इनका भिन्न विषय होनेसे येननाप्राप्तिन्याय लागू नहीं होता है।

३५. 'यङोऽचि' यह, यहाँ यङ्शब्दसे बताया हुआ यकाराकार समुदाय विवक्षित होनेसे अल्लोपोत्तर ताद्दश समुदायका न होनेसे, अनवकाश लुक् है यह तात्पर्य है।

३६. नोनूय यङन्त धातु, यङ्का लुक्, लिट्, णिप्, णल्, वृद्धि इत्यादि। 'कास्प्रत्यया...' (३।१।३५) ऐसा निषेध होनेसे आम् प्रत्ययका अभाव है। यङ्लुक्को सावकाशत्व समझा जाय तो यहाँ परत्वके कारण अकारलोप प्राप्त होता है; और यथाकथंचिद्रीतिसे अनवकाशत्व समझा जाय तो योगविभागसे अकारलोप प्राप्त होता है।

नोनाव वृषभो यदीदम् । नोनूयतेर्नोनाव । समानाश्रयो लुग्लोपेन बाध्यते । कश्च समानाश्रयः । यः प्रत्ययाश्रयः । अत्र च प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्लुग्भवति ॥ कथं स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथः जीरदानुः निकुचित इति ।

उक्तं शेषे ॥ ८ ॥

किमुक्तम् । निपातनात्स्यदादिषु । प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम् । रकि ज्यः प्रसारणमिति । निकुचितेऽप्युक्तं संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति ॥

'अल्लोप' से अपने ही निमित्तके आश्रयसे आनेवाले लुक्की बाधा की जाती है। अपने ही निमित्तके आश्रयसे आनेवाला लुक् कौनसा है? ('यङोचि च'— ५।४।७४—इस सूत्रसे) जो अच् प्रत्ययको निमित्त मानकर विहित है वही। ('नोनाव') इस उदाहरणमें तो 'लिट्' आदि प्रत्ययोत्पत्तिके पहले ही यङ्का लुक् होता है।[37]

(यह निषेध सूत्र नहीं किया गया तो) स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः, जीरदानुः, ये उदाहरण कैसे (सिद्ध होंगे)?

(वा. ८) इस उदाहरणके संबंधमें पहले ही बताया गया है।

क्या बताया गया है? ('स्यदो जवे' 'प्रश्रथहिमश्रथाः' इस) निपातनसे स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः (यहाँ उपधावृद्धिका निषेध होगा)। ('आस्रेमाणम्' यहाँ आर्धधातुक) प्रत्ययके निमित्तसे लोप न होनेके कारण निषेध नहीं होता है। (वैसेही 'जीरदानुः' शब्द 'जीव्' धातुसे बनाया नहीं गया, तो) 'ज्या' धातुके आगे 'रक्' प्रत्यय जोड़कर संप्रसारण आदि होनेसे ('जीर' शब्द बनाया गया है, ऐसा बताया गया है)। 'निकुचितः' (की सिद्धि) के बारेमें भी कहा गया है कि "दोनोंके संबंधपर अधिष्ठित विधि, दोनोंके संबंधका विघात करनेवालेकी सहायता नहीं कर सकता"। (अर्थात् 'निकुचितः' यहाँ 'क्त' प्रत्ययके कित्त्वको निमित्त मानकर बना हुआ नकारका लोप, वह उपधास्थानमें उकार लानेसे उस कित्त्वका विघात करनेवाले 'इदुपधाद्भावा०' (१।१।२१) इस शास्त्रकी सहायता नहीं कर सकता। बीचमें नकार होनेसे उपधास्थानमें उकार नहीं आता। अतः अकित्व न होनेसे गुण नहीं होता।)

---

३७ अनैमित्तिक लुक् अन्तरङ्ग होनेसे पहले होता है, उस समय अल्लोपकी प्राप्ति ही संभवनीय नहीं।

३८. 'क्नमेनन्त' (१।१।३९) सूत्रके बारेमें वार्तिककारोंने 'उदुपधत्वमकित्त्वम-कित्त्वस्य निकुचिते' ऐसा कहा है।

क्ङिति च ॥ १ । १ । ५ ॥

क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणम् ॥ १ ॥

क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम् । क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति वक्तव्यम् ॥ किं प्रयोजनम् ।

उपधारोरवीत्यर्थम् ॥ २ ॥

उपधार्थं रोरवीत्यर्थं च । उपधार्थं तावत् । भिन्नः भिन्नवानिति । किं पुनः कारणं न सिध्यति क्ङितीत्युच्यते । तेन यत्र क्ङिदनन्तरो गुणभाग्यस्ति तत्रैव स्यात् । चितम् स्तुतम् । इह तु न स्यात् । भिन्नः भिन्नवानिति ॥ ननु

(पा. सू. १ १. ५) जिनका गकार, ककार अथवा ङकार इत् है उन प्रत्ययोंके निमित्तसे (होनेवाली इग्लक्षण गुणवृद्धियाँ नहीं होती हैं)।

(वा. १) ककारेत्संज्ञक अथवा ङकारेत्संज्ञक प्रत्यय आगे रहनेपर जो निषेध बताया गया है उसके विषयमें 'तन्निमित्तम्' ऐसा कहा जाय।

ककारेत्संज्ञक अथवा ङकारेत्संज्ञक प्रत्यय आगे होनेपर जो निषेध बताया गया है उसके विषयमें 'तन्निमित्त' ऐसा कहा जाय। अर्थात् कित् अथवा ङित्के कारण जो गुणवृद्धियाँ होती है वे नहीं होतीं ऐसा कहा जाय।

इसका उपयोग क्या है?

(वा. २) उपधा तथा रोरवीतिके लिए।

उपधास्थानमें होनेवाले इक्के विषयमें (निषेध प्रवृत्त हो), और रोरवीति इस उदाहरणमें (निषेध प्रवृत्त न हो)। उपान्त्य इक्के विषयका उदाहरण—भिन्नः, भिन्नवान् इत्यादि।

परन्तु यह उदाहरण सिद्ध क्यों नहीं होता?

'क्ङिति अर्थात् ककारेत्संज्ञक अथवा ङकारेत्संज्ञक प्रत्यय आगे होनेपर' ऐसा बताया गया है। अतः जहाँ कित्ङित् प्रत्ययके पीछे बिलकुल निकट (अव्यवहित) गुण होने योग्य अर्थात् इक् हो, वहीं निषेध प्रवृत्त होगा, जैसे, चितम्, स्तुतम् आदि, और भिन्नः, भिन्नवान् यहाँ निषेध प्रवृत्त नहीं होगा।

परन्तु जिसको गुण बताया जाता है उसे 'कित् ङित् प्रत्यय आगे होनेपर' यह विशेषण हम लगा देंगे। अन्तमें पुगागम होनेवाले अथवा अन्तिम वर्णके अत्यत

---

१ 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) इस परिभाषासे इक्को होनेवाले जो गुण और वृद्धि आदेश हैं वे इग्लक्षण गुण और वृद्धि हैं।

२. कित् अथवा ङित् प्रत्यय आगे रहनेपर गुण-वृद्धियाँ नहीं होती हैं ऐसा कहा जाय तो किसको नहीं होतीं यह आकांक्षा निर्माण होती है। 'पुगन्त लघूपध इत्यादि जिसको वे कहे हों उसको' ऐसा समझकर उस आकांक्षाका निराकरण किया जा सकता है। तब निःसंशय उसको विशेषण लगाया जा सकता है।

च यस्य गुण उच्यते तत्किङत्परत्वेन विशेषयिष्यामः । पुगन्तलघूपधस्य च गुण उच्यते तच्चात्र क्ङित्परम् । पुगन्तलघूपधस्येति नैव विज्ञायते पुगन्तस्याङ्गस्य लघूपधस्य चेति । कथं तर्हि । पुक्यन्तः पुगन्तः । लघ्व्युपधा लघूपधा । पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधं पुगन्तलघूपधस्येति । अवश्यं चैतदेव विज्ञेयम् । अङ्गविशेषणे हि सतीह प्रसज्येत । भिनत्ति छिनत्तीति ॥ रोरवीत्यर्थं च । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥ यदि तन्निमित्तग्रहणं क्रियते शचडन्ते दोषः । रियति

निकट पीछे लघु होनेवाले (अंगको) गुण कहा गया है। वह अंग तो कित्‌डित् प्रत्ययके पीछे अत्यंत निकट ऐसा यहाँ है ही। (अर्थात् कित्‌डित् प्रत्यय आगे होनेपर उसके पीछे अत्यंत निकट लघूपध अंग होनेके कारण भिन्न. आदि स्थानोंपर गुण-निषेध सिद्ध होता है।)

'पुगन्तलघूपधस्य' इस पदका 'पुगागम अन्तमें होनेवाले अथवा उपधास्थानमें लघु होनेवाले अंगको' ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिये[3]। तो फिर कैसा समझा जाय? पुकि अन्तः पुगन्तः, लघ्वी उपधा लघूपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधं, तस्य पुगन्तलघूपधस्य ऐसा। अर्थात् पुगागम आगे होनेपर उसके पीछे जो अन्तिम वर्ण हैं उसे अथवा लघु जो उपान्त्य वर्ण है उसे ऐसा अर्थ समझा जाय। यही अर्थ अवश्य मानना चाहिये। कारण कि ('कित्‌डित् प्रत्यय आगे होनेपर' यह) अगको विशेषण लगाया जाय तो 'भिनत्ति, छिनत्ति' यहाँ भी गुण प्रसक्त होगा।

'रोरवीति' यह निषेधाप्रवृत्तिका उदाहरण है—त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति।

---

३ वैसा अर्थ समझा जाय तो 'भिन्न' इस उदाहरणमें 'भिद्' अंग और 'त' प्रत्यय इन दोनोंमें व्यवधान न होनेसे प्रकृत सूत्रसे गुणका निषेध हुआ होता।

४ इस अर्थमें गुण जिस वर्णको कहा है वह वर्ण। अर्थात् 'भिद्' धातुमेंका इकार और 'त' प्रत्यय इन दोनोंमें दकारसे व्यवधान होनेके कारण प्रकृत सूत्रसे गुणका निषेध नहीं होगा, इसलिए तन्निमित्तग्रहण करना चाहिये ऐसा सिद्ध होता है।

५ 'रोरवीति' प्रयोग यङ्लुगन्तका है। 'रोरूय' इस यङन्तधातुमेंके यङ् प्रत्ययका 'यङोऽचि च' (२।४।७४) सूत्रसे लुक् हुआ है। उसके बाद रोरूयको, अगले तिप् प्रत्ययको मानकर, 'सार्वधातु०' (७।३।८४) सूत्रसे गुण हुआ है। 'प्रत्ययलोपे' (१।१।६२) सूत्रसे प्रत्ययलक्षण करनेपर 'रोरु' के आगे यङ् प्रत्यय है ऐसा माना जाता है। प्रकृतसूत्रसे कहा हुआ निषेध अंगाधिकारमेंका न होनेके कारण नलुमताङ्गस्य (१।१।६३) यह प्रत्ययलक्षणका निषेध यहाँ प्रवृत्त नहीं होता है ऐसा वार्तिककारोंका अभिप्राय है। तब वह यङ् प्रत्यय ङित् होनेके कारण प्रकृत सूत्रसे गुणका निषेध होगा। तन्निमित्त ग्रहण करनेसे यह दोष नहीं उत्पन्न होता है। कारण कि यह गुण यङ् प्रत्ययको मानकर आया हुआ है।

पियति धियति। प्रादुद्रुवत् प्रासुस्रुवत्। अत्र प्राप्नोति।

शचङन्तस्यान्तरङ्गलक्षणत्वात् ॥ ३ ॥

अन्तरङ्गलक्षणत्वादत्रेयङुवङोः कृतयोरनुपधात्वाद् गुणो न भविष्यति। एवं क्रियते चेदं तन्निमित्तग्रहणं न च कश्चिद्दोषो भवति॥ इमानि च भूयस्तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि। हतः हथः उपोयते औयत लौयमानिः पौयमानिः नेनिक्त

यदि (कित् अथवा ङित् प्रत्ययको निमित्त मानकर आनेवाला गुण वा वृद्धि न की जाय इस अर्थका) तन्निमित्तग्रहण किया जाता है तो शप्रत्ययान्त और चङ्-प्रत्ययान्तके विषयमें दोष आता है; जैसे,—रियति[१], पियति, धियति। प्रादुद्रुवत्, प्रासुस्रुवत् इन उदाहरणोंमें दोष आता है (अर्थात् गुणनिषेध प्राप्त नहीं होता है)।

(वा. ३) 'श' तथा 'चङन्त' के विषयमें अन्तरङ्गत्वसे दोष नहीं आता है।

शचङन्त स्थानपर (पूर्वोपस्थित निमित्तकस्वरूप) अंतरंगत्वके कारण इयङ् उवङ् किया जानेपर उपधास्थानमें इक् न होनेके कारण गुण नहीं होगा। तात्पर्य, यह जो 'तन्निमित्त' का ग्रहण किया है, सो ठीक है। और (वैसा करनेमें) कोई दोष भी नहीं लगता।

कित्ङित्प्रत्ययनिमित्तक (गुण वा वृद्धि नहीं होती है ऐसा कहनेके) ये और भी फल हैं। उदाहरणार्थ,—हतः, हथः, उपोयते, औयत, लौयमानिः, पौयमानिः, *नेनिक्ते*।

---

१. षष्ठ गणमेंके 'रि' धातुके आगे लट्, तिप् और बीचमें 'श' यह विकरणप्रत्यय होता है। उस विकरणप्रत्ययको मानकर 'रि' इस इकारको 'सार्वधातु०' (७।३।८४) सूत्रसे गुण हुआ है। और 'रि अ' यह लघूपध अंग होनेके कारण 'पुगन्त०' (७।३।८६) सूत्रसे गुण प्राप्त हुआ है। इन दोनों गुणोंका प्रकृत सूत्रसे निषेध होता है। कारण कि 'श' यह विकरणप्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) सूत्रसे ङित् समझा जाता है। तदनन्तर इयङ् होकर 'रियति' रूप होता है। यदि प्रकृतसूत्रमें तन्निमित्तग्रहण किया जाय तो तिप् प्रत्ययको मानकर प्राप्त हुए लघूपधगुणका निषेध नहीं होगा। 'पियति', 'धियति' रूपोंमें भी यही समझा जाय। 'प्रादुद्रुवत्', 'प्रासुस्रुवत्' रूपोंमें 'द्रु' और 'स्रु' धातुओंके आगे लुङ्, तिप् और बीचमें 'णिश्रिद्रुस्रु०' (३।१।४८) सूत्रसे 'चङ्' यह विकरणप्रत्यय हुआ है। उसके बाद 'चङि' (६।१।११) सूत्रसे द्वित्व और उवङ् करके प्रादुद्रुवत् आदि रूप सिद्ध होते हैं। यहाँ भी 'रियति' की तरह ही प्रकृतसूत्रसे दोनों गुणोंका निषेध होता है।

७. 'श' और 'चङ्' प्रत्ययोंको मानकर इयङ् और उवङ् प्राप्त हुए हैं इसलिए ये अंतरंग हैं। और उसके आगेके तिप् प्रत्ययको मानकर लघूपध गुण प्राप्त होता है इसलिए वह बहिरंग है। तब अंतरंगत्वके कारण इयङ् और उवङ् ये गुणका बाध करके पहले होते हैं।

८. तन्निमित्तग्रहण न किया जाय तो इस प्रकृत सूत्रसे कित् और ङित् प्रत्ययोंके पहले

इति । नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । इह तावत् हतः हथ इति प्रसक्तस्यानभि-
निर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुमन च धातूपदेशावस्थायामेवाकारः ॥ इह
चोपोयते औयत लौयमानिः पौयमानिरिति बहिरङ्गे गुणवृद्धी अन्तरङ्गः प्रतिषेधः ।
असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ नेनिक्त इति परेण रूपेण व्यवहितत्वान्न भविष्यति ॥

'तन्निमित्त' ग्रहणके ये फल नहीं हो सकते । ऊपरके उदाहरणोंमें 'हतः,
हथः' यह फल नहीं है । कारण कि प्राप्त होनेपर लक्ष्यमें प्रसक्त न होनेवाले (ऐसे ही
गुण और वृद्धिकी) निवृत्ति प्रतिषेधद्वारा करना संभव है, और प्रस्तुत (उदाहरणों)
में तो धातुके उच्चारणके ही समय 'अ' कार है ।

उपोयते, औयत, लौयमानिः, पौयमानिः यहां भी ('तन्निमित्त' ग्रहणका
फल नहीं है), क्योंकि (उभयपदों का आश्रय होनेके कारण) गुण बहिरंग हैं ।
(वैसेही कित् प्रत्ययोंसे भिन्न लङ् आर तद्धितप्रत्ययोंकी अपेक्षा होनेके कारण वृद्धि
बहिरंग है) और (उसके विरुद्ध) प्रतिषेध अंतरंग है । और जब अंतरंग कर्तव्य
हो तब बहिरंग असिद्ध होता है (इससे गुणवृद्धियोंका निषेध नहीं आ सकता) ।

प्रत्ययोंके पहले गुणवृद्धियोंका
गुणवृद्धियोंका निषेध किया जानेसे निःसंशय कित् और ङित् प्रत्ययोंके पहले गुणवृद्धियोंका इस ङित्
उच्चारण किया जाय तो यह प्रयोग असाधु होता है । अतएव 'हत' प्रयोगमें 'तस्' इस ङित्
प्रत्ययके पहले ह्रस्व अकारका उच्चारण होनेके कारण यह प्रयोग असाधु होगा । कारण कि ह्रस्व
अकारको गुणसंज्ञा है । तन्निमित्तग्रहण किया जाय तो यह दोष नहीं आता है । क्योंकि ह्रस्व
अकार 'तस्' इस ङित् प्रत्ययके निमित्तसे नहीं हुआ है । वह मूलका ही है । 'उपोयते' यहाँ
'वे' धातु, आत्व, कर्मणि लट्, 'त' प्रत्यय, एत्व, यक् और संप्रसारण होके 'ऊयते' क्रियापद
बना है । 'उप' उपसर्ग लगानेसे संधि होकर गुण हुआ है । 'औयत' क्रियापद 'वे' धातु,
आत्व, कर्मणि लङ्, 'त' प्रत्यय, यक्, आडागम और वृद्धि होके सिद्ध हुआ है । 'उपोयते'
उदाहरणमें गुण और 'औयत' उदाहरणमें वृद्धि, यक् इस कित् प्रत्ययके पूर्व होनेके कारण प्रस्तुत
सूत्रसे निषेध होगा । तन्निमित्तग्रहण किया जानेपर यह दोष नहीं आता है । क्योंकि यक् इस
कित् प्रत्ययके निमित्तसे गुण और वृद्धि यहाँ नहीं होती है । 'लौयमानिः' उदाहरणमें 'लू'
धातुके आगे कर्मणि लट्, शानच्, बीचमें यक् विकरणप्रत्यय और मुक् आगम हुआ है । तदनन्तर
'लूयमान' शब्दके आगे 'अत इञ्' (४।१) सूत्रसे 'इञ्' तद्धित प्रत्यय होता है और उस
प्रत्ययके कारण 'लू' के ऊकारको वृद्धि होती है । प्रस्तुत सूत्रमें तन्निमित्त ग्रहण न किया जाय
तो 'यक्' इस कित् प्रत्ययके पहले 'औ' यह वृद्धि होनेके कारण प्रस्तुत सूत्रसे उसका निषेध
होगा । तन्निमित्तग्रहण किया जानेपर यह दोष नहीं आता है । कारण कि 'औ' यह वृद्धि
'यक्' इस कित् प्रत्ययको मानकर होनेवाली नहीं है । 'निज्' धातु, लट्, त प्रत्यय, श्लु,
शप्, श्लु, द्वित्व और 'निजां त्रयाणाम्' (७।४।७५) सूत्रसे अभ्यासको गुण इसके निमित्त
होकर 'नेनिक्ते' क्रियापद सिद्ध हुआ है । यह गुण 'त' इस ङित् प्रत्ययके निमित्तसे होनेवाला
नहीं इसलिए प्रस्तुत सूत्रसे उसका निषेध नहीं होता है ।

उपधार्थेन तावन्नार्थः । धातोरिति वर्तते । धातुं क्ङित्परत्वेन विशेषयिष्यामः । यदि धातुर्विशेष्यते विकरणस्य न प्राप्नोति । चिनुतः सुनुतः लुनीतः पुनीत इति । नैष दोषः । विहितविशेषणं धातुग्रहणम् । धातोर्यो विहित इति । धातोरेव तर्हि न प्राप्नोति । नैवं विज्ञायते धातोर्विहितस्य क्ङितीति । कथं तर्हि । धातोर्विहिते क्ङितीति ॥ अथवा कार्यकाल हि संज्ञापरिभाषं यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम् । पुगन्त-

---

वैसेही 'नेनिक्ते' (भी फल नहीं है। क्योंकि) उत्तरखंडका व्यवधान होनेके कारण (अभ्यासको गुणनिषेध) नहीं होगा। उपधास्थानमें (होनेवाले इक्के स्थानपर निषेध प्रवृत्त होनेके लिए भी 'तन्निमित्त ' ग्रहणका) उपयोग नहीं होता। (क्योंकि पूर्वसूत्रसे) धातुग्रहणकी अनुवृत्ति आती है। उस धातुको 'कित्ङित् प्रत्यय आगे होनेपर' यह विशेषण लागू किया जाता है।"[11]

यदि 'कित् अथवा ङित् प्रत्यय आगे होनेपर' यह विशेषण धातुको लगाया जाता है तो चिनुतः, सुनुतः, लुनीतः, पुनीतः यहाँ विकरणको (गुणनिषेध) प्राप्त नहीं हो सकता।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'धातु' शब्द विहित विशेषण है। (विहित अर्थात् किया हुआ।) धातुसे किया हुआ (जो कोई प्रत्यय है उसे कित् ङित् प्रत्यय आगे होनेपर निषेध होता है ऐसा अर्थ है)।

ऐसा कहनेपर धातुको ही निषेध लागू नहीं होता।

कित् ङित् प्रत्यय आगे होनेपर उसके पीछेका धातुसे किया हुआ जो प्रत्यय है उसे, ऐसा अर्थ नहीं समझा जाता। तो फिर कैसा? धातुसे किया हुआ जो कित् ङित् प्रत्यय है वह आगे होनेपर, ऐसा। (एवं आगे होनेवाला जो कित् अथवा ङित् प्रत्यय है, उस प्रत्ययको 'धातुग्रहण' यह विशेषण दिया गया है। अर्थात् धातुसे किया हुआ जो कित् अथवा ङित् प्रत्यय है वह जिसके आगे होगा उसे गुण तथा वृद्धि न की जाय ऐसा सूत्रार्थ सिद्ध होता है।)

अथवा "संज्ञा अथवा परिभाषाका कार्यसे आकर्षण किया जानेसे जिस

---

९ अतः तन्निमित्तग्रहण न किया जानेपर भी यह दोष नहीं आता है।

१०. वार्तिककारने तन्निमित्तग्रहण करके उसका 'उपधारोरवीत्यर्थम्' ऐसा दो स्थानों-पर उपयोग दिखाया है। भाष्यकारने उस तन्निमित्तग्रहणका इन, इथ इत्यादि कई उदाहरणोंमें उपयोग होता है ऐसा दिखाकर उन उदाहरणोंकी सिद्धि तन्निमित्तग्रहणके बिना भी होती है यह अबतक बताया है। अब वार्तिककारोंके दिखाये हुए उपयोग भी ठीक नहीं हैं ऐसा प्रतिपादन भाष्यकार यहाँसे करते हैं।

११. अत 'भिन्न' उदाहरणमें 'त' यह कित् प्रत्यय और इकार इन दोनोंमें इकारसे व्यवधान है तो भी 'भिद्' धातु और 'त' यह कित् प्रत्यय इनमें व्यवधान न होनेसे निषेध सिद्ध होता है।

लघूपधस्य गुणो भवतीत्युपस्थितमिदं भवति क्ङिति नेति ॥ अथवा यदेतस्मिन्योगे क्ङिद्ग्रहणं तदनवकाशं तस्यानवकाशत्वाद्गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥ अथवाचार्य-प्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्य प्रतिषेध इति यदयं त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः [३.२.१४०] इको झल्हलन्ताच्च [१.२.९; १०] इति क्नुसनौ कितौ करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। कित्करण एतत्प्रयोजनं गुणः कथं न स्यादिति। यदि चात्र गुणप्रतिषेधो न स्यात्कित्करणमनर्थकं स्यात्। पश्यति त्वाचार्यो

प्रदेशमें कार्य हो उस प्रदेशमें संज्ञा अथवा परिभाषा उपस्थित होती है" ऐसा समझा जाय। इस न्यायके अनुसार 'पुगागमके पीछे जो अन्तिम है उसको अथवा लघु उपान्त्यको गुण होता है' (ऐसा विधान जिस पुगन्त---७।३।८६---सूत्रमें किया है उस स्थानपर) 'क्ङिति न' यह पदद्वय उपस्थित होता है। (अतः व्यवधान होनेपर भी जिस तरह इस सूत्रसे गुण प्रवृत्त होता है, उसी तरह यहाँ उपस्थित निषेध भी व्यवधानमें प्रवृत्त होता है। अर्थात् 'गुणवृद्धी' इस पदसे चिह्नित ऐसी 'क्ङिति च' यह परिभाषा है।)

अथवा (इस प्रतिषेधको प्रतिषेध्यकी आकांक्षा होनेके कारण जितने प्रकारके प्रतिषेध्य गुण या वृद्धियाँ हैं उतने 'क्ङिति च' ये प्रतिषेधसूत्रं बने। उनमें) पुगन्तलघूपधगुणके निषधके विषयमें जो 'क्ङिति च' यह एक अलग सूत्र बना वह अचरितार्थ होता है। और वह अचरितार्थ होनेके कारण (व्यवधान होनेपर भी) गुण या वृद्धि नहीं होगी।

अथवा जब कि ये आचार्य (पाणिनि) 'त्रसिगृधि धृषिक्षिपेः क्नुः' (३।२।१४०) इस सूत्रसे बताये गये 'क्नु' प्रत्ययको इत्संज्ञक ककार जोड़ते है, तथा 'इको झल्' (१।२।९) के अगले 'हलन्ताच्च' (१।२।१०) इस सूत्रसे सन् प्रत्ययको कित्त्वका अतिदेश करते है, तब उपधालक्षण गुणका भी 'क्ङिति च' यह निषेध होता है, ऐसा वे सूचित करते हैं,। यह कैसे सूचित होता है? उन प्रत्ययोंको कित्त्व करनेका यह उपयोग है कि उससे गुण कदापि नहीं होना चाहिये। अतः यदि इन क्नु और सन् प्रत्ययोंके उदाहरणोंमें निषेध प्रवृत्त नहीं होगा तो (उन प्रत्ययोंको) किया हुआ कित्त्व विफल होगा। इससे उपधाको होनेवाले गुणका भी निषेध होता है ऐसा आचार्य मानते हे, अतएव क्नु और सन् इन प्रत्ययोंका कित्त्व करते हैं।

१२ 'क्ङिति च' यह यद्यपि एक ही सूत्र है तो भी उस एकके अनेक सूत्र बनते हैं, और गुण तथा वृद्धि कहनेवाले प्रत्येक सूत्रसे 'क्ङिति च' इस एकेक सूत्रका संबंध होता है।

१३. 'गृध्नु' आदि 'क्नु' प्रत्ययके उदाहरणोंमें और 'मुमुक्षति' आदि 'सन्' प्रत्ययके उदाहरणोंमें धकार आदि व्यञ्जनने कायमका व्यवधान होनेके कारण प्रकृत सूत्रसे निषेध नहीं होगा।

भवत्युपधालक्षणस्य प्रतिषेध इति ततः क्नुसनी क्नितो करोति ॥ रोरवीत्यर्थेनापि नार्थः। क्ङितीत्युच्यते न चात्र क्ङितं पश्यामः। प्रत्ययलक्षणेन प्राप्नोति। न लुमता तस्मिन्निति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः। अथापि न लुमताङ्गस्येत्युच्यते। एवमपि न दोषः। कथम्। न लुमता लुप्तेऽङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते। किं तर्हि। योऽसौ लुमता लुप्यते तस्मिन्यदङ्गं तस्य यत्कार्यं तन्न भवतीति। अथाप्यङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते एवमपि न दोषः। कथम्। कार्यकालं हि संज्ञापरिभाषं यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्। सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो भवतीत्युपस्थितमिदं भवति

'रोरवीति' इस उदाहरणके लिए भी (तन्निमित्तग्रहणका) उपयोग नहीं होता। क्योंकि 'कित् वा ङित् प्रत्यय आगे होनेपर' ऐसा कहा गया है और उदाहरणमें तो कित् वा ङित् प्रत्यय कोई भी नहीं दीखता। (तब यहाँ निषेध कैसे आ सकता है?)

प्रत्ययलक्षणसे (यङ् प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर निषेध) प्राप्त होता है।[14]

(यङ्का लुक् होनेके कारण 'लुमत् शब्दसे प्रत्ययोंका अदर्शन होनेपर उस प्रत्ययके कारण आनेवाला कार्य न किया जाय' इस अर्थके) 'न लुमता तस्मिन्' (१।१।६३) इस सूत्रसे प्रत्ययलक्षणका निषेध किया गया है। अब यद्यपि 'न लुमताङ्गस्य' ऐसा (पाणिनिसंमत) सूत्रपाठ गृहीत माना जाय तो भी दोष नहीं आता। सो कैसे? 'न लुमता०' इस सूत्रमेंके 'अङ्गस्य' इस शब्दसे 'अंगाधिकार' यह अर्थ नहीं दिखाया जाता। तो फिर क्या दिखाया जाता है? "यह जो लुमत् शब्दसे लुप्त होता है उस प्रत्ययके कारण अंगसंज्ञा पाये हुए शब्दस्वरूपको उस प्रत्ययके कारण जो कार्य प्राप्त होता है, (फिर वह चाहे अंगाधिकार हो वा न हो,) वह नहीं होता है।" (ऐसा दर्शाया जाता है)। अब 'अङ्ग' शब्दसे अंगाधिकार दर्शाया जाता है ऐसा कहा जाय तो भी दोष नहीं आता। सो कैसे? संज्ञा और परिभाषा, कार्यद्वारा आकर्षित की जानेके कारण जहाँ वह कार्य (पठित है) वहाँ वह है ऐसा माना जाय। अतः सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक (प्रत्यय) आगे होनेपर गुण होता है (ऐसा विधान जहाँ किया है) उस स्थानपर (७।३।८४) 'क्ङिति च'[16] यह उपस्थित होता है।

---

१४. इसी सूत्रकी टिप्पणी ५ देखिये।

१५. 'न लुमताङ्गस्य' (१।१।६३) सूत्रमेंके 'अङ्गस्य' पदके स्थानमें 'तस्मिन्' पद रखनेके बारेमें वार्तिककारोंने उस सूत्रपर विचार किया है। तब 'क्ङिति च' यह प्रकृत निषेधसूत्र यद्यपि अंगाधिकारमें नहीं तो भी यहाँ प्रत्ययलक्षणका निषेध होगा।

१६ तब 'क्ङिति च' यह प्रकृत निषेध भी विधिके अनुसार अंगाधिकारस्थ होनेके कारण प्रत्ययलक्षणका निषेध प्रवृत्त होता है। अतः 'क्ङित्' प्रत्यय आगे है ऐसा नहीं समझा जानेसे प्रकृतनिषेधकी प्रवृत्ति नहीं होती है और गुण होकर 'रोरवीति' उदाहरण सिद्ध होता है।

क्ङिति नेति ॥ अथवा छान्दसमेतद्दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति ॥ अथवा बहिरङ्गो गुणोऽन्तरङ्गः प्रतिषेधः । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ अथवा पूर्वस्मिन्योगे यदार्धधातुकग्रहणं तदनवकाशं तस्यानवकाशत्वाद्गुणो भविष्यति ॥

इह कस्मान्न भवति । लैगवायनः । कामयते ।

अथवा (रोरवीति) यह (उदाहरण) छान्दस (वैदिक) है, और वैदिक उदाहरणमें दृष्ट (होनेवाले कार्य) को लक्ष्य करके विधान करना होता है (ऐसा नियम है । इसीलिए ऊपरके उदाहरणमें निषेध प्रवृत्त न होनेके कारण गुण होगा ।)

अथवा (निषेधका कारण बननेवाले यङ्प्रत्ययसे बाहर होनेवाले तिप् प्रत्ययके कारण प्राप्त होनेसे) गुण बहिरंग है । और निषेध अंतरंग है । अतः "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" (इस परिभाषासे बहिरंग गुण न दिखाई देनेके कारण उसका निषेध नहीं हो सकता ।)

अथवा ('न धातुलोपे' इस) पूर्वसूत्रमें किया हुआ जो आर्धधातुक शब्द (उसका कुछ उपयोग न होनेके कारण) वह अनवकाश होता है । वह अनवकाश होनेसे (उसके बलपर रोरवीति इस स्थानपर 'क्ङिति च' इस प्रकृत निषेधको हटाकर) गुण होगा ।[17]

'लैगवायनः', 'कामयते' इन उदाहरणोंमें (ककारेत्संज्ञक और ङकारेत्संज्ञक प्रत्ययके कारण क्रमसे आदिवृद्धि—७।२।११७—और उपधावृद्धि—७।२।११६—का निषेध) क्यों नहीं होता ?

---

१७ पूर्वसूत्रमें आर्धधातुकग्रहण न किया जाय तो धातुस्वरका लोप होनेपर गुणवृद्धियाँ नहीं होती हैं इतना ही वाक्यार्थ होगा, और 'रोरवीति' उदाहरणमें गुणका निषेध होने लगेगा वह न हो इसलिए आर्धधातुकग्रहण किया है । यङ्लुगन्तके प्रयोग लौकिक भाषामें न होनेके कारण 'रोरवीति' इस प्रकारके वैदिक प्रयोगमें ही आर्धधातुकग्रहणका उपयोग दिखाना पड़ता है । परन्तु उस स्थानपर यदि प्रकृत सूत्रसे निषेध होगा तो पूर्वसूत्रमें आर्धधातुकग्रहण करके भी 'रोरवीति' रूप सिद्ध न होनेसे आर्धधातुकग्रहण व्यर्थ होता है । तब उसके बलपर प्रकृत सूत्रसे प्राप्त हुआ निषेध भी उक्त उदाहरणोंमें एक ओर हटता है ।

१८. तन्निमित्तग्रहण किया जानेपर (रियति अशुश्रवत् इत्यादि स्थलोंमें) जो दोष आता है उसका वार्तिककारोंने '[illegible]' ऐसा निराकरण किया है । इसी तरह 'लैगवायन' इत्यादि उदाहरणोंमें जो दोष आता है उसका निराकरण वार्तिककार करते हैं । 'लैगवायन' उदाहरणमें 'लिगु' शब्दमेंके इकारको आयन इस कित् प्रत्ययके निमित्त जो वृद्धि होती है उसका प्रकृत सूत्रसे निषेध नहीं होता है, कारण कि गकार, उकार इन वर्णोंसे व्यवधान है । वैसेही 'कामयते' रूपमें 'कम्' धातुके आगे णिङ् प्रत्यय लगाया जानेपर 'कम्' मेंके अकारको णिङ् प्रत्ययसे जो वृद्धि होती है उसका भी निषेध नहीं होता है, क्योंकि मकारसे व्यवधान है । पर यदि तन्निमित्तग्रहण किया गया तो उपर्युक्त उदाहरणोंमें निषेध होगा यह दोष आता है ।

तद्धितकाम्योरिक्प्रकरणात् ॥ ४ ॥

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधो न चैते इग्लक्षणे ॥

लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्गः । लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावः प्राप्नोति । अचिनवम् । असुनवम् । अकरवम् ।

लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्ग इति चेद्यासुटो ङिद्वचनात्सिद्धम् ॥ ५ ॥

यदयं यासुटो ङिद्वचनं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न ङिदादेशा ङितो

(वा. ४) तद्धितवृद्धि और कम् धातुकी वृद्धि इक् प्रकरणमें कही जानेसे (प्रकृत निषेध आ सकता)।

इक् पदोपस्थितिसे युक्त गुणवृद्धियोंका ही प्रकृत सूत्रसे निषेध किया गया है। और ये (आदिवृद्धि और उपधावृद्धि) इक्पदोपस्थितिसे युक्त नहीं हैं। (अतः 'लैगवायनः' और 'कामयते' यहाँ प्रकृत निषेध नहीं आ सकता।)

(वा.) लकार ङित् होनेसे उसके आदेशोंमें स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है*।

अचिनवम्, असुनवम्, अकरवम् इन उदाहरणोंमें (स्थानीभूत) लकार ङित् (जिसका ङकार इत्संज्ञक है ऐसा) होनेसे वह (ङकारेत्संज्ञकत्व) उसके आदेशोंके स्थानपर स्थानिवद्भावसे प्राप्त होता है। (तब गुणनिषेध प्रसक्त होता है।)

(वा. ५) लकारको इत्संज्ञक ङकार जोड़ा जानेके कारण उसके आदेशोंके विषयमें स्थानिवद्भाव अतिप्रसक्त होता है ऐसा कहना हो तो यासुडागमको ङिद्भाव कहनेसे इष्ट (ज्ञापन) सिद्ध होता है।

(लकारको इत्संज्ञक ङकार जोड़ा जानेके कारण उसके आदेशके विषयमें स्थानिवद्भाव अतिप्रसक्त होता है ऐसा कहना हो तो) जब कि ये आचार्य (लिङ्के आदेशको) यासुडागमका विधान करके उसको ङकारेत्संज्ञकत्वका अतिदेश करते है (३।४।१०३), तब ङकारेत्संज्ञकके स्थानपर किये हुए आदेश (स्थानिवद्भावसे) ङित् नहीं होते है ऐसा सुझाते है।

---

१९ पाणिनिने 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) प्रकरण प्रस्तुत किया है और उसमें प्रकृत निषेधसूत्र रखा जानेसे तद्धितप्रत्ययका उदाहरण और कामि इन स्थलोंपर दोष नहीं आता है।

* काशीप्रतिमें यह वाक्य वार्तिकके रूपमें बताया गया है।

२०. लट्, लिट् इत्यादि दस लकारोंमें लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ् ये चार लकार पाणिनिने ङित् किये हैं। 'अचिनवम्' यहाँ 'चि' धातु, उसको आगे लङ् प्रत्यय, उसको परस्मैपद उत्तम पुरुष एकवचन मिप्, उसको अम् आदेश, 'श्नु' यह विकरणप्रत्यय, अडागम और श्नुको गुण अवादेश हुआ है। 'अकरवम्'में विकरण 'उ' प्रत्यय है।

भवन्तीति । यद्येतज्ज्ञाप्यते कथ नित्यं ङितः [३.४ ९९] इतश्च [१००] इति । ङितो यत्कार्यं तद्भवति ङिति यत्कार्यं तन्न भवतीति । किं वक्तव्यमेतत् । न हि । कथमनुच्यमान गस्यते । यासुट एव ङिद्वचनात् । अपर्याप्तश्चैव हि यासुट् समुदायस्य ङित्त्वे ङित चैन करोति । तस्यैतत्प्रयोजन ङितो यत्कार्यं तद्यथा स्यात् । ङिति यत्कार्यं तन्मा भूदिति ॥

यदि ऐसा (ङित्के आदेश ङित् नहीं होते ऐसा सामान्यतः) सुझाया जाता है तो—'नित्य ङितः' (३।४।९९) और 'इतश्च' (३।४।१००) इन सूत्रोंसे ('भवेम' और 'भवेत्' इन उदाहरणोंमें सकार और इकार इनका लोप कैसे होगा ?)

(स्थानिवद्भावसे ङित् समझे जानेवाले लादेशको) ङित्त्वके कारण जो कार्य प्राप्त होता है वह उसे होता ही है। केवल, ङित् प्रत्यय आगे होनेसे (उस लादेशके पीछेकी प्रकृतिको) जो कार्य प्राप्त होता है वह नहीं होता।

परन्तु क्या इस अर्थका अपूर्व वचन किया जाना चाहिये वा नहीं ? नहीं। तो फिर बिना कहे (यह अर्थ) कैसे विदित होगा ? (यासुड्विशिष्ट प्रत्ययको ङित्त्वका अतिदेश न करके) केवल यासुडागमको ही ङित्त्वका अतिदेश करनेसे (ज्ञात होगा)।

यासुडागम अपना ङित्त्व उस समुदायको नहीं दे सकता और (पाणिनि तो यासुड्विशिष्ट प्रत्ययको ङित् न कहकर) केवल यासुडागमको ही ङित् कर देता है। अत उसका उपयोग (ऐसा दिखाई देता है कि) ङित्को जो कार्य होता है वह होने ही दीजिये, ङित् आगे होनेपर (पीछेवालेको) जो कार्य होता है वह केवल नहीं होता।[21]

---

२१ 'ङित्'मे होनेवाला कार्य यहाँ दो प्रकारसे सम्भवनीय है—(१) जो ङित् हो उसीको होनेवाला, और (२) ङित् आगे होनेपर उसके पिछले भागमें होनेवाला। यासुडागमको ङित्व कहनेका पाणिनिका उद्देश यह नहीं दीख पडता है कि 'ये दो प्रकारके कार्य उस ङित्त्वसे हों।' कारण कि ङित्को होनेवाला जो कार्य है वह प्रत्ययको कहा है। और पाणिनिने तो यासुड्विशिष्ट प्रत्ययको ङित्व न कहकर केवल उसमेंके यासुडागमको ही कहा है। तात्पर्य, 'ङित्से पूर्वभागमें होनेवाला कार्य यहाँ हो' यह पाणिनिका एक ही उद्देश दिखायी देता है। अब ङित् लकारका आदेश स्थानिवद्भावसे ङित् समझकर उसको ङित्के निमित्तसे कार्य किया जाय तो भी उससे यासुडागमको कहा हुआ ङित्त्व व्यर्थ नहीं होता है, क्योंकि वह ङित्व उस कार्यके उद्देश्यसे कहा ही नहीं है। पर यदि स्थानिवद्भावसे प्राप्त हुए ङित्त्वका उसके पूर्वभागमें होनेवाले कार्यके प्रति उपयोग किया जाय तो मात्र यासुडागमको कहा हुआ ङित्व व्यर्थ होगा। तब लकारका ङित्व आदेशपर स्थानिवद्भावसे लेकर उसका उपयोग पूर्वभागमें होनेवाले कार्यके प्रति कहीं भी न किया जाय इतनाही आचार्य पाणिनि समझते हैं और उस प्रकारका कार्य यासुट्के उदाहरणमें होना चाहिये इसलिए यासुडागमको उतना ही ङित्व कहते हैं।

दीधीवेवीटाम् ॥ १ । १ । ६ ॥

किमर्थमिदमुच्यते । गुणवृद्धी मा भूतामिति । आदीध्यनम् आदीध्यक॰ । आवेव्यनम् आवेव्यक इति ॥ अथ योग शक्योऽकर्तुम् । कथम् ।

दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वाद्दृष्टानुविधित्वाच्च च्छन्दसोऽदीधेददीधयुरिति च गुणदर्शनादप्रतिषेधः ॥ १ ॥

दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात् । दीधीवेव्यौ छन्दोविषयौ । दृष्टानुविधित्वाच्च च्छन्दस॰ । दृष्टानुविधिश्च च्छन्दसि भवति । अदीधेददीधयुरिति च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेध । अनर्थक प्रतिषेधोऽप्रतिषेध । प्रजापतिर्वै यत्किंचन मनसादीधेत् । होत्राय वृत कृपयन्नदीधेत् । अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतास । भवेदिव युक्त-

(सू ६) दीधी (धातु), वेवी (धातु), और इट् (आगम) इनको (गुण और वृद्धि नहीं होती)।

यह सूत्र किस लिए किया है?

आदीध्यन, आदीध्यक, आवेव्यन, आवेव्यक[1] इन उदाहरणोंमें गुण और वृद्धि न हो इसलिए। यह सूत्र न करना भी सभवनीय है? सो कैसे?

(वा १) दीधी और वेवी ये धातु वेदोंमे ही दीख पडनेसे, और वेदोंके रूपोंके प्रयोग जैसे दिखायी देते है वेसे ही करना आवश्यक होनेसे तथा 'अदीधेत,' 'अदीधयु' इन उदाहरणोंमें गुण दीख पडनेसे प्रकृत सूत्रसे बताया हुआ निषेध व्यर्थ होता है।

'दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात्'—दीधीङ् और वेवीङ् इन धातुओंका प्रयोग वेदमें ही होता है। 'दृष्टानुविधित्वाच्च च्छन्दस'—और वेदमेंके प्रयोगमें तो इष्ट कार्यका केवल विधान ही करना होता है[2]। 'अदीधेददीधयुरिति च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेध'—तथा 'अदीधेत्', 'अदीधयु' इन (वैदिक उदाहरणों) में गुण दीख पडनेसे प्रकृत प्रतिषेध अप्रतिषेध होता है। जो प्रतिषेध निरर्थक है वह अप्रतिषेध (कहलाता है)। वे वैदिक उदाहरण यों है —प्रजापतिर्वै यत्किंचन मनसा अदीधेत्। होत्राय वृत कृपयन् अदीधेत्। अदीधयु॰ दाशराज्ञे वृतास.।

---

१ 'दीधी' और 'वेवी' इन धातुओंको ल्युट् (३।३।११५) और ण्वुल् (३।१।१३३) ये प्रत्यय लगाये हैं। ल्युट्को अन आदेश तथा ण्वुल्को अक आदेश (७।१।१) होता है। प्रकृत सूत्रसे गुणका निषेध किया है इसलिए गुण न होते हुए यण् हुआ है। 'आ' उपसर्ग पीछे लगाया गया है।

२ वैदिक प्रयोगमें जो कार्य किये दीख पडे वे वहीं कैसे हुए यह दर्शाना पडता है। पर जो कार्य न किये हों वे वहाँ क्यों न किये यह प्रश्न निर्माण नहीं होता है। कारण कि यह कार्य वहाँ किया जाय तो जो रूप होगा वह वैदिक रूप ही नहीं ऐसा होता है।

मुदाहरणम् अदीधेदिति। इदं त्वयुक्तम् अदीधयुरिति। अयं जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यते। स यथैव क्ङिति नेत्येतं प्रतिषेधं बाधत एवमिममपि बाधते। नैष दोषः। जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यमाणस्तुल्यजातीयं प्रतिषेधं बाधते। कश्च तुल्यजातीयः प्रतिषेधः। यः प्रत्ययाश्रयः। प्रकृत्याश्रयश्चायम्। अथवा येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति। न चाप्राप्ते क्ङिति नेत्येतस्मिन्प्रतिषेधे जुसि गुण आरभ्यते। अस्मिन्पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च॥ यदि तर्ह्ययं योगो नारभ्यते कथं दीध्यदिति।

(प्रकृत निषेध होनेपर भी गुण किया जानेका) 'अदीधेत्' यह जो उदाहरण दिखाया गया है सो योग्य ही है, परन्तु 'अदीधयुः' यह तो अयोग्य है। क्योंकि ('क्ङिति च' आदि) प्रतिषेधका विषय होनेपर ही (विशेष हेतुसे) 'जुसि च' इस गुणका आरंभ किया गया है। अतः वह जैसे 'क्ङिति न' इस निषेधका बाध करता है, वैसेही प्रकृत निषेधका भी बाध करेगा।[3]

यह दोष नहीं आता। क्योंकि प्रतिषेधके विषयमें आरंभ किया हुआ 'जुसि च' गुण तुल्यजातीय (अर्थात् अपने जैसे) निषेधका ही बाध करता है। तुल्यजातीय निषेध कौनसा है? जो निषेध प्रत्ययपर निर्भर है[4] वह। और यह (प्रकृत निषेध) तो प्रकृतिपर निर्भर है।[5]

अथवा "(जिस अपवादके विषयमें) जिसकी अवश्य प्राप्ति होती है उसीका उस (अपवाद) से बाध होता है।" 'जुसि च' (७।३।८३) यह जो गुण आरंभ किया जाता है उसके सब उदाहरणोंमेंसे 'क्ङिति च' इस निषेधकी प्राप्ति नहीं होती सो बात कदापि नहीं। और ('दीधीवेवीटाम्' यह निषेध तो 'जुसि च' के उदाहरणोंमेंसे) कुछ ही स्थानोंपर आता है और कुछ स्थानोंपर नहीं आता।[6] (अतः 'जुसि' गुणके विषयमें प्रकृतनिषेध अवश्य प्राप्त न होनेवाला होनेके कारण इस निषेधका 'जुसि' गुण बाध नहीं करता है।)

अब यदि यह प्रकृत सूत्र शुरू नहीं किया गया, तो 'दीध्यत्' में गुण क्यों नहीं होता?

---

३. तब प्रकृत निषेधसूत्र किया जाय तो भी 'अदीधयुः' इस वैदिक रूपमें गुण किया हुआ जो दीख पड़ता है वह उचित हो है।

४. 'क्ङिति च' यह निषेध प्रवृत्त होनेके लिए प्रकृति अमुकही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं। प्रत्यय मात्र कित् या ङित् होनाही चाहिये इसलिए 'क्ङिति च' यह निषेध प्रत्ययपर अवलंबित है यह सिद्ध होता है।

५. कारण कि 'दीधी' और 'वेवी' इन धातुओंको कोई भी प्रत्यय लगाया गया हो तो भी गुण नहीं होता है ऐसा इसका अर्थ है।

६. 'अदीधयुः' यहाँ 'दीधीवेवीटाम्' यह प्रकृतनिषेध आता है और 'अबिभयुः' आदि उदाहरणोंमें वह नहीं प्राप्त होता है।

दीध्यदिति श्यन्व्यत्ययेन ॥ २ ॥

दीध्यदिति श्यनेव व्यत्ययेन भविष्यति ॥

इटश्चापि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथमकणिषम् अरणिषम् कणिता श्वः रणिता श्व इति । आर्धधातुकस्येड्वलादेः [७.२.३५] इत्यत्रेडिति वर्तमाने पुनरिड्ग्रहणस्य प्रयोजनमिडेव यथा स्याद्यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति । किं चान्यत्प्राप्नोति । गुणः । यदि नियमः क्रियते पिपठिषतेरप्रत्ययः पिपठीः दीर्घत्वं न प्राप्नोति । नैष दोषः । आङ्गं यत्कार्यं तन्नियम्यते न चैतदाङ्गम् । अथवासिद्ध

(वा. २) 'दीध्यत्' में श्यन्विकरण व्यत्ययसे (किया जा सकता है)।[७]

'दीध्यत्' में व्यत्ययसे श्यन् विकरण किया जा सकता है।

इस सूत्रमें इट् शब्दका भी उच्चारण न करना शक्य है।

तो फिर अकणिषम्, अरणिषम्, कणिता श्वः, रणिता श्वः ये उदाहरण कैसे सिद्ध किये जायें ?

'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) इस सूत्रमें ('नेड्वशि'—७।२।८— इस सूत्रमेंसे) इट् शब्दकी अनुवृत्ति आनेपर भी पुनः इट् शब्दका प्रयोग किया गया उसका उपयोग यह है कि वह इट् आगम स्वस्वरूपसे कायम रहे। अर्थात् (उस इडागमके स्वरूपमें बदल करनेवाला) जो दूसरा कार्य प्राप्त होता है वह न किया जाय। दूसरा क्या प्राप्त होता है ? गुण प्राप्त होता है।

यदि (इडागम अपने स्वरूपमें ही रहता है ऐसा) नियम किया जाय तो 'पिपठिष' इस सन्नन्त धातुके आगे सर्वापहारी (क्विप्) प्रत्यय करके (अकारका लोप करनेपर) 'पिपठीः' में ('र्वोरुपधायाः'—८।२।७६—इससे) दीर्घत्व नहीं प्राप्त होता।[८]

यह दोष नहीं आता है। क्योंकि ('अङ्गस्य'—६।४।१—इस अधिकारमें यह नियम किया जानेके कारण इडागमके स्वरूपमें बदल करनेवाला) जो अंगाधिकारमें बताया हुआ कार्य है उसीकी नियमसे व्यावृत्ति की जाती है। और ('र्वोरुपधायाः'—८।२।७६) यह दीर्घ तो अंगाधिकारमें विहित नहीं (इसलिए नियमसे

---

७ 'दीधी' यह द्वितीय गणका धातु है। आगे लोट् प्रत्यय, उसको तिप् आदेश, बीचमें शप् विकरणप्रत्यय, उसका लुक्, 'लेटोऽडाटौ' (३।४।९४) सूत्रसे तिप् प्रत्ययको अट् आगम, प्रकृत सूत्रसे गुणका निषेध, और यण् करके 'दीध्यत्' क्रियापद होता है। अब प्रकृत सूत्र न किया जाय तो यहाँ विकरणप्रत्यय शप् करते हुए 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) इस सूत्रसे 'श्यन' प्रत्यय करके वह 'ङित्' (१।२।४) होनेके कारण 'क्ङिति च' इस पिछले सूत्रसे ही गुणका निषेध होता है। इसके बाद 'यीवर्णयो॰' (७।४।५३) सूत्रसे ईकारका लोप करके 'दीध्यत्' रूप सिद्ध हो सकता है।

८. कारण कि 'पिपठिष्' शब्दमेंका इकार इडागमका है।

दीर्घत्वं तस्यासिद्धत्वान्नियमो न भवति ॥

हलोऽनन्तराः संयोगः ॥ १ । १ । ७ ॥

अनन्तरा इति कथमिदं विज्ञायते । अविद्यमानमन्तरमेषामिति । आहो-स्विदविद्यमाना अन्तरैषामिति । किं चातः । यदि विज्ञायतेऽविद्यमानमन्तरमेषामित्यवग्रहे संयोगसंज्ञा न प्राप्नोति । अप् स्वित्यप्स्विति । विद्यते ह्यन्तरम् । अथ विज्ञायतेऽविद्यमाना अन्तरैषामिति न दोषो भवति । यथा न दोषस्तथास्तु । अथवा पुनरस्त्वविद्यमानमन्तरमेषामिति । ननु चोक्तमवग्रहे संयोगसंज्ञा न प्राप्नोति अप् स्वित्यप्स्विति विद्यते ह्यत्रान्तरमिति । नैष दोषो न प्रयोजनम् ॥

दृष्टिसे) असिद्ध है । अतः उस असिद्धत्वके कारण नियमसे उसकी व्यावृत्ति नहीं होती है ।

(सू. ७) (अच् अर्थात् स्वर) जिनमें नहीं ऐसे अनेक व्यञ्जनोंको संयोग कहते हैं ।

प्रकृत सूत्रमें 'अनन्तराः' पदका अर्थ कैसे किया जाय ? 'अनन्तराः' इस पदका 'जिनमें बिलकुल अंतर (रिक्त स्थान भी) नहीं ऐसे व्यञ्जन' ('अविद्यमानम् अन्तरं येषाम्') ऐसा अर्थ माना जाय ? अथवा 'जिनमें दूसरे वर्ण बिलकुल नहीं है ऐसे व्यञ्जन' (अविद्यमाना अन्तरा येषाम्') ऐसा समझा जाय ?

(इन दो प्रकारके अर्थोंमें) क्या भेद है ?

यदि 'जिनमें बिलकुल अवकाश नहीं ऐसे व्यञ्जन' यह अर्थ गृहीत माना जाय तो जहां अवग्रह किया हो वहाँ संयोग संज्ञा नहीं हो सकती; जैसे, 'अप्सु इति अप्ऽसु ।' यहाँ (अप् और सु इन शब्दोंमेंके पकार और सकार इन दोनोंमें) रिक्त स्थान है (इसलिए उन दोनोंको संयोगसंज्ञा प्राप्त नहीं होती)। अब 'जिनमें दूसरे वर्ण बिलकुल नहीं है ऐसे व्यञ्जन' यह अर्थ किया जाय तो उपर्युक्त दोष नहीं आता ।

तो फिर जिस प्रकारसे दोष नहीं आयेगा वैसेही रहने दें ।

अथवा 'जिनमें बिलकुल रिक्त स्थान नहीं है ऐसे व्यञ्जन' (यह अर्थ किया जाय तो भी चल सकता है) ।

परन्तु (वैसा किया जाय तो) जहाँ अवग्रह किया हो वहाँ अर्थात् अप्सित्यप्ऽसु यहाँ (पकार और 'सु' शब्दका सकार इन दोनोंमें) रिक्त स्थान होनेके कारण उन्हें संयोगसंज्ञा प्राप्त नहीं होती यह (दोष) पहले बताया गया है न ?

(ऊपरके उदाहरणमें संयोगसंज्ञा न होनेसे) कोई दोष नहीं आता; और (होनेसे) कोई लाभ नहीं ।

---

१. जहाँ एक स्थानके भीतर दूसरा समासान्तर पद रहता है, वहाँ पद करते समय अवग्रह करनेकी परिपाटी है । अवग्रहका अर्थ है थोड़े समयके बाद अगले वर्णोंका उच्चारण करना । कारण कि 'स्वादिष्वसर्व०' (१।४।१७) सूत्रसे 'अप्' इस भागको पदसंज्ञा हुई है ।

संयोगसंज्ञायां सहवचनं यथान्यत्र ॥ १ ॥

संयोगसंज्ञायां सहग्रहणं कर्तव्यम् । हलोऽनन्तराः संयोगः सहेति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । सहभूतानां संयोगसंज्ञा यथा स्यादेकैकस्य मा भूदिति । यथान्यत्र । तद्यथान्यत्रापि यत्रेच्छति सहभूतानां कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम् । तद्यथा । सह सुपा [२·१·४] । उभे अभ्यस्तं सहेति । किं च स्याद्यद्येकैकस्य हलः संयोगसंज्ञा स्यात् । इह निर्यायात् निर्वायात् वान्यस्य संयोगादेः [६·४·६८] इत्येत्वं प्रसज्येत । इह च संह्वपीटेत्यृतश्च संयोगादेः [७·२·४३] इतीट् प्रसज्येत । इह च संह्वियत इति गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः [७·४·२९] इति गुणः प्रसज्येत । इह च दृषत्करोति समित्करोतीति संयोगान्तस्य लोपः प्रसज्येत। इह च शक्ता वस्तेति स्कोः संयोगाद्योः [८·२·२९] इति लोपः प्रसज्येत।

(वा. १) इस संयोगसंज्ञाके विषयमें जैसे अन्य स्थानोंमें वैसेही यहाँ 'सह' शब्दका उच्चारण किया जाय।

संयोगसंज्ञाके विषयमें 'सह' शब्दका ग्रहण किया जाय। अर्थात् "हलोऽनन्तराः संयोगः सह" ऐसा सूत्रपाठ किया जाय।

इसका फल क्या है ?

सबको मिलाकर संयोगसंज्ञा प्राप्त हो और प्रत्येकको अलग अलग न हो। जिस प्रकार अन्य स्थानोंपर दीख पड़ता है—जहाँ अनेकोंको मिलाकर कार्य हो ऐसा (आचार्य) चाहते हैं वहाँ 'सह' शब्दका ग्रहण करते हैं। उदा० 'सह सुपा' (२।१।४), 'उभे अभ्यस्तं सह' (६।१।५)। (यहाँ अनेक सुबन्तोंको मिलाकर समाससंज्ञा और दोनोंको मिलाकर अभ्यस्तसंज्ञा होनेके लिए 'सह' शब्द तथा 'उभ' शब्द सूत्रमें रखा गया है।)

परन्तु यदि प्रत्येकको अलग अलग संयोगसंज्ञा हुई तो क्या आपत्ति है ?

'निर्यायात्', 'निर्वायात्', यहाँ (रेफके सान्निध्यसे यकारको संयोगसंज्ञा है इसलिए) 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (६।४।६८) सूत्रसे एत्व प्रसक्त होगा। वैसेही 'संह्वपीष्ट' रूपमें (अनुस्वारको असिद्धत्व होनेके कारण मकारके सान्निध्यसे हकार यह संयोग होता है इसलिए) "ऋतश्च संयोगादेः" (७।२।४३) सूत्रसे इडागम प्राप्त होगा। तथा 'संह्वियते' उदाहरणमें "गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः" (७।४।२९) इससे गुण प्रसक्त होगा। 'दृषत्करोति', 'समित्करोति' यहाँ भी (ककारसान्निध्यसे तकार यह संयोग होता है इसलिए) "संयोगान्तस्य लोपः" (८।२।२३) इस सूत्रसे (तकारका) लोप प्रसक्त होगा। वैसेही 'शक्ता', 'वस्ता' रूपोंमें (तकार झल् आगे होनेपर पिछला ककार और सकार इनका संयोग होकर यह आदि है

---

२. यह 'सह' शब्द वार्तिककारोंने रखा है।

इह च निर्यातः निर्वातः संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः [८.२.४३] इति निष्ठानत्वं प्रसज्येत ॥ नैष दोषः। यत्तावदुच्यत इह तावन्निर्यायात् निर्वायात् वान्यस्य संयोगादेरित्येत्वं प्रसज्येतेति नैवं विज्ञायते संयोग आदिर्यस्य सोऽयं संयोगादिः संयोगादेरिति। कथं तर्हि। संयोगावादी यस्य सोऽयं संयोगादिः संयोगादेरिति। एवं तावत्सार्वमाङ्गं परिहृतम् ॥ यदप्युच्यत इह च दृषत्करोति समित्करोतीति संयोगान्तस्य लोपः प्रसज्येतेति नैवं विज्ञायते संयोगोऽन्तो यस्य तदिदं संयोगान्तं संयोगान्तस्येति। कथं तर्हि। संयोगावन्तावस्य तदिदं संयोगान्तं संयोगान्तस्येति ॥ यदप्युच्यत इह च शक्ता वस्तेति स्कोः संयोगाद्योरन्ते चेति लोपः प्रसज्येतेति नैवं विज्ञायते संयोगावादी संयोगादी संयोगाद्योरिति। कथं

इसलिए) "स्कोः संयोगाद्योः०" (८।२।२९) इस सूत्रसे (ककार और सकार इनका) लोप प्रसक्त होगा। और 'निर्यातः', 'निर्वातः' यहाँ भी "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" (८।२।४३) सूत्रसे निष्ठा (प्रत्ययके तकार) को नकारादेश प्राप्त होगा।

यह दोष नहीं आता। 'निर्यायात्', 'निर्वायात्' यहाँ "वाऽन्यस्य संयोगादेः" सूत्रसे एत्व प्रसक्त होगा ऐसा जो कहा गया है इसके लिए यों उत्तर है—'संयोगादेः' यहाँ 'जिसके आरंभमें एक संयोग है' (संयोगः आदिर्यस्य) इस तरह विग्रह नहीं करना है। तो फिर किस तरह करें? 'जिसके आरंभमें दो संयोग हैं वह संयोगादि' (संयोगौ आदी यस्य सः संयोगादिः) इस तरह विग्रह किया जाय। (अतः दो संयोग आकारान्त धातुके आरंभमें न होनेके कारण ऊपरके उदाहरणमें एत्व नहीं होता।) इस रीतिसे 'संदृपीष्ट', 'संह्रियते' यहाँ प्रसक्त हुए) अंगकार्यका (अर्थात् क्रमशः इडागम और गुण इनका) परिहार होगा। और भी जो कहा गया है कि 'दृषत्करोति', 'समित्करोति' यहाँ (ककार सन्निध होनेसे तकारका) "संयोगान्तस्य लोपः" (८।२।२३) सूत्रसे लोप प्रसक्त होगा, उसके लिए यों उत्तर है—'एक संयोग जिसके अन्तमें है वह संयोगान्त पद, उसका' (संयोगः अन्तो यस्य संयोगान्तं, तस्य) ऐसा विग्रह नहीं करना है। तो फिर किस तरह किया जाय? 'दो संयोग जिसके अन्तमें हैं वह संयोगान्त पद, उसका' (संयोगौ अन्तौ यस्य तत् संयोगान्तं, तस्य) इस तरह विग्रह किया जाय। (अतः 'दृषत्' अथवा 'समित्' पदके अन्तमें दो संयोग न होनेके कारण संयोगान्तलोप नहीं आ सकता।) और भी जो कहा गया है कि 'शक्ता', 'वस्ता' इन रूपोंमें "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८।२।२९) सूत्रसे ककार और सकार इनका लोप प्रसक्त होगा, उसके लिए यों उत्तर है:—'संयोग नाम पाये हुए तथा आरंभमें होनेवाले सकार और ककार, उनका' (संयोगाद्योः यहाँ संयोगौ च तौ आदी च संयोगादी, तयोः) ऐसा विग्रह न किया जाय। तो फिर किस तरह किया जाय? 'दो संयोगोंमेंसे पहले

तर्हि। संयोगयोरादी संयोगादी संयोगाद्योरिति ॥ यदप्युच्यत इह च निर्यातः निर्वात इति संयोगादेरातो धातोर्यण्वत इति निष्ठानत्वं प्रसज्येतेति नैवं विज्ञायते संयोग आदिर्यस्य सोऽयं संयोगादिः संयोगादेरिति। कथं तर्हि। संयोगावादी यस्य सोऽयं संयोगादिः संयोगादेरिति ॥ कथं कृत्वैकैकस्य संयोगसंज्ञा प्राप्नोति। प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टेति। तद्यथा। वृद्धिगुणसंज्ञे प्रत्येकं भवतः। ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति। तद्यथा। गर्गाः शतं दण्ड्यन्तामिति। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं दण्डयन्ति।

सकार अथवा ककार, उनका' (संयोगयोः आदी संयोगादी, तयोः) इस तरह विग्रह किया जाय। (अतः शक्तौं, वस्ता यहाँ झल् आगे होनेपर उसके पीछे दो संयोग न होनेके कारण संयोगादिलोप प्राप्त नहीं हो सकता।) और भी जो कहा है कि 'निर्यातः', 'निर्वातः' यहाँ "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" (८।२।४३) सूत्रसे निष्ठा (प्रत्ययके तकार) को नकार प्रसक्त होगा, उसके लिए यों उत्तर है:— 'जिसके प्रारंभमें एक संयोग है ऐसा (यण्वान् आकारान्त धातु), उससे' (संयोगः आदिर्यस्य संयोगादिः तस्मात्) इस तरह विग्रह नहीं करना है। तो फिर किस तरह किया जाय? 'जिसके प्रारंभमें दो संयोग हैं ऐसा (आकारान्त यण्वान् धातु), उससे' (संयोगौ आदी यस्य संयोगादिः तस्मात्) ऐसा विग्रह किया जाय। (अतः 'निर्यातः,' 'निर्वातः' यहाँ आकारान्त होते हुए यण्वान् धातुके प्रारंभमें दो संयोग न होनेके कारण उसके आगेके तकारको नकारादेश नहीं होता।)

परन्तु (जिनमें दूसरा विजातीय वर्ण नहीं है, ऐसे अनेक व्यञ्जनोंके समूहको बतायी हुई) संयोगसंज्ञा (उस समूहमेंके) प्रत्येक व्यञ्जनको कैसे प्राप्त हो सकती है?

वाक्यके विधेयका संबंध उद्देश्यमेंके प्रत्येकके साथ किया हुआ दिखायी देता है; जैसे,—वृद्धिसंज्ञा अथवा गुणसंज्ञा (क्रमशः आ, ऐ, औ और अ, ए, ओ इन्हें बतायी हुई उन तीनोंमेंसे) प्रत्येकको होती है। (इस दृष्टान्तसे जिसमें विजातीय वर्ण नहीं है ऐसे अनेक व्यञ्जनोंके समूहको लक्ष्य करके बतायी हुई संयोगसंज्ञा उस समूहमेंके प्रत्येक अवयवको प्राप्त होती है।)

परन्तु (पूर्वोक्त दृष्टान्तके विरुद्ध) इस तरहका भी आगे दिया हुआ दृष्टान्त है:—वाक्यके विधेयका संबंध उद्देश्यके (प्रत्येक अवयवके साथ न जोड़कर) सबको मिलाकर जोड़ा हुआ दिखायी देता है। उदाहरणार्थ—गर्ग नामके लोगोंसे सौ रुपये दंड लिया जाय ऐसी आज्ञा की जानेपर सभी गर्ग नामके लोगोंको मिलाकर सौ रुपया दंड लिया जाता है। राजा लोग सुवर्णसे धनसंपन्न होते हैं और वे गर्ग नामके प्रत्येक व्यक्तिसे अलग अलग सौ रुपये दंड नहीं लेते है। (इससे वाक्यके

---

१. कारण कि गर्ग अनेक हैं; अतः उनके बारेमें अनेक शतोंकी कल्पना करना अर्थात् 'शतम्' पदका 'शतंशतम्' यह वीप्सायुक्त अर्थ लक्षणासे लेना ठीक नहीं। क्योंकि 'दण्ड्' धातुके 'गर्ग' और 'शत' ये जो दो कर्म हैं, उनमें 'शत' को मुख्यत्व है। राजा लोग धन-

सत्येतस्मिन्दृष्टान्ते यदि तत्र प्रत्येकमित्युच्यत इहापि सहग्रहणं कर्तव्यम्। अथ
तत्रान्तरेण प्रत्येकमिति वचनं प्रत्येकं वृद्धिगुणसंज्ञे भवत इहापि नार्थः सहग्रहणेन॥
अथ यत्र बहूनामानन्तर्यं किं तत्र द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा भवत्याहोस्विद-
विशेषेण। कश्चात्र विशेषः।

समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेः॥ २॥

समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेर्न सिध्यति। मङ्क्ता मङ्क्तुम्॥ इह च
निर्ग्लेयात् निर्ग्लायात् निर्म्लेयात् निर्म्लायात् वान्यस्य संयोगादेरित्येत्वं न

मुख्य विधेयका संबंध उद्देश्यके घटक अवयवोंको सबको मिलाकर भी हो सकता है।
अतः विजातीय वर्णरहित अनेक व्यञ्जनोंके समूहको लक्ष्य करके बतायी हुई संयोग-
संज्ञा सभी व्यञ्जनोंको मिलाकर होगी; प्रत्येकको होगी नहीं।) अब यह दृष्टान्त है इसलिए
यदि (गुणवृद्धिसंज्ञाके स्थानपर) 'प्रत्येक' शब्दका उपयोग किया जाय, तो
प्रकृत संज्ञाके स्थानपर भी 'सह' शब्दका प्रयोग करना होगा। और यदि 'प्रत्येक'
यह शब्द रखे बिना गुणवृद्धि संज्ञाएँ प्रत्येकको होती हैं तो यहाँ भी 'सह' शब्द
रखनेमें कोई लाभ नहीं।

अब जहाँ बहुत व्यञ्जनोंके बीचमें स्वर न आते हुए अत्यंत निकटता रहती है
वहाँ क्या दो-दो (व्यञ्जनों) को मिलाकर संयोगसंज्ञा होती है, अथवा सबको
मिलाकर होती है?

इन दोनों प्रकारोंमें क्या विशेषता है?

(वा. २) व्यञ्जनोंके समुदायको (संयोगसंज्ञा हो तो) मस्ज् धातुके
(सकारका) संयोगादिलोप नहीं होगा।

संनिहित होनेवाले सभी व्यञ्जनोंको मिलाकर संयोगसंज्ञा होती है, तो
'मस्ज्' धातुमें (सकारका) संयोगादिलोप नहीं होगा; जैसे, मङ्क्ता, मङ्क्तुम्।
वैसेही निर्ग्लेयात, निर्ग्लायात, निर्म्लेयात, निर्म्लायात (यहाँ उपसर्गके रेफ और
अगले दो व्यञ्जनोंके समूहको संयोगसंज्ञा होनेपर वह संयोग अंगका आदि नहीं होता।

'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्' यह आज्ञा देते हुए वे गर्गोंकी अपेक्षा 'शत'
संपन्न होनेके कारण 'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्' यह आज्ञा देते हुए वे गर्गोंकी अपेक्षा 'शत' के संबंधमें कुछ कल्पना करनी हो
का महत्त्व अधिक मानते हैं। अतः मुख्यके अनुसार गौण वस्तुके संबंधमें कुछ कल्पना करनी हो
तो यह शक्य होगा और उससे गौणको थोड़ासा हलकापन आ गया तो भी कुछ बाधा नहीं। पर
गौणके साथ मेल खानेके लिए मुख्य वस्तुके संबंधमें मात्र वैसा कुछ समझना उचित नहीं होगा।

४. यहाँ 'मस्ज्' धातुको "मस्जिनशो॰" (७।१।६०) सूत्रसे जो 'नुम्' आगम
हुआ वह "मिदचो॰" (१।१।४७) इस परिभाषासे अकारके आगे हुआ। उससे न्, ज् और
स् इन तीन व्यञ्जनोंको मिलकर संयोगसंज्ञा होगी। तब उस संयोगके प्रारंभमें नकार है, सकार
नहीं, अत उसका लोप नहीं होगा।

प्राप्नोति । इह च संस्वरिपीष्टेत्यृतश्च संयोगादेरितीण्न प्राप्नोति । इह च संस्वर्यत इति गुणोऽर्तिसंयोगाद्योरिति गुणो न प्राप्नोति । इह च गोमान्करोति यवमान्करोतीति संयोगान्तस्य लोप इति लोपो न प्राप्नोति । इह च निर्ग्लानः निर्म्लान इति संयोगादेरातो धातोर्यण्वत इति निष्ठानत्वं न प्राप्नोति ॥ अस्तु तर्हि द्वयोर्द्वयोः संयोगः ।

द्वयोर्हलोः संयोग इति चेद् द्विर्वचनम् ॥ ३ ॥

द्वयोर्हलोः संयोग इति चेद् द्विर्वचनं न सिध्यति । इन्द्रमिच्छति इन्द्रीयति । इन्द्रीयतेः सन् इन्दिद्रीयिषति । न न्द्राः संयोगादयः [६·१·३] इति दकारस्य द्विर्वचनं न प्राप्नोति ॥

क्योंकि रेफ अंगके बाहरका है । और जो गकारादि और मकारादि दो व्यञ्जनोंका समूह अंगका आदि है वह संयोग नहीं हो सकता । अतः) " वाऽन्यस्य संयोगादेः " (६।४।६८) सूत्रसे एत्व नहीं आ सकता । इसी तरह संस्वरिष्ट, संस्वर्यते यहाँ (अनुस्वारको त्रैपादिक असिद्धत्व होनेके कारण उपसर्गके मकारके आगेके सकारादि दो व्यञ्जनोंका समूह संयोग न होनेके कारण क्रमशः) " ऋतश्च संयोगादेः " (७।२।४३) इससे इडागम, और " गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः " (७।२।२९) इस सूत्रसे गुण प्राप्त नहीं हो सकता । वैसेही 'गोमान् करोति', 'यवमान् करोति' यहाँ (न् और त् के आगे ककार तीसरा होनेके कारण नकार और तकार इन दो ही व्यञ्जनोंके समूहको संयोगसंज्ञा प्राप्त न होनेके कारण) " संयोगान्तस्य लोपः " (८।१।४३) इससे लोप नहीं आ सकता । और 'निर्ग्लानः', 'निर्म्लानः' यहाँ (रेफोंके आगेके गकारादि अर्थात् ग् और ल् तथा मकारादि अर्थात् म् और ल् इन दो व्यञ्जनोंके समूहको संयोगसंज्ञा न हो सकनेके कारण) " संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः " (८।२।४३) सूत्रसे निष्ठा प्रत्ययके (तकारको) नकारादेश प्राप्त नहीं हो सकता ।

तो फिर दो-दोको संयोगसंज्ञा होने दें ।

(वा. ३) दो व्यञ्जनोंको भी संयोगसंज्ञा होती हो, तो द्विर्वचन प्राप्त नहीं हो सकता ।

(बहुत व्यञ्जनोंको आनन्तर्य होनेपर वहाँ) दो व्यञ्जनोंको भी संयोगसंज्ञा होती हो, तो ('इन्दिद्रीयिषति' इस रूपमें) द्वित्व सिद्ध नहीं होता । 'इन्द्रम् इच्छति' इस अर्थके 'इन्द्रीय' इस क्यजन्त धातुको प्रत्यय लगाया जानेपर 'इन्दिद्रीयिषति' (यहाँ नकारके आगेके दकारादि द् और र दो व्यञ्जनोंके समूहको संयोगसंज्ञा होनेसे) " न न्द्राः संयोगादयः " (६।१।३) इस (निषेध) के कारण दकारविशिष्टको द्विर्वचन प्राप्त नहीं हो सकता ।

न वाज्विधेः ॥ ४ ॥

न वैष दोषः। किं कारणम्। अज्विधेः। न्द्राः संयोगादयो न द्विरुच्यन्ते। अजादेरिति वर्तते॥ अथ यथैव बहूनां संयोगसंज्ञाथापि द्वयोर्द्वयोः किं गतमेतदियता सूत्रेणाहोस्विदन्यतरस्मिन्पक्षे भूयः सूत्रं कर्तव्यम्। गतमित्याह। कथम्। यदा तावद्बहूनां संयोगसंज्ञा तदैवं विग्रहः करिष्यते। अविद्यमानमन्तरमेषामिति। यदा द्वयोर्द्वयोस्तदैवं विग्रहः करिष्यते। अविद्यमाना अन्तरैषामिति। द्वयोश्चैवान्तरा कश्चिद्ध्रियते वा न वा। एवमपि बहूनामेव प्राप्नोति। यान्हि

(वा. ४) अथवा स्वरपर (निषेधका) विधि (अवलंबित) होनेसे (ऊपरका दोष) नहीं आता।

यह दोष नहीं आता।

क्या कारण है?

अच् (स्वर) पर अवलंबित द्विर्वचन निषेधका विधि है इसलिए। ("अजादेर्द्वितीयस्य"—६।१।२—इस सूत्रसे) 'अजादेः' इस पदकी यहाँ अनुवृत्ति है। (और वह 'अच्च असौ आदिश्च' ऐसा यहाँ कर्मधारय है। अतः आद्यवयव—प्रथमावयव—भूत ऐसे अच्के आगेके न, द्, र इनको द्वित्वका निषेध किया जाता है। प्रकृत उदाहरणमें नकारसे व्यवहित होनेके कारण 'द्' वर्ण 'इ' स्वरके आगे नहीं है, इसलिए उसे द्वित्वका निषेध नहीं होता।)

अब इस तरह स्वररहित बहुत व्यञ्जनोंके समूहको संयोगसंज्ञा हो, अथवा (उनमेंसे) दो-दोको हो। वर्तमान सूत्रसे वह दो प्रकारका अर्थ उपलब्ध होता है? अथवा अन्यतर अर्थके समय सूत्र बढ़ाना पड़ता है?

('न न्द्राः संयोगादयः' यह जो सूत्र किया गया है, उसीसे दोनों प्रकारके अर्थ) उपलब्ध होते हैं ऐसा कहा है। सो कैसे? जब बहुत व्यञ्जनोंके (समूहको) संयोगसंज्ञा करनी हो तब 'अविद्यमानम् अन्तरम् एषाम्' (जिनके बीचमें रिक्त स्थान बिलकुल नहीं हैं ऐसे व्यञ्जन) इस तरह इस समासका विग्रह किया जा सकता है; और जब दो-दोको (संयोगसंज्ञा करनी हो) तब 'अविद्यमाना अन्तरा एषाम्' (जिनमें विजातीय वर्ण नहीं है ऐसे दो व्यञ्जन) इस तरह इस समासका विग्रह किया जायगा। और बीचमें होना वा न होना यह बात दोनोंपर ही निर्भर रहती है।

(पर जिनमें विजातीय वर्ण नहीं हैं ऐसे दो दो व्यञ्जन ऐसा समझा जाय) तो भी (बहुत व्यञ्जन होंगे ऐसे स्थानपर) बहुत व्यञ्जनोंके समूहको ही संयोगसंज्ञा प्राप्त होती है।)

आप जहाँ 'इनको संयोगसंज्ञा होती है' ऐसा कहकर षष्ठी विभक्तिसे उन वर्णोंको दिखाते हैं, वहाँ उनसे विजातीय वर्णसे (अर्थात् स्वरसे) व्यवधान होनेपर

भवानत्र षष्ठ्या प्रतिनिर्दिशत्येतेषामन्येन व्यवाये न भवितव्यम्। अस्तु तर्हि समुदाये संज्ञा। ननु चोक्तं समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेरिति। नैष दोषः। वक्ष्यत्येतत्। अन्त्यात्पूर्वो मस्जेर्मिदनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थमिति॥ अथवाविशेषेण संयोगसंज्ञा विज्ञास्यते द्वयोरपि बहूनामपि। तत्र द्वयोर्या संयोगसंज्ञा तदाश्रयो लोपो भविष्यति॥ यदप्युच्यत इह च निर्ग्लेयात् निर्ग्लायात् निर्म्लेयात्

ही वह संज्ञा प्राप्त न हो। (अतः समुदायके विषयमें 'एकाज्-द्विर्वचन-' न्यायसे समुदायको ही वह संज्ञा होगी।)

तो फिर (जहाँ बहुत व्यञ्जनोंका आनन्तर्य है उन व्यञ्जनोंके) समूहको ही संयोगसंज्ञा होने दें।

परन्तु (विजातीय वर्णरहित बहुत व्यञ्जनोंके) समूहको ही (संयोगसंज्ञा हुई, तो 'मङ्क्ता', 'मङ्क्तुम्' यहाँ) मस्ज् धातुमेंसे (सकार का) संयोगादिलोप (प्राप्त नहीं हो सकता यह दोष प्राप्त होता है) ऐसा आपने कह दिया है न?

यह दोष नहीं आता है। क्योंकि ("अनिदितां हल०"-६।२।२४-इस सूत्रसे नकारका लोप होनेके लिए) 'मस्ज्' धातुके विषयमें संयोगादिलोप होनेके लिए अन्तिम वर्णके पहले मकारेत्संज्ञक आगम किया जाय ऐसा "मिदचोऽन्त्यात्" (१।१।४७) सूत्रके विवेचनमें 'अन्त्यात्पूर्वो मस्जेः' इस वार्तिकसे वार्तिककार कहनेवाले हैं।[६]

अथवा (बहुत व्यञ्जनोंका आनन्तर्य हो उस स्थानपर समूहको ही संयोगसंज्ञा करनेके विषयमें) विशेष प्रमाण न होनेके कारण समूहको और उसमेंके दो-दो व्यञ्जनोंको भी संयोगसंज्ञा की जायगी। उसमें दो व्यञ्जनोंको जो संयोगसंज्ञा की जाती है उसके कारण ('मस्ज्' धातुमेंसे सकारका संयोगादि) लोप होगा। और भी जो कहा गया है कि 'निर्ग्लेयात्', निर्ग्लायात्', 'निर्म्लेयात्', 'निर्म्लायात्' यहाँ "वान्यस्य संयोगादेः" (६।४।६८) इससे एत्व प्राप्त नहीं होता (उसके लिए यों उत्तर है):—संयोगरूप जो आदि है (अर्थात् आद्यावयव

---

५. 'निनेज' उदाहरणमें एकाच्को द्वित्व करना है वह नि, इ, निज् और इज् इन चार एकाचोंमेंसे किसको किया जाय यह सन्देह निर्माण होता है। पर यहाँ 'निज्' को द्वित्व किया जानेपर यहाँका कोईभी वर्ण द्वित्व किये बिना नहीं रहता है। अतः 'निज्' इस समुदायकोही द्वित्व होता है। इसीको 'एकाज्द्विर्वचनन्याय' कहते हैं।

६. जब 'मस्ज्' धातुमेंके सकारके पीछे 'नुम्' आगम नहीं होता है तो सकारके आगे होता है। वैसा होनेपर स्, न्, ज् ऐसा संयोग होता है। और उस संयोगके आरंभमें सकार होनेके कारण उसका लोप होनेमें कुछ बाधा नहीं।

निर्लीयात् वान्यस्य संयोगादेरित्येत्वं न प्राप्नोतीत्यङ्गेन संयोगादिं विशेषयिष्यामः। अङ्गस्य संयोगादेरिति। एवं तावत्सर्वमाङ्गं परिहृतम्॥ यदप्युच्यत इह च गोमान्करोति यवमान्करोतीति संयोगान्तस्य लोप इति लोपो न प्राप्नोतीति पदेन संयोगान्तं विशेषयिष्यामः। पदस्य संयोगान्तस्येति॥ यदप्युच्यत इह च

है) उसको 'अङ्गस्य' यह विशेषण हम लगायेंगे। अंगका संयोगरूपी (जो) आद्यावयव है (उसके आगेके आकारके स्थानमें एत्व होता है ऐसा अर्थ है। इसका भाव यों है:—निर्लेयात् आदि उदाहरणोंमें यद्यपि तीन व्यञ्जन आनन्तर्यसे व्यवस्थित होते हैं, तो भी संज्ञा कुछ कार्य करनेके लिए ही करनी चाहिये यह नियम होनेके कारण, और संयोगरूप आद्यावयव अंगका ही लेना आवश्यक होनेके कारण अंगके बाहरके व्यञ्जनको लेकर संयोगसंज्ञा एत्व करते समय करना संभवनीय न होनेके कारण उन तीन व्यञ्जनोंमेंसे उपयुक्त दो व्यञ्जनोंको ही संयोगसंज्ञा प्रवृत्त होती है। अतः पूर्वोक्त उदाहरणमें एत्व होनेमें बाधा नहीं है।) इसी रीतिसे अंगाधिकारस्थ कार्य (होनेपर बनाये गये 'संस्वरिषीष्ट, संस्वर्यते' इत्यादि रूपोंके) विषयमें (प्राप्त होनेवाले दोषोंका) परिहार होता है।

और भी जो कहा गया है कि 'गोमान् करोति,' 'यवमान् करोति' यहाँ 'संयोगान्तस्य लोपः' इस सूत्रसे (तकारका) लोप प्राप्त नहीं होता, (उसके लिये यों उत्तर है)—संयोगरूप अन्त्यावयवको 'पदस्य' यह विशेषण हम लगा देंगे। पदका (जो) संयोगरूप अन्तिम अवयव है (उसका लोप होता है ऐसा अर्थ है। संयोगरूप अन्तिम अवयव पदका ही लेना है इसलिए 'गोमान्त् करोति' यहाँ तीन व्यञ्जनोंके समूहको संज्ञा करके फल न मिलनेके कारण उनमेंसे दो व्यञ्जनोंके समूहको ही संज्ञा होती है। अतः प्रस्तुत उदाहरणोंमें तकारका संयोगान्तलोप होनेमें कोई बाधा नहीं है।[९])

---

७. अत अन्त्य (१।१।४७) के पूर्व 'मस्जे.' यह वार्तिक न करना।

८. जहाँ बहुत व्यञ्जनोंका समुदाय हो वहाँ उन सब व्यञ्जनोंको मिलकर संयोगसंज्ञा होती है, उनमेंसे दो-दो को नहीं होती। इस पक्षमें पहले जो दोष दिखाये गये हैं उनका निरसन भाष्यकार यहाँसे करते हैं।

९. 'भेत्ता' उदाहरणमें भिद्+ता यह स्थिति होते हुए दकार और तकार इन दो व्यञ्जनोंके संयोगसे उसके पिछले इकारको गुरुसंज्ञा होती है, लघुसंज्ञा नहीं होती। तब वहाँ "पुगन्तलघूपध०" (७।३।८६) सूत्रसे गुण नहीं होगा। परन्तु वहाँ 'अंगस्य' यह लघूपधाका विशेषण किया जानेपर वह दोष नहीं आता। कारण कि विशेषणकी चालसे अर्थात् अंगके बाहर दृष्टि न रखकर लघूपधा है या नहीं यह देखना। इस अर्थमें तकार न होनेसे वह इकार वहाँ लघूपधा विशेष्य निश्चित करना पड़ता है। तब 'अंगस्य' इस विशेषणकी चालसे अर्थात् अंगके बाहर दृष्टि निश्चित करते समय नहीं के बराबर समझा जाता है; अतः दोष नहीं आता है। वैसेही यहाँ 'अंगस्य' यह संयोगका विशेषण किया जानेपर संयोग कौनसा यह निश्चित करते समय अंगके

निर्ग्लानः निम्लांन इति संयोगादेरातो धातोर्यण्वत इति निष्ठानत्वं न प्राप्नोतीति धातुना संयोगादिं विशेषयिष्यामः। धातोः संयोगादेरिति ॥

स्वरानन्तर्हितवचनम् ॥ ५ ॥

स्वरैरनन्तर्हिता हलः संयोगसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। व्यवहितानां मा भूत्। पचति पनसम् ॥ ननु चानन्तरा इत्युच्यते तेन व्यवहितानां न भविष्यति।

दृष्टमानन्तर्यं व्यवहितेऽपि ॥ ६ ॥

व्यवहितेऽप्यनन्तरशब्दो दृश्यते। तद्यथा। अनन्तराविमौ ग्रामावित्युच्यते तयोश्चैवान्तरा नद्यश्च पर्वताश्च भवन्ति ॥ यदि तर्हि व्यवहितेऽप्यनन्तरशब्दो

और भी जो कहा है कि 'निर्ग्लानः, निर्म्लानः' यहाँ "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" (८।२।४३) इस सूत्रसे निष्ठा-(तकार-) को नकार आदेश प्राप्त नहीं होता, (उसके लिए यों उत्तर है):—संयोगरूप आद्यावयवको 'धातोः' यह विशेषण हम लगायेंगे। अतः संयोगरूप आद्यावयव धातुका ही लेना है (इसलिए 'निर्ग्लानः आदि स्थानोंपर तीन व्यञ्जनोंके समूहको संयोगसंज्ञा करनेमें कुछ भी उपयोग न होनेके कारण निःसंशय उनमेंसे दो व्यञ्जनोंको ही संज्ञा प्रवृत्त होती है। अतः ऊपरके उदाहरणोंमें निष्ठातकारको नत्व होनेमें कोई बाधा नहीं है।)

(वा. ५) स्वरव्यवधानरहित व्यञ्जनोंको ('संयोग' संज्ञा होती है) ऐसा विधान किया जाय।

जिन व्यञ्जनोंमें स्वरोंसे व्यवधान नहीं ऐसे व्यञ्जनोंको 'संयोग' संज्ञा होती है यह विधान किया जाय। क्या कारण है? (स्वरोंसे) व्यवधान पाये हुए (व्यञ्जनों) को ('संयोग' संज्ञा) न हो इसलिए; जैसे, पचति, पचनम् (यहाँ पकार आदि व्यञ्जनोंके समूहको संज्ञा न हो)।

परन्तु (सूत्रमें) 'अनन्तराः' यह शब्द रखा जानेके कारण (स्वरोंसे) व्यवहित (व्यञ्जनों) को (संज्ञा) हो ही नहीं सकेगी।

(वा. ६) व्यवधान होनेपर भी आनन्तर्य दीख पड़ता है।

व्यवधान होनेपर भी 'अनन्तर' शब्दका प्रयोग किया हुआ दिखायी देता है। जैसे,—'अनन्तराविमौ ग्रामौ' (ये दो गाँव निकट हैं) ऐसा कहते हैं; परन्तु उन दो गाँवोंके बीचमें नदी, पहाड़ इत्यादि होते ही हैं। (अतः बीचमें स्वर हो तो भी वे व्यञ्जन अनन्तर होनेके कारण 'स्वरानन्तर्हितवचनम्' ऐसा कहना चाहिये।)

बाहर दृष्टि रखी जाय। तब पीछे 'निर्' पद उपसर्ग होते हुए संयोग देखते समय नहींके समान होता है। अतः 'ग्लैमान्' रूपमें जैसा एत्व होता है वैसाही 'निर्ग्लैयात्' में भी होगा। इस प्रकारका यहाँ भाष्यकारका अभिप्राय है ऐसा कुछ लोग समझते हैं।

भवत्यानन्तर्यवचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

आनन्तर्यवचनं किमर्थमिति चेदेकप्रतिषेधार्थम् ॥ ७ ॥

एकस्य हलः संयोगसंज्ञा मा भूदिति । किं च स्याद्यद्येकस्य हलः संयोगसंज्ञा स्यात् । इयेष उवोष । इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः [३.१.३६] इत्याम्प्रसज्येत ॥

न वातज्जातीयव्यवायात् ॥ ८ ॥

न वैष दोषः । किं कारणम् । अतज्जातीयस्य व्यवायात् । अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति । कथं पुनर्ज्ञायतेऽतज्जातीयकं लोके व्यवधायकं भवतीति । एवं हि कंचित्कश्चित्पृच्छति । अनन्तरे एते ब्राह्मणकुले इति । स आह । नानन्तरे वृषलकुलमनयोरन्तरेति । किं पुनः कारणं क्वचिदतज्जातीयकं

यदि व्यवधान होनेपर भी 'अनन्तर' शब्द लागू होता है तो फिर सूत्रमेंके अनन्तर शब्दका क्या उपयोग है ?

(वा. ७) 'आनन्तर्य' का विधान किसलिए ऐसा पूछा जाय तो एक (व्यञ्जन) के ('संयोग'संज्ञा-) प्रतिषेधके लिए।

जहाँ एक ही व्यञ्जन है उस व्यञ्जनको 'संयोग' संज्ञा न हो इसलिए ('अनन्तर' शब्द रखा गया है)।

परन्तु एक व्यञ्जनको 'संयोग'संज्ञा हुई तो क्या आपत्ति होगी ? 'इयेष,' 'उवोष' यहाँ (धातुमेंके षकारको 'संयोग'संज्ञा होनेपर) "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" (३।१।३६) इस प्रत्ययसे 'आम्' प्रत्यय होगा।[10]

(वा. ८) अथवा भिन्नजातीयसे ही व्यवधान होनेके कारण (ऊपरका दोष) नहीं आता है।

अथवा (पचति, पनसम् इत्यादि स्थानोंपर जो दोष दिया गया है) वह दोष नहीं आता है। क्या कारण है? (लोगोंमें सजातीय पदार्थोंमें) भिन्नजातीय पदार्थ आनेपर वह व्यवधायक होता है। (अतः दो व्यञ्जनोंके बीचमें स्वर होनेपर उन दो व्यञ्जनोंको अनन्तर शब्द लागू करना अशक्य होनेके कारण 'संयोग' संज्ञा नहीं होगी। अतः 'स्वरानन्तर्हित' यह वचन करनेकी आवश्यकता नहीं है।)

परन्तु (सजातीय दो पदार्थोंमें) विजातीय पदार्थके आनेपर वह व्यवधायक होता है यह कैसे निश्चित किया जाता है ?

कोई एक व्यक्ति दूसरेसे पूछता है कि ये दो ब्राह्मणोंके घर क्या निकट है ? उस पर वह उत्तर देता है कि (ब्राह्मणोंके ये दो घर) निकट नहीं है। उन दो घरोंके बीचमें शूद्रका घर है। (इससे विजातीयके बीचमें आनेपर वह व्यवधायक होता है ऐसा सिद्ध होता है।)

---

१०. 'इष्' धातुमेंके षकारको संयोगसंज्ञा हुई तो "संयोगे गुरु" (१।४।११) सूत्रसे पिछले इकारको गुरुसंज्ञा होगी, और उससे 'आम्' प्रत्यय होगा।

व्यवधायकं भवति क्वचिन्न। सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति। कथमनन्तराविमौ ग्रामाविति। ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते। तद्यथा। ग्रामो दग्ध इति। अस्ति वाटपरिक्षेपे वर्तते। तद्यथा। ग्रामं प्रविष्ट इति। अस्ति मनुष्येषु वर्तते। तद्यथा। ग्रामो गतो ग्राम आगत इति। अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते। तद्यथा। ग्रामो लब्ध इति। तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तमभिसमीक्ष्यैतत्प्रयुज्यतेऽनन्तराविमौ ग्रामाविति। सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति॥

परन्तु भिन्नजातीय पदार्थके बीचमें होनेपर वह क्वचित् स्थानपर व्यवधायक[11] होता है और क्वचित् स्थानपर व्यवधायक नहीं होता[12] इसका क्या कारण है?

भिन्नजातीय पदार्थके बीचमें होनेपर वह सब स्थानोंपर व्यवधायक होता ही है।

तो फिर (बीचमें नदी, पहाड़ इत्यादि होनेपर भी) 'अनन्तराविमौ ग्रामौ' (अर्थात् ये दो गाँव निकट हैं) ऐसा कैसे कहते है?

'ग्राम' शब्द अनेक अर्थोंकी[13] है। उदाहरणार्थ, ग्राम शब्द 'घरोंका समूह' यह अर्थ प्रकट करता है; जैसे 'ग्रामो दग्धः।' (यहाँ ग्राम शब्दसे 'घरोंका समूह' यह अर्थ मनमें आता है)। 'ग्राम' शब्द 'चारों ओर होनेवाला तट' इस अर्थमें भी प्रयुक्त होता है; जैसे, 'ग्रामं प्रविष्टः' (यहाँ तटके अंदर घुस गया यह अर्थ प्रकट होता है।) 'ग्राम' शब्द '(गाँवके) लोग' इस अर्थको भी सूचित करता है; जैसे, 'ग्रामो गतः', 'ग्राम आगतः' (गाँव बाहर निकला, गाँव वापस आया। यहाँ गाँवके लोग गये और आये यह अर्थ मनमें आता है।) वैसेही जिसमें पेड़ पौधे, और सीमा दर्शानेवाली नदी, पहाड़ इत्यादि और चारों तरफ बाँध होनेवाले खेत आदि हैं इस प्रकारके समूचे प्रदेशको भी 'ग्राम' शब्द सूचित करता है, जैसे, 'ग्रामो लब्धः' यहाँ अरण्यसहित, सीमासहित और स्थण्डिलसहित जो है उसको लक्ष्य करके 'अनन्तरौ इमौ ग्रामौ' (ये दो गाँव निकट हैं) यह प्रयोग किया जाता है। (इस अर्थसे उपर्युक्त प्रयोग ठीक मेल खानेके कारण) सर्वत्र विजातीय पदार्थ बीचमें आनेपर व्यवधायक होता ही है। (अतः दो व्यञ्जनोंके बीचमें स्वर आनेपर वे दो व्यञ्जन 'अनन्तर' इस संज्ञाको पात्र ही न होनेके कारण उन्हें संयोगसंज्ञा हो ही नहीं सकती। अतः 'स्वरानन्तर्हित' ऐसा अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है।)

---

११. शूद्रका घर बीचमें होनेके कारण ब्राह्मणोंके घर निकट है ऐसा नहीं समझते हैं। अतः यहाँ शूद्रका घर व्यवधायक हुआ।

१२. नदी, पहाड़ इत्यादि बीचमें हों तो भी दो गाँव निकट हैं ऐसा समझते हैं। अतः यहाँ नदी आदि भिन्नजातीय पदार्थ व्यवधायक नहीं हुए हैं।

१३. इन अनेक अर्थोंमेंसे अन्तिम अर्थ लिया जानेपर नदी, पहाड़ इत्यादि 'ग्राम' शब्दके अर्थमेंके ही भाग होनेके कारण दो गाँवोंके बीच उन्होंने व्यवधान किया है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥ १ । १ । ८ ॥

किमिदं मुखनासिकावचन इति । मुखं च नासिका च मुखनासिकम् । मुखनासिकं वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः । यद्येवं मुखनासिकवचन इति प्राप्नोति । निपातनाद्दीर्घत्वं भविष्यति ॥ अथवा मुखनासिकमावचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः । अथ किमिदमावचनमिति । ईषद्वचनमावचनं किंचिन्मुखवचनं किंचिन्नासिकावचनम् ॥ मुखद्वितीया वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिका-

---

(सू. ८) मुख और नासिका इन दोनोंकी सहायतासे उच्चारित (वर्णको) अनुनासिक (कहते हैं)।

'मुखनासिकावचनः' यह शब्दस्वरूप कैसे बनाया गया है?

मुख और नासिका (इन दो शब्दोंके समाहारद्वंद्वसे) 'मुखनासिकम्' (शब्द सिद्ध करके उसका वचन—करणल्युडन्त—शब्दसे) 'मुखनासिकं वचनमस्य' इस अर्थके (षष्ठीबहुव्रीहिसे) 'मुखनासिकावचनः' (यह रूप बनाया गया है)।

यदि ऐसा है तो ('मुखनासिकावचनः' यह रूप न होकर) 'मुखनासिकवचनः' ऐसा रूप होना चाहिये।

(पाणिनिने 'मुखनासिकावचनः' इस) निपातनरूपका उच्चारण करनेपर ही ('नासिक' शब्दका अन्त) दीर्घ होगा।

अथवा (पीछे आङ् उपसर्ग लगाये हुए 'वचन' शब्दसे 'मुखनासिक' शब्दका) 'मुखनासिकमावचनमस्य' (इस विग्रहका बहुव्रीहि समास करनेसे) 'मुखनासिकावचनः' यह रूप (बनाया गया है ऐसा समझा जाय)।

परन्तु 'आवचन' शब्द क्या है? (अर्थात् यह शब्द क्या अर्थ सूचित करता है?)

('वचन' शब्द 'उच्चारणका साधन' यह अर्थ दर्शाता है। और 'आङ्' शब्द ईषत् अर्थात् किंचित् यह अर्थ सूचित करता है। तात्पर्य,) 'आवचन' शब्द 'किंचित् भाग उच्चारनेका साधन' यह अर्थ बताता है। अर्थात् मुखसे उच्चारित किया हुआ कुछ भाग और कुछ भाग नासिकासे उच्चारित किया हुआ (ऐसा अर्थ स्पष्ट होता है)।

अथवा ('मुख' शब्दका सहायवाचक द्वितीय शब्दके साथ नासिकारूप अन्य पदार्थ बतानेवाला बहुव्रीहि समास करके) 'मुखद्वितीया' शब्दका 'नासिका' शब्दके साथ कर्मधारय किया जाय। (और 'शाकपार्थिवादीनां०' इस वार्तिकसे 'द्वितीया' शब्दका लोप किया जाय। उस 'मुखनासिका' शब्दका) 'वचन' शब्दके साथ बहुव्रीहि समास करके 'मुखनासिकावचनः' यह रूप बनाया गया है।[1]

---

१. अतः नासिका जिस वर्णके उच्चारणका साधन मुखकी सहायतासे होती है, उस वर्णको मुखनासिकावचन कहा जाता है।

वचनः । मुखोपसंहिता या नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः ॥ अथ मुखग्रहणं किमर्थम् । नासिकावचनोऽनुनासिक इतीयत्युच्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्रसज्येत । मुखग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥ अथ नासिकाग्रहणं किमर्थम् ? मुखवचनोऽनुनासिक इतीयत्युच्यमाने कचटतपानामेव प्रसज्येत । नासिकाग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥ मुखग्रहणं शक्यमकर्तुम् । केनेदानीमुभयवचनानां भविष्यति । प्रासादवासिन्यायेन । तद्यथा । केचित्प्रासाद-

---

अथवा मुखसे सहित जो नासिका (अर्थात् नासिकाके निकटका भाग है) वह जिस वर्णका उच्चारणसाधन है वह (वर्ण) मुखनासिकावचन है।[२]

अब यहाँ जो 'मुख' शब्द रखा गया है वह किसलिए ?

'*नासिकावचनोऽनुनासिकः*' *अर्थात् केवल नासिकासे उच्चारित किया हुआ सो* अनुनासिक इतना ही कहा जाय तो (प्रातिशाख्यमें प्रसिद्ध) 'यम' नामके वर्ण अथवा अनुस्वार इन्हींको संज्ञा होगी[३] । (वर्गके पंचम अथवा सानुनासिक स्वर आदिको नहीं होगी)। 'मुख' शब्द प्रयुक्त करनेसे यह दोष नहीं आता।

अब 'नासिका' शब्द (रखा गया है) सो किसलिए ?

'मुखवचनोऽनुनासिकः' अर्थात् केवल मुखसे उच्चारित किया हुआ है सो अनुनासिक इतना ही कहा जाय तो क् च् ट् त् प् आदिको ही संज्ञा होगी। (वर्गके पंचम अथवा सानुनासिक स्वर इनको नहीं होगी।) 'नासिका' शब्द प्रयुक्त करनेपर यह दोष नहीं आता।

'मुख' शब्द निकाला जा सकता है।

परन्तु अब (मुख और नासिका इन) दोनोंके कारण उच्चारण किये जानेवाले (सानुनासिक स्वर अथवा ञ् म् ङ् ण् न् आदि वर्णों) को (अनुनासिक संज्ञा) कैसे हो सकती है ?

'प्रासादवासिन्याय'से उन्हें भी संज्ञा होगी।

वह न्याय यों है:—(एक मकानमें) कुछ लोग ऊपरकी मंज़िलपर रहते हैं, कुछ लोग निचली मंज़िलपर रहते हैं और कुछ लोग ऊपरकी मंज़िल और निचली मंज़िल

---

२. अनुनासिक वर्णका उच्चारण करते समय मुख और नासिका अर्थात् तालुके पिछले नाकको वायुके भीतरका छिद्र इन दोनोंके बीचमेंका जो भाग है उसको जिह्वाका स्पर्श होता है ऐसा जो मत है उस मतके अनुसार यह लिखा है।

३ क्योंकि यम और अनुस्वार इनका केवल नासिका यह एक ही स्थान है। कवर्ग, चवर्ग इत्यादि पाँचो भी वर्गोंके पहले चार वर्णोंमेंसे कोई भी वर्ण पहले लेकर उसके आगे किसी वर्गका पाँचवाँ वर्ण आयेगा तो वहाँ उन दोनोंके बीचमें एक स्वतन्त्र अलग वर्ण केवल नासिकाकी सहायतासे उच्चारित किया जाता है। उसको 'यम' कहते हैं। यह 'यम' वर्ण पूर्वके वर्णके सदृश होता है। अर्थात् पूर्वके वर्णके सदृश उस 'यम' के आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न होते हैं।

वासिनः केचिद्भूमिवासिनः केचिदुभयवासिनः। ये प्रासादवासिनो गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन। ये भूमिवासिनो गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन। य उभयवासिनो गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेन च। एवमिहापि केचिन्मुखवचनाः केचिन्नासिकावचनाः केचिदुभयवचनाः। तत्र ये मुखवचना गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन। ये नासिकावचना गृह्यन्ते ते नासिकाग्रहणेन। य उभयवचना गृह्यन्त एव ते मुखग्रहणेन नासिकाग्रहणेन च। भवेदुभयवचनानां सिद्धं यमानुस्वाराणामपि प्राप्नोति। नैव दोषो न प्रयोजनम्॥ इतरेतराश्रयं तु भवति। केतरेतराश्रयता। सतोऽनुनासिकस्य संज्ञया भवितव्यं संज्ञया च

इन दोनों स्थानोंपर रहते हैं। उनमेंसे जो लोग ऊपरकी मंज़िलपर रहते हैं उन्हें 'ऊपरके मंज़िलपर रहनेवाले' इसी शब्दसे पहचाना जाता है, जो निचली मंज़िलपर रहते हैं उन्हें 'निचली मंज़िलपर रहनेवाले' इसी शब्दसे पहचाना जाता है, और जो ऊपरकी मंज़िलपर तथा निचली मंज़िलपर दोनों स्थानोंपर रहते हैं उन्हें 'ऊपरकी मंज़िलपर रहनेवाले' अथवा 'निचली मंज़िलपर रहनेवाले' इन दोनों शब्दोंसे पहचाना जाता है। इस तरह यहाँ भी कुछ वर्ण मुखसे उच्चारित किये जाते हैं, कुछ वर्ण नासिकासे उच्चारित किये जाते हैं और कुछ वर्ण मुखसे और नासिकासे इस तरह दोनोंसे उच्चारित किये जाते हैं। उनमेंसे जो वर्ण मुखसे उच्चारित किये जाते हैं उन्हें 'मुखसे उच्चारित किये जानेवाले' इस शब्दसे, जो वर्ण नासिकासे उच्चारित किये जाते हैं उन्हें 'नासिकासे उच्चारित किये जानेवाले,' और जो वर्ण नासिका तथा मुखसे उच्चारित होते हैं उन्हें 'मुखसे उच्चारित तथा नासिकासे उच्चारित' इस तरह दोनों शब्दोंसे पहचाने जाते हैं। (अतः मुख और नासिका इन दोनोंसे उच्चारित किये जानेवाले सानुनासिक स्वर अथवा पंचम वर्ग आदिको 'नासिकावचन' यह शब्द प्रासादवासिन्यायसे लागू होनेके कारण 'मुख' शब्द न रखा जाय तो भी उन्हें संज्ञा होगी।)

इस तरह मुख और नासिका इन दोनोंसे उच्चारित वर्णोंको संज्ञा सिद्ध होगी। परन्तु यम और अनुस्वार इन्हें भी संज्ञा प्राप्त होती है (उसका निपटारा कैसे हो?)

(उन्हें संज्ञा हुई तो भी) कुछ दोष नहीं आता, (और संज्ञा न करनेमें) कुछ लाभ भी नहीं होता।

परन्तु (विधिशास्त्रके स्थानपर) अन्योन्याश्रय दोष आता है।

वहाँ अन्योन्याश्रय दोष कैसे आता है?

सिद्ध सानुनासिक वर्णको संज्ञा की जाती है और संज्ञासे अनुनासिक किये जाते हैं। (तब संज्ञाको अनुनासिककी उत्पत्तिकी आवश्यकता है, और अनुनासिककी

नामानुनासिको भाव्यते तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते।

अनुनासिकसंज्ञायामितरेतराश्रय उक्तम् ॥ १ ॥

किमुक्तम्। सिद्धं तु नित्यशब्दत्वादिति। नित्याः शब्दा नित्येषु च शब्देषु सतोऽनुनासिकस्य संज्ञा क्रियते न संज्ञयानुनासिको भाव्यते। यदि तर्हि नित्याः शब्दाः किमर्थं शास्त्रम्। *किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात्सिद्धम्।* निवर्तकं शास्त्रम्। कथम्। आङ्गमा अविशेषेणोपदिष्टोऽननुनासिकः। तस्य

उत्पत्तिको संज्ञाकी आवश्यकता है।) इसलिए इतरेतराश्रय दोष आता है। और इतरेतराश्रयपर निर्भर कार्य तो नहीं हो सकते हैं।

(वा. १) अनुनासिक संज्ञाके विषयमें (अन्योन्याश्रय दोष आता है सही, परन्तु) अन्योन्याश्रयके विषयमें पहले ही बताया गया है।

क्या बताया गया है?

'सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्' (१.१.१, वा. ९) इन शब्दोंसे (कहा गया है)।—शब्द नित्य हैं। उन नित्य शब्दोंमें सिद्ध जो अनुनासिक है उसको अनुनासिक संज्ञा की जाती है। संज्ञासे अनुनासिक उत्पन्न नहीं किया जाता है।

पर यदि शब्द नित्य हैं, तो यह शास्त्र किसलिए किया गया है?

यदि शास्त्र किसलिए ऐसा (प्रश्न) हो, तो शास्त्र निवर्तक होनेसे इष्टसिद्धि होती है। शास्त्र निवर्तक है (१.१.१, वा. १०)।

सो कैसे?

(शिष्योंको उपदेश करते समय) कुछ भी विशेष न बताते हुए (सामान्य रूपसे) 'आङ्' शब्द निरनुनासिक ('आ' के रूपमें) उपदिष्ट किया गया है। अतः उस (अनुनासिक 'आङ्' की) सब स्थानोंपर निरनुनासिक बुद्धि (ज्ञान) प्राप्त हुई। वहाँ ('आङोऽनुनासिकश्छन्दसि'—६।१।१२६) इस शास्त्रसे 'वेदमें

---

४. "आङोऽनुनासिकश्छन्दसि" (६।१।१२६) इस सूत्रसे 'अभ्र आँ अपः' यहाँ मूलका जो निरनुनासिक 'आ' है उसको अनुनासिक अर्थात् 'आँ' यह आदेश हुआ है। अब यहाँ अनुनासिक किसे कहा जाय वह प्रकृत सूत्रसे समझनेके बाद ही 'आङोऽनुना०' इसमे 'अभ्र आँ' यहाँ अनुनासिक किया जा सकता है। और वह 'आँ' आदेश होनेके बाद ही उसको प्रकृत सूत्रसे अनुनासिक संज्ञा दी जा सकती है। तात्पर्य यह है कि, संज्ञा होनेपर अनुनासिक होगा और अनुनासिक होनेपर उसको संज्ञा होगी। अतः कुछ भी सिद्ध न होनेसे 'अन्योन्याश्रयदोष' आता है।

५. 'प्रादयः' (१।४।५८) यहाँ प्र, परा इत्यादि प्रादिगण कहते समय 'आङ्' ऐसा पाणिनिने गणपाठमें पढ़ा है।

सर्वत्राननुनासिकबुद्धिः प्रसक्ता । तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते । छन्दस्यचि परत
आङोऽननुनासिकस्य प्रसङ्गेऽनुनासिकः साधुर्भवतीति ॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥ १ । १ । ९ ॥

तुलया संमितं तुल्यम् । आस्यं च प्रयत्नश्चास्यप्रयत्नम् । तुल्यास्यं
तुल्यप्रयत्नं च सवर्णसंज्ञं भवति ॥ किं पुनरास्यम् । लौकिकमास्यमोष्ठात्प्रभृति
प्राक्काकलकात् । कथं पुनरास्यम् । अस्यन्त्यनेन वर्णानित्यास्यम् । अन्नमेतदास्य-

---

अच् (स्वर) आगे होनेपर उसके पीछे निरनुनासिक 'आङ्' का उच्चारण न करके
अनुनासिक 'आङ्' का उच्चारण किया जाय ऐसा कहनेसे (अननुनासिक 'आङ्'
की बुद्धि) निवृत्त की जाती है।

(सू. ९)—(तालु, कंठ आदि) मुखमेंके स्थान तथा (आभ्यन्तर) प्रयत्न ये दोनों (जिन वर्णोंके विषयमें) समान होते हैं, उन वर्णोंको सवर्ण (कहते हैं)।

('तुल्यास्यप्रयत्नं' समासका विग्रह कैसे किया जाय ?) तुला अर्थात् तराजू।
'तुला' के आगे 'संमित'—अर्थात् 'तुले हुए' इस अर्थमें—('नौवयोधर्म०'—
४।४।९०—इस सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय करके 'सदृश' इस अर्थका) 'तुल्य' (शब्द
बनाया गया है)। 'आस्य' और 'प्रयत्न' (इन शब्दोंके द्वंद्वसमासको 'जाति-
रप्राणिनाम्'—२।४।६—इस सूत्रसे एकवद्भाव करके) 'आस्यप्रयत्नं' (शब्द
बनाया गया है)। ('तुल्य' और 'आस्यप्रयत्न' इन शब्दोंका 'तुल्यं आस्यप्रयत्नं
यस्य' यह बहुव्रीहि समास किया गया है।) अतः जिन दो वर्णोंका आस्य तुल्य है
तथा प्रयत्न भी तुल्य है ऐसे वर्ण परस्पर सवर्णसंज्ञक होते हैं।

फिर 'आस्य' क्या है ?

ओंठसे कण्ठमणितकका 'मुख' नामसे लोकप्रसिद्ध (जो अन्तर्गत प्रदेश है)
वह यहाँ 'आस्य' है।

(इस प्रदेशको) 'आस्य' शब्द कैसे लगा हुआ है ? 'अस्यन्त्यनेन वर्णान्'
अर्थात् इससे वर्ण बाहर फेंके जाते हैं अर्थात् अभिव्यक्त होते हैं, (इस व्युत्पत्तिसे इस
प्रदेशको 'आस्य' शब्द लगता है)। अथवा 'अन्नमेतद् आस्यन्दते' अर्थात् अन्न

---

१. मुँहमें अन्न रखते ही झट मुँहमें लार निर्माण होती है। पहली व्युत्पत्तिमें 'असु
क्षेपणे' इस दिवादि (४) गणमेंके 'अस्' धातुके आगे 'करण' अर्थमें 'ण्यत्' प्रत्यय लगाया
है। दूसरी व्युत्पत्तिमें 'आ' उपसर्गके आगे 'स्यन्द्' धातुके आगे कर्मणि 'ड' प्रत्यय लगाया
है। इस प्रकार दोनों रीतियोंसे 'आस्य' शब्द सिद्ध किया जा सकता है। 'स्यन्द्' धातु
'द्रवीभूत करना' इस अर्थमें सकर्मक है। 'स्यन्द्' धातु अकर्मक भी है, और उसका अर्थ है
'द्रवीभूत होना'। उस समय कर्तरि 'ड' प्रत्यय किया जाय। अथवा 'अन्न जहाँ द्रवीभूत

न्दत इति वास्यम् ॥ अथ कः प्रयत्नः। प्रयतनं प्रयत्नः। प्रपूर्वाद्यततेर्भावसाधनो नङ्प्रत्ययः ॥ यदि लौकिकमास्यं किमास्योपादाने प्रयोजनं सर्वेषां हि तत्तुल्यं भवति। वक्ष्यत्येतत्। प्रयत्नविशेषणमास्योपादानमिति ॥

सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्यात् ॥ १ ॥

सवर्णसंज्ञाया भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गो भवति। जबगडदशाम्। किं कारणम्। प्रयत्नसामान्यात्। एतेषां हि समानः प्रयत्नः ॥

सिद्धं त्वास्ये तुल्यदेशप्रयत्नं सवर्णम् ॥ २ ॥

सिद्धमेतत्। कथम्। आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा

इसमें द्रव निर्माण करता है वह 'आस्य' है, (इस व्युत्पत्तिसे उस प्रदेशको 'आस्य' शब्द लगता है)। (अतः 'मुख' नामसे जो प्रसिद्ध है वह 'आस्य' है।)

अब, 'प्रयत्न' का अर्थ क्या है?

'प्रयत्न' का अर्थ है 'प्रयतन'। यहाँ 'प्र' उपसर्गपूर्वक ('यती प्रयत्ने' इस) 'यत्' धातुके आगे ('यजयाचयत०'—३।३।९०—इस सूत्रसे) भावमें (धात्वर्थमें) 'नङ्' प्रत्यय किया गया है।

यदि 'मुख' नामसे लोगोंमें प्रसिद्ध वस्तु यहाँ 'आस्य' शब्दसे विवक्षित है, तो सूत्रमें 'आस्य' शब्द रखनेमें क्या प्रयोजन है? क्योंकि सभी वर्णोंको उस मुखकी समान आवश्यकता है।

'प्रयत्न' शब्दको विशेषण देनेके लिए 'आस्य' शब्द रखा गया है, ऐसा आगे (वार्तिककार) कहनेवाले हैं।

(वा. १) सवर्णसंज्ञाके विषयमें भिन्न भिन्न स्थानोंमें उत्पन्न होनेवाले वर्णोंके संबंधमें प्रयत्न समान होनेसे अतिव्याप्ति आ जायगी।

भिन्न स्थानोंमें उत्पन्न होनेवाले ज् ब् ग् ड् द् ये वर्ण परस्परके सवर्ण होनेपर अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति) दोष आता है।

क्या कारण है?

ज्, ब् आदि वर्णोंका प्रयत्न समान है इसलिए।

(वा. २) इष्ट कार्य सिद्ध होता है, कारण कि मुखमें जिसका देश तथा प्रयत्न समान है वे सवर्ण होते हैं।

इष्ट कार्य सिद्ध होता है (और उपर्युक्त दोष नहीं आता है)।

सो कैसे?

'आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नं सवर्णम्' ऐसा सूत्र करनेपर यह दोष नहीं आता है।

होता है वह आस्य' ऐसा भी अर्थ होता है। उस समय 'अधिकरण' अर्थमें 'ड' प्रत्यय किया है ऐसा समझा जाय।

भवन्तीति वक्तव्यम् । एवमपि किमास्योपादाने प्रयोजनं सर्वेषां हि तत्तुल्यम् । प्रयत्नविशेषणमास्योपादानम् । सन्ति ह्यास्याद्बाह्याः प्रयत्नाः । ते हापिता भवन्ति । तेषु सत्स्वसत्स्वपि सवर्णसंज्ञा सिध्यति । के पुनस्ते । विवारसंवारौ । श्वासनादौ । घोषवदघोषता । अल्पप्राणता महाप्राणतेति । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः । एकेऽल्पप्राणा अपरे महाप्राणाः । तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः । एकेऽल्पप्राणा अपरे महाप्राणाः । यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा आनुनासिक्यवर्जम् । आनुनासिक्यं तेषामधिको गुणः ॥ एवमप्यवर्णस्य सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति । किं कारणम् । बाह्यं ह्यास्यात्स्थानमवर्णस्य ।

अर्थात् जिन वर्णोंका मुखमेंका देश (अर्थात् स्थान) तथा प्रयत्न समान है वे परस्परके सवर्ण होते है ऐसा सूत्र किया जाय। ऐसा हो तो भी 'आस्य' शब्द रखनेमें क्या प्रयोजन है? क्योंकि सब वर्णोंको 'आस्य' की अर्थात् 'मुख' की आवश्यकता समान ही है।

'प्रयत्न' को विशेषण देनेके लिए 'आस्य' शब्द रखा गया है। प्रयत्न मुखके बाहरके भी होते हैं और (सूत्रमें 'आस्य' शब्द रखनेसे) वे व्यावृत्त होते हैं। अतः वे (बाह्य प्रयत्न) समान हों अथवा न हों, तो भी सवर्ण संज्ञा होती है। वे बाह्य प्रयत्न कौनसे हैं? विवार और संवार, श्वास और नाद, घोष और अघोष, और अल्पप्राण और महाप्राण ये (बाह्य प्रयत्न) है। उनमें प्रत्येक वर्गमेंके प्रथम और द्वितीय वर्णके विवार, श्वास और अघोष ये प्रयत्न हैं। उनमेंसे पहले अर्थात् पहले वर्णोंका अल्पप्राण प्रयत्न है; अन्योंका अर्थात् दूसरे वर्णोंका महाप्राण प्रयत्न है। और वैसेही वर्गके तृतीय और चतुर्थ वर्णोंके संवार, नाद और घोष ये प्रयत्न हैं। उनमेंसे पहले अर्थात् तृतीय वर्ण अल्पप्राण है। और अन्य अर्थात् चतुर्थ वर्ण महाप्राण हैं। और वर्गके तृतीय वर्णोंके जो (बाह्य प्रयत्न) हैं वेही वर्गके पंचम वर्णके आनुनासिक्यके रहित प्रयत्न है। केवल उक्त पंचम वर्णोंके स्थानपर आनुनासिक्य एक अधिक गुण है।

(बाह्य प्रयत्नोंकी व्यावृत्तिके लिए 'आस्य' शब्द विशेषणके नाते प्रयुक्त करनेपर 'क्, ख् आदि एक वर्गके वर्ण परस्पर सवर्ण नहीं होंगे' यह दोष दूर हुआ,) तो भी (अठारह प्रकारके) 'अ' वर्ण एक दूसरेके सवर्ण नहीं होंगे। कारण क्या है? कारण कि 'अ' वर्णका स्थान मुखके बाहर है।[3]

---

२. क् ख् ग् घ् ङ् इनके बाह्य प्रयत्न समान नहीं हैं, तो भी वे पाँच वर्ण परस्पर सवर्ण समझे जाते हैं। चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग इनके बारेमें भी यही समझा जाय।

३. अठारह प्रकारके अवर्णोंका कण्ठस्थान समान ही है। पर यह स्थान मुखप्रदेशके बाहरका होनेसे उपयुक्त नहीं होगा। और मुखप्रदेशके भीतर तो उनका दूसरा कोई समान स्थान नहीं। अत- अठारह प्रकारके अवर्ण परस्पर सवर्ण नहीं होंगे यह दोष आता है।

सर्वमुखस्थानमवर्णमेक इच्छन्ति। एवमपि व्यपदेशो न प्रकल्पत आस्ये येषां तुल्यो देश इति। व्यपदेशिवद्भावेन व्यपदेशो भविष्यति। सिध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते॥ यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तं सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्यादिति। नैष दोषः। न हि लौकिकमास्यम्। किं तर्हि। तद्धितान्तमास्यम्। आस्ये भवमास्यम्। शरीरावयवाद्यत् [५·१·६]। किं पुनरास्ये भवम्। स्थानं करणं च। एवमपि प्रयत्नोऽविशेषितो भवति। प्रयत्नश्च विशेषितः।

सभी मुख 'अ' वर्णका स्थान है ऐसा भी कोई कहते हैं।

ऐसा गृहीत माना जाय, तो भी 'मुखमें जिनका तुल्य देश है' यह व्यवहार ठीक नहीं बैठेगा।

'व्यपदेशिवदेकस्मिन्'[४] न्यायसे उपर्युक्त व्यवहार ठीक बेठ सकेगा।

(उसी प्रकार 'आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नं' ऐसा सूत्र करनेसे यद्यपि) सब सिद्ध होता है, तो भी मूल सूत्रमें बदल होता है (उसका निपटारा कैसे हो?)

तो फिर मूल जो सूत्र है, वैसा ही सही।

परंतु भिन्न भिन्न स्थानोंके (ज् ब् ग् ड् द् इन) वर्णोंके विषयमें सवर्णसंज्ञाकी अतिप्रसक्ति आती है ऐसा दोष पहले दिया है न?

यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'मुख' नामसे प्रसिद्ध वस्तु, यहां 'आस्य' शब्दसे विवक्षित नहीं है।

तो फिर क्या विवक्षित है?

यहाँका 'आस्य' शब्द तद्धितप्रत्ययान्त है। अर्थात् 'आस्ये भवम्' (मुखमें होनेवाला) इस अर्थमें 'शरीरावयवाद्यत्'—४।३।५५ (इस सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय करके 'आस्य' शब्द बना है।)

मुखमें होनेवाला सो क्या है?

(ताल्वादिक) स्थान और (वर्णोच्चारणके पूर्व होनेवाले जिह्वाके स्पर्श आदि) करण (यहाँ 'आस्य' शब्दसे विवक्षित हैं)।

(तद्धितान्त आस्य शब्दका ग्रहण किया) तो भी ('आस्य' और 'प्रयत्न' इन दो शब्दोंका द्वंद्वसमास किया जानेके कारण 'आस्य' शब्द) 'प्रयत्न' के लिए विशेषण लागू नहीं होता।

---

४. अ. १. पा. १. सू. ७१ टिप्पणी देखिये। तब 'मुख आप ही अपनेमेंका है' ऐसा समझकर मुखस्थान सभी अवर्णोंके लिए समान होनेसे वे परस्पर सवर्ण समझे जायेंगे।

५. कारण कि 'मुखमेंका देश अर्थात् स्थान समान चाहिये' यह शर्त मूल सूत्र रखनेमें नहीं निकलती।

६. इससे प्रयत्न शब्दसे बाह्य प्रयत्न भी आयेंगे और ङ्, ए और गु ये परस्पर सवर्ण न होंगे।

कथम्। न हि प्रयतनं प्रयत्नः। किं तर्हि। प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः। यदि प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्न एवमप्यवर्णस्य एङोश्च सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। प्रश्लिष्टावर्णावेतौ। अवर्णस्य तर्ह्येचोश्च सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। विवृततरावर्णावेतौ। एतयोरेव तर्हि मिथः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। नैतौ तुल्यस्थानौ। उदात्तादीनां तर्हि सवर्णसंज्ञा

तो भी विशेष प्रकारका प्रयत्न मनमें आता है।

सो कैसे ?

(किसी भी प्रकारका अर्थात् सामान्य) प्रयत्न इस अर्थका यहाँका प्रयत्न शब्द नहीं है। तो 'प्रारंभो यत्नस्य' (इस व्युत्पत्तिसे प्रयत्नोंमेंसे वर्णोंत्पत्ति होनेके पहलेका यत्न आभ्यन्तर प्रयत्न) इस अर्थका यहाँ 'प्रयत्न' शब्द है।

यत्नोंमेंसे वर्णोत्पत्ति होनेके पहलेका जो यत्न है वही प्रयत्न है ऐसा गृहीत माना जाय तो भी अवर्ण और 'एङ्' (अर्थात् ए और ओ वर्ण) इन परस्परोंमें सवर्णसंज्ञा प्राप्त होती है।[७]

(मिलाये हुए दूध पानीकी तरह ए, ओ) ये वर्ण (अकार इकार और अकार-उकार इनसे) मिश्रित हैं।

तो अ वर्ण और ऐच् (अर्थात् ऐ और औ) इन परस्परोंकी सवर्णसंज्ञा प्राप्त होती है।

ऐ और औ वर्ण विवृततर प्रयत्नके अवर्णसे युक्त हैं। (अतः आभ्यन्तरप्रयत्न-साम्य न होनेके कारण उन परस्परोंमें सवर्णसंज्ञा नहीं होती।)

तो ऐ और औ ये ही परस्पर सवर्ण समझे जायेंगे।

ऐकार और औकार इनके (तात्त्विक) मूल स्थान समान नहीं हैं।

---

७ एङ् अर्थात् ए और ओ। इस वर्णका पूर्वभाग, जो अवर्ण जैसा दिखाई देता है, उसका स्थान और प्रयत्न अकारसदृश ही होनेसे निःसंदेह ए और उसका ओ इनके भी स्थान और प्रयत्न वेही अर्थात् अकारसदृश ही होंगे। अतः अ और ए तथा अ और ओ ये परस्पर सवर्ण होंगे।

न प्राप्नोति। अभेदका उदात्तादयः॥ अथवा किं न एतेन प्रारम्भो यत्नस्यं प्रयत्न इति। प्रयतनमेव प्रयत्नस्तदेव च तद्धितान्तमास्यम्। यत्समानं तदाश्रयिष्यामः। किं सति भेदे। सतीत्याह। सत्येव हि भेदे सवर्णसंज्ञया भवितव्यम्। कुत एतत्। भेदाधिष्ठाना हि सवर्णसंज्ञा। यदि हि यत्र सर्वं समानं तत्र स्यात्सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात्। यदि तर्हि सति भेदे किंचित्समानमिति कृत्वा सवर्णसंज्ञा भविष्यति शकारछकारयोः षकारठकारयोः सकारथकारयोः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। एतेषां हि सर्वमन्यत्समानं करणवर्जम्॥ एवं तर्हि प्रयतनमेव प्रयत्नस्तदेव च तद्धितान्तमास्यं न त्वय द्वन्द्व आस्यं च प्रयत्नश्चास्यप्रयत्नमिति। किं तर्हि।

तो फिर उदात्त, अनुदात्त आदिको आपसमें सवर्णसंज्ञा प्राप्त नहीं होती है। उदात्त, अनुदात्त आदि गुण व्यक्तिका भेद नहीं कर सकते। (अतः उदात्त, अनुदात्त ये गुण स्वयं भिन्न भिन्न प्रकारके होंगे, तो भी तद्युक्तोंकी सवर्णसंज्ञा होगी।)

अथवा यत्नोंमेंसे वर्णोत्पत्तिके पहलेका यत्न, इस तरह प्रयत्न शब्दका (विशेष) अर्थ लेनेकी हमें क्या विशेष आवश्यकता है? अतः सामान्य यत्न ही प्रयत्न (शब्दका सही अर्थ) और तद्धितान्त आस्य शब्दका (ताल्वादि स्थान यह) पहला ही अर्थ (रहने दीजिये)। उनमेंसे जो यत्न दोनोंका समान हो उतना लेकर सवर्णसंज्ञा की जा सकेगी।

परन्तु क्यों, भेद होनेपर भी सवर्णसंज्ञा की जायगी?

जी हाँ, भेद हो तो भी करनेका विचार है। और भेद होनेपर ही वास्तवमें सवर्णसंज्ञा होनेवाली है। सो कैसे? भेदपर ही सवर्णसंज्ञा अवलंबित है इसलिए। यदि जहाँ सभी समान हो वहाँ (सवर्णसंज्ञा) हो, तो सवर्णसंज्ञाका विधान निरर्थक होगा। (अतः वर्गके बाह्य प्रयत्न भिन्न हों तो भी आभ्यन्तर प्रयत्न समान होनेके कारण सवर्ण संज्ञा होगी।)

यदि भेद होनेपर भी थोड़ीसी समानता लेकर सवर्णसंज्ञा हो, तो शकार और छकार, षकार और ठकार, सकार और थकार इन परस्परोंकी सवर्णसंज्ञा प्रसक्त होती है। आभ्यन्तर प्रयत्नके अतिरिक्त अन्य सब (बाह्य प्रयत्न और स्थान) इन वर्णोंका समान है। आभ्यन्तर प्रयत्न केवल भिन्न है[१४]।)

यदि यह बात है, तो प्रयत्न शब्दका सामान्य यत्न (दोनों प्रकारके) यह अर्थ और तद्धितान्त आस्य शब्दका (आस्यभव ताल्वादिस्थान) यही अर्थ रहने दें। परन्तु आस्यं च प्रयत्नश्च 'आस्यप्रयत्नं' इस तरह यह द्वंद्व समास नहीं है।

---

१३. तत्र सूत्रमें 'प्रयत्न' शब्दसे बाह्य प्रयत्न भी लिये गये, और वे यद्यपि क् ख् ग् इनके विषयमें भिन्न हैं, तो भी उनका स्पष्ट आभ्यन्तर प्रयत्न समान होनेसे सवर्णसंज्ञा होगी।

१४. श्, ष्, स् का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है, और छ्, ठ्, थ् का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट है, तो भी स्थान और बाह्य प्रयत्न समान होनेसे सवर्णसंज्ञा होगी।

त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः । तुल्य आस्ये प्रयत्न एषामिति ॥ अथवा पूर्वस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः । तुल्य आस्ये तुल्यास्यः । तुल्यास्यः प्रयत्न एषामिति ॥ अथवा परस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः । आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्नः । तुल्य आस्यप्रयत्न एषामिति ॥

तस्य । तस्येति तु वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । यो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नः स तस्य सवर्णसंज्ञो यथा स्यात् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञो मा भूत् ।

तस्यावचनं वचनप्रामाण्यात् ॥ २ ॥

तस्येति न वक्तव्यम् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञः कस्मान्न भवति । वचनप्रामाण्यात् । सवर्णसंज्ञावचनसामर्थ्यात् । यदि ह्यन्यस्य

तो फिर क्या है ? 'तुल्य. आस्ये[१५] प्रयत्नः एषाम्' ऐसा 'तुल्यास्यप्रयत्नं' यह त्रिपदबहुव्रीहि है। (अतः शकार और छकार इन दोनोंका तालुस्थानोंमें जो आभ्यन्तर प्रयत्न है, वह भिन्न है, और जो बाह्य प्रयत्न उन दोनोंका तुल्य है, वह तालुस्थानोंमें नहीं है। इसीलिए शकार और छकार इन परस्परोंकी सवर्णसंज्ञा नहीं होती।)

अथवा प्रथम भागका 'तुल्यः आस्ये तुल्यास्यः' इस तरह तत्पुरुष करके दूसरा 'तुल्यास्यः प्रयत्नः एषाम्' इस अर्थका बहुव्रीहि किया जाय। अथवा 'आस्ये प्रयत्नः आस्यप्रयत्नः' इस तरह अगले पदोंका तत्पुरुष करके बादमें 'तुल्यः आस्यप्रयत्नः एषाम्' इस अर्थका बहुव्रीहि किया जाय।

(वह) उसका (सवर्ण हो)।*

'तस्य' ऐसा वचन किया जाय।

क्या कारण है ?

जिसके जिससे स्थान और प्रयत्न समान है वह उसीका सवर्ण हो। जिसके एकके साथ स्थान और प्रयत्न समान है वह दूसरेका सवर्ण न हो।

(वा. २) 'तस्य' शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं; 'सवर्णसंज्ञा' वचनके बलपर (इष्टसिद्धि होती है)।

परन्तु 'तस्य' यह (वचन) कहनेकी आवश्यकता नहीं। तो फिर जिसके एकके साथ स्थान और प्रयत्न समान है वह दूसरेका सवर्ण क्यों नहीं होता? विशेष विधिके बलपर। सवर्णसंज्ञाविधि किये जानेके बलपर नहीं होता। यदि एकके साथ

---

१५ 'आस्य' शब्द तद्धित-प्रत्ययान्त होनेके कारण मुखमेंका तालु आदि स्थान ऐसा उसका अर्थ है। 'आस्ये' यह एकवचन लिया जानेसे 'आस्ये' का 'मुखमेंके एक स्थानमें' यह अर्थ है।

* काशीप्रतिमें यह वार्तिकके रूपमें दिया है।

तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञः स्यात्सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात् ॥

संबन्धिशब्दैर्वा तुल्यम् ॥ ४ ॥

संबन्धिशब्दैर्वा पुनस्तुल्यमेतत् । तद्यथा संबन्धिशब्दाः । मातरि वर्तितव्यं पितरि शुश्रूषितव्यमिति । न चोच्यते स्वस्यां मातरि स्वस्मिन्वा पितरीति संबन्धाच्चैतद्गम्यते या यस्य माता यश्च यस्य पितेति । एवमिहापि तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णमित्यत्र संबन्धिशब्दावेतौ । तत्र संबन्धादेतद्गन्तव्यं यत्प्रति यत्तुल्यास्यप्रयत्नं तत्प्रति तत्सवर्णसंज्ञं भवतीति ॥

ऋकारऌकारयोः सवर्णविधिः ॥ ५ ॥

ऋकारऌकारयोः सवर्णसंज्ञा विधेया । होतृ ऌकारः होतृकारः । किं प्रयोजनम् । अकः सवर्णे दीर्घः [६·१·१०१] इति दीर्घत्वं यथा स्यात् । नैतदस्ति प्रयोजनम् । वक्ष्यत्येतत् । सवर्णदीर्घत्व ऋति ॠवावचनम् ऌति

तुल्यास्यप्रयत्न होनेवाला वर्ण दूसरेका सवर्ण हो तो सवर्णसंज्ञाविधान ही निष्फल होगा।

(वा. ४) अथवा सम्बन्धि शब्दोंकी तरह यह है।

अथवा सम्बन्धि शब्दोंकी तरह यह है। जैसे, माताके प्रति पूज्य भाव रखा जाय, पिताकी सेवा की जाय। यहाँ माता और पिता ये सम्बन्धिशब्द हैं। वहाँ यद्यपि अपनी माता अथवा अपना पिता ऐसा निर्देश नहीं किया जाता, तो भी जिसकी जो माता है अथवा जिसका जो पिता है वह अपने सम्बन्धसे जाना जाता है। वैसेही यहाँ भी 'तुल्यास्यप्रयत्नं,' 'सवर्णं' ये दो सम्बन्धिशब्द हैं। वहाँ सम्बन्धपरसे 'जो जिससे तुल्यास्यप्रयत्न है वह उसीका सवर्ण होता है' ऐसा माना जाय।

(वा. ५) ऋकार और ऌकार ये दो वर्ण एक दूसरेके सवर्ण समझे जायें।

ऋकार और ऌकार ये दो वर्ण एक दूसरेके सवर्ण समझे जायें। उदाहरणके लिए, होतृ + ऌकारः = होतृकारः। (यहाँ ऋ और ऌ सवर्ण हों।)

क्या प्रयोजन है ?

'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) सूत्रसे (ऋ और ऌ इन दोनोंके स्थानपर) दीर्घ (ॠ) हो जाय।

यह प्रयोजन नहीं होता। क्योंकि "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) यहाँ 'ऋति ॠ वावचनम्, ऌति ॡ वावचनम्' ऐसा वार्तिककार कहनेवाले हैं। (अतः अक्के आगे ऋकार होनेपर पूर्वपरके स्थानमें द्विमात्रिक और जिसमें दो रेफ हैं ऐसा स्वतंत्र दीर्घ ॠ आदेश होता है। वैसेही ऌकार आगे होनेपर पूर्वपरके स्थानमें

---

१६. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत मिलकर अठारह प्रकारका जो ऋकार प्रचारमें आता है वह विवृत प्रयत्नका है और उन अठारहमें अन्तर्गत एक ही रेफ है। और इस वार्तिकमें कहा हुआ जो ॠकार है वह उन अठारह ऋकारोंसे भिन्न है। उसका प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है, उसके अन्तर्गत दो रेफ हैं, उन दो रेफोंकी मिलकर एक मात्रा होती है, और उन दो रेफोंके आसपास जो

लृवावचनमिति। तत्सवर्णे यथा स्यात्। इह मा भूत् दध्य्लकारः मध्व्लकार इति। यदेतत्सवर्णदीर्घत्व ऋतीत्येतद्वत इति वक्ष्यामि। तत ऌति। लृकारे च वा लृ भवति। ऋत इत्येव। तन्न वक्तव्यं भवति। अवश्यं तद्वक्तव्यम्। ऊकालोऽ-

द्विमात्रिक ऌ और जिसमें दो लकार हैं ऐसा स्वतंत्र दीर्घ ऌ-आदेश होता है। अर्थात् वार्तिकोंसे ही वहाँ द्विमात्रिक ॠ अथवा ऌकार होनेके कारण ऋकार और ऌकार इनकी सवर्णसंज्ञाका विधान करनेकी आवश्यकता नहीं है।)

(परन्तु वह द्विमात्रिक स्वतंत्र ऋकार अथवा ऌकार) सवर्ण आगे होनेपर ही हो। (सवर्ण आगे न होनेपर) दध्य्लकारः, 'मध्व्लकारः' यहाँ वह नहीं होता है। (तव ऋकार-ऌकारोंकी सवर्णसंज्ञाका विधान करना ही चाहिये।)

('अकः सवर्णे दीर्घः'-६।१।१०१-इस सूत्रसे कहे हुए) सवर्णदीर्घके विषयमें 'ऋति ॠ वा वचनम्' इस (प्रथम वार्तिक) में जो 'ऋति' पद है उस पदके बदले 'ऋतः' (यह पञ्चम्यन्त पद) प्रयुक्त किया जायगा। (वहाँ सवर्ण पदकी अनुवृत्ति आती है। ऋकारका सवर्ण ऋकार ही होनेके कारण ऋकारके आगे ऋकार ही होनेपर यह वचन प्रवृत्त होगा। अतः 'धात्रंशः' यहाँ अतिप्रसंग नहीं आता।) उसके आगे 'ऌति ऌ वा' यह दूसरा वार्तिक है। (यहाँ सवर्णपदकी अनुवृत्ति न की जाय।) 'ऋतः' इस पञ्चम्यन्तकी अनुवृत्ति की जाना पर्याप्त होगा। क्योंकि ऋकारके आगे ऌकार होनेपर द्विमात्रिक ऌ आदेश विकल्पसे होता है (ऐसा अर्थ होनेके कारण दध्य्लकारः आदि स्थानोंपर दोष नहीं आता।) इसीलिए ऋकार और ऌकार इन परस्परोंकी सवर्णसंज्ञाका विधान करनेकी आवश्यकता नहीं है।

(परंतु सवर्णसंज्ञाविधायक प्रकृत वार्तिक किया जानेपर 'ऋति ॠ वा' यह वार्तिकद्वय करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। इस वार्तिकद्वयसे विहित ॠ, ॡ ये दोनों दीर्घ हैं। अतः ऋकार आगे होनेपर 'अकः सवर्णे दीर्घः'—६।१।१०१—इसी सूत्रसे एक बार द्विमात्रिक दो रेफोंका स्वतंत्र ॠ होगा, और एक बार निवृत्त ऋकार दीर्घ होगा। उसी प्रकार ऌकार आगे होनेपर ऋकार-ऌकारोंकी सवर्णसंज्ञा होनेसे एक बार द्विमात्रिक दो ऌकारोंका स्वतंत्र ऌकार होगा और एक बार निवृत्त ऋकार दीर्घ होगा।

सवर्णसंज्ञा बतानेवाला प्रकृत वार्तिक किया गया) तो भी 'ऋति ॠ वा' और 'ऌति ऌ वा' यह वार्तिकद्वय अवश्य करना ही चाहिये। क्योंकि 'ऊकालोऽज्०' (१।२।२७) सूत्रसे द्विमात्रिक अच्को दीर्घ संज्ञा विहित है। और द्विमात्रिक दो

अच् जैसा भाग है उसकी एक मात्रा होती है। तात्पर्य, इस वार्तिकसे कहा हुआ स्वतंत्र ऋकार दो मात्राओंसे युक्त है। अगले 'ऌति ऌ वा' इस वार्तिकसे कहा हुआ ऌकार भी इसी प्रकारका है।

ज्ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञो भवतीत्युच्येत न च ॠकार ॡकारो वाजास्ति। ॠकारस्य ॡकारस्य चाच्त्वं वक्ष्यामि। तच्चावश्यं वक्तव्यं प्लुतो यथा स्यात्। होतृ ऋकारः होतॄकारः होतृ३कारः होतृ ऌकारः होतॣकारः होतॣ३कारः। किं पुनरत्र ज्यायः। सवर्णसंज्ञावचनमेव ज्यायः। दीर्घत्वं चैव हि सिद्धं भवति। अपि च ऋकारग्रहण ऌकारग्रहणं संनिहितं भवति। यथेह भवति। ऋत्यकः [६-१-१२८] खट्व

रेफोंका स्वतंत्र ऋ तथा ऌ तो अच्[17] नहीं है। (अतः द्विमात्रिक स्वतंत्र ऋकार वा ऌकार इनको दीर्घ नहीं कह सकते इसलिए सूत्रसे वे नहीं होंगे। इसीलिए वार्तिकद्वय करना चाहिये।)

परन्तु द्विमात्रिक स्वतंत्र जो ऋकार और ऌकार हैं उसे अच् संज्ञा की[18] जायगी। और वह अच् संज्ञा तो अवश्य[19] करनी चाहिये। होतृ ऋकारः होतॄकारः यहाँ, और होतृ ऌकारः होतॣकारः यहाँ वार्तिकके अनुसार प्राप्त हुआ जो द्विमात्रिक ऋकार तथा ऌकार है उसको प्लुत होके होतृ ३ कारः और होतॣ ३ कारः ऐसे रूप होने चाहिये। (अतः दीर्घ संज्ञा होनेके कारण सूत्रसे ही द्विमात्रिक ऋकार–ऌकारका विधान होनेके कारण वह वार्तिकद्वय करना आवश्यक नहीं है।)

(दोनों[20] प्रणालियोंसे इष्ट सिद्ध होनेके कारण) उनमेंसे कौनसी (प्रणाली) स्वीकारना श्रेयस्कर है?

(*'ऋकारऌकारयोः'*) *यह सवर्णसंज्ञाविधायकवचन ही स्वीकारना श्रेयस्कर* है। क्योंकि ('ऋति ऋ वा' इत्यादि वार्तिकद्वय किये बिना) द्विमात्रिक स्वतंत्र ऋकार–ऌकार सूत्रसे ही दीर्घ किये जा सकते है और अन्यत्र भी ऋकारग्रहणसे ऌकारका ग्रहण होता है। अतः 'खट्व ऋश्यः', 'माल ऋश्यः' यहाँ जिस तरह

---

17. 'ऋऌक्' में जो ऋकार उच्चारित है वह विवृत प्रयत्नका है। तब उसके सवर्ण जो अठारह प्रकारके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ऋकार हैं वे अच् समझे जायेंगे। परन्तु इस वार्तिकसे कहा हुआ जो स्वतंत्र ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नका ऋकार है वह उन अठारह ऋकारोंका सवर्ण नहीं। अतः उसको अच् नहीं कहा जा सकता।

18. 'अइउण्' सूत्रके बाद इन स्वतंत्र ऋ और ऌका पाठ किया जाय तो उन्हें अच् कहा जा सकता है।

19. ऋ और ऌकी सवर्णसंज्ञा कहनेवाला प्रकृत वार्तिक और स्वतंत्र ऋ आदेश कहनेवाला 'ऋति ऋ वा' यह वार्तिक ये दोनों वार्तिक किये जायें तो भी इन स्वतंत्र ऋ और ऌको अच् संज्ञा नहीं होगी; और वह अच् संज्ञा तो उनको प्लुत होनेके लिए आवश्यक ही है।

20. *सवर्णसंज्ञा कहनेवाला वार्तिक किया तो, स्वतंत्र ऋ आदेश कहनेवाला वार्तिक न* किया तो भी चल सकता है यह एक रीति है; और स्वतंत्र ऋ आदेश कहनेवाला वार्तिक किया तो सवर्णसंज्ञा कहनेवाला वार्तिक न किया जाय यह दूसरी रीति है।

ऋश्यः माल ऋश्यः। इदमपि संगृहीतं भवति। खट्व लृकारः माल लृकार इति। वा सुप्यापिशलेः [६.१.९२] उपर्कारीयति उपार्कारीयति। इदमपि सिद्धं भवति। उपल्कारीयति उपाल्कारीयति॥ यदि तर्हृकारग्रहण लृकारग्रहणं संनिहितं भवत्युरण् रपरः [१.१.५१] लृकारस्यापि रपरत्वं प्राप्नोति। लृकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि। तच्चावश्यं वक्तव्यमसत्यां सवर्णसंज्ञायां विध्यर्थम्। तदेव सत्यां रेफबाधनार्थं भविष्यति॥ इह तर्हि रषाभ्यां नो णः समानपदे [८.४.१] इत्यृकारग्रहणं चोदितं मातॄणाम् पितॄणामित्येवमर्थम्। तदिहापि प्राप्नोति।

"ऋत्यकः" (६।१।१२८) इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होता है इसी तरह 'खट्व लृकारः', 'माल ऋकारः' यहाँ भी वह होता है। तथा उप + ऋकारीयति = उपर्कारीयति, उपार्कारीयति यहाँ जैसे "वा सुप्यापिशलेः" (६।१।९२) सूत्रसे (विकल्पसे वृद्धि होती है), वैसेही उप + लृकारीयति = उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति यहाँ भी वह होती है।

यदि सर्वत्र ऋकारग्रहणसे लृकारोंका ग्रहण होगा, तो "उरण् रपरः" (१।१।५१) इस सूत्रसे लृकारको भी रपरत्व प्रसक्त होता है।[21]

वहाँ लृकारके स्थानपर लपरत्वका विधान किया जायगा। वह लपरत्वका विधान तो अवश्य करना ही चाहिये। (भेद इतना ही है कि) सवर्णसंज्ञाका वार्तिक न होनेके समय अपूर्व[22] विधिके लिए करना चाहिये। वही अब सवर्णसंज्ञाका वार्तिक होनेके समय प्राप्त रपरत्वके बाधके लिए होगा।

(तो भी अन्यत्र दोष आता है।) "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८।४।१) यहाँ, मातॄणां पितॄणां स्थानोंपर (णत्व होनेके लिए) ऋकार ग्रहण करनेके बारेमें विशेषतया विधान किया गया है। अतः वह णत्व 'क्लृप्यमानं[23] पश्य' यहाँ भी प्रसक्त होता है।

(परन्तु पहले हम यह पूछते हैं कि) सवर्ण संज्ञाका वार्तिक न होनेके समय भी 'प्रक्लृप्यमानं पश्य' यहाँ ("कृत्यचः—" ८।४।२९ इस सूत्रसे णत्व) क्यों नहीं आता?

---

२१. अतः 'तव-लृकारः' यहाँ "आद्गुणः" (६।१।८७) सूत्रसे गुण होना है; और रपर हो तो 'तवर्कारः' ऐसा विपरीत रूप होगा।

२२. ऋ और लृको सवर्णसंज्ञा न हो, तो "उरण् रपरः" (१।१।५१) सूत्र 'तव लृकारः' के विषयमें लागू नहीं होगा। तब यहाँ "आद्गुणः" (६।१।८७) सूत्रसे जो गुण होनेवाला है वह केवल 'अ' जितना ही होगा। अतः यहाँ नया ही लपरत्व कहना चाहिये।

२३. 'बृंहण' शब्दमें जिस तरह ऋकारका णत्व हुआ है, उसी तरह ऋ और लृ सवर्ण होनेके कारण 'क्लृप्यमान' शब्दमें लृकारसेही णत्व होगा ऐसा दोष आता है।

कॢप्यमानं पश्येति। अथासत्यामपि सवर्णसंज्ञायामिह कस्मान्न भवति। प्रकॢप्यमानं पश्येति। चुटुतुलशर्व्यवाये नेति वक्ष्यामि। अपर आह।

त्रिभिश्च मध्यमैर्वर्गैर्लशसैश्च व्यवाये न

इति वक्ष्यामीति। वर्णैकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्त इति योऽसावॢकारे लकारस्तदाश्रयः प्रतिषेधो भविष्यति। यद्येवं नार्थो रषाभ्यां णत्व ऋकारग्रहणेन। वर्णैकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्त इति योऽसावृकारे रेफस्तदाश्रयं णत्वं भविष्यति॥

नाज्झलौ ॥ १ । १ । १० ॥

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्त्वात् ॥ १ ॥

'चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, लकार और शर (श्, ष्, स्) नामके वर्ण इनसे व्यवधान[२४] होनेपर (णत्व न किया जाय)' ऐसा निषेधवचन आगे बताया जानेवाला है। अन्य वैयाकरण यों कहते हैं कि

'(कवर्ग और पवर्ग इन दोनोंके बीचके) तीन वर्गोंके व्यञ्जनोंसे तथा लकार, शकार और सकार इनसे व्यवधान होनेपर णत्व न किया जाय'

ऐसा वचन किया जायगा। अतः ('प्रक्लृप्यमानं' इस उपर्युक्त उदाहरणमें) "वर्णके एकदेशका वर्णवाचक शब्दसे ग्रहण होता है" इसलिए ऌकारमें जो यह एकदेश लकार है उससे व्यवधान होनेके लिए (णत्वका) निषेध होगा।[२५]

ऐसा है तो फिर 'रषाभ्यां नो णः (८।४।१)' इस णत्वके विषयमें ऋकारका ग्रहण करनेमें ही कुछ तात्पर्य नहीं है। "वर्णोंके एक देशका वर्णवाचक शब्दसे ग्रहण किया जाता है" इसलिए ऋकारमें जो यह रेफ है उसके आधारपर ('मातृणाम्' आदि उदाहरणोंमें नकारको) णत्व होगा। (अर्थात् अब 'क्लृप्यमानं' यहाँ णत्वकी प्राप्ति ही नहीं होती।)

(सू. १०) अच् अर्थात् स्वर और हल् अर्थात् व्यञ्जन ये परस्पर (सवर्णसंज्ञक नहीं होते)।

(वा. १) स्वर और व्यञ्जन इनकी सवर्णसंज्ञाका प्रतिषेध किया जाय तो शकारकी (शकारके साथ) सवर्णसंज्ञाका निषेध प्राप्त होता है, कारण कि शकार स्वर भी है और व्यञ्जन भी है।

---

२४. रेफ, षकार और ऋकार इनमेंसे जो कोई एक वर्ण हो, वह और नकार इन दोनोंमें व्यवधान होते हुए 'न' को णत्व नहीं प्राप्त होता।

२५. अब 'प्रक्लृप्यमानं' रूपमें दोष नहीं आता है। पर 'क्लृप्यमानं' रूपमें ऋ और ऌ ये दो वर्ण परस्पर सवर्ण होनेके कारण जो दोष पहले दिया है वह कैसे दूर किया जाय यह प्रश्न बाक़ी रहता है।

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्नोति। किं कारणम्। अज्झल्त्वात्। अचैव हि शकारो हल्च। कथं तावदच्त्वम्। इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्यच्त्वम्। हल्पूपदेशाद्धल्त्वम्॥ तत्र को दोषः।

तत्र सवर्णलोपे दोषः॥ २॥

तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति। परशतानि कार्याणि। झरो झरि सवर्णे [८.४.६५] इति लोपो न प्राप्नोति॥

सिद्धमनच्त्वात्॥ ३॥

स्वर और व्यञ्जन इनकी सवर्णसंज्ञाका निषेध किया जाय तो यहाँ शकारकी शकारके साथ जो सवर्णसंज्ञा है उसका निषेध प्राप्त होता है।

क्या कारण है?

शकार स्वरोंके भी अन्तर्गत है और व्यञ्जनोंके भी अन्तर्गत है।

स्वरोंके अन्तर्गत कैसे?

('अज्झलौ' यहाँके अच् शब्दसे उपस्थित) इकार ('अणुदित्'—१।१।६९—इस) सवर्णग्राहक शास्त्रसे (दीर्घ ईकारकी तरह अपने सवर्ण) शकारका भी ग्रहण करता है इसलिए ('अइउण्' आदि सूत्रोंमें पठित न होनेपर भी दीर्घ ईकार इस तरह स्वरोंके अन्तर्गत गिना जाता है, वैसे ही शकार भी) स्वरोंके अन्तर्गत गिना जाता है। और ('हयवरट्' इत्यादि) व्यञ्जनोंके उपदेशमें (उस शकारका) प्रत्यक्ष पाठही होनेके कारण वह व्यञ्जनोंके अन्तर्गत भी गिना जाता है।

परंतु सवर्णसंज्ञाका निषेध होनेपर उसमें क्या दोष आता है?

(वा. २) यहाँ सवर्णलोपके बारेमें दोष आता है।

शकारके साथ शकारकी सवर्णसंज्ञाका निषेध होनेपर सवर्णनिमित्तक लोपके विषयमें दोष आता है। 'परश्शतानि कार्याणि' यहाँ ('शतात्परााणि' ऐसा विग्रह दिखाकर 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'—२।१।३२—यहाँके 'बहुल' शब्दके बलपर 'पर' शब्दका 'शत' शब्दके साथ समास करके 'पारस्करप्रभृतीनि च'—६।१।१५७—इस सूत्रसे सुट् आगम अर्थात् स् आगम और श्चुत्व अर्थात् श् व्यञ्जनका 'अनचि च'—८।४।४७—इस सूत्रसे द्वित्व किया जानेपर जो तीन शकार होते हैं उनमेंसे बीचके शकारका) "झरो झरि सवर्णे" (८।४।६५) इससे लोप हुआ करता है वह नहीं होगा।

(वा. ३) शकारका अन्तर्भाव स्वरोंमें न होनेसे इष्ट कार्य सिद्ध होता है।

सिद्धमेतत्। कथम्। अनच्त्वात्। कथमनच्त्वम्। स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। विवृतमूष्मणाम् ईषदित्येवानुवर्तते। स्वराणां विवृतम् ईषदिति निवृत्तम्॥

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा॥ ४॥

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा पुनः सिद्धमेतत्। किमिदं वाक्यापरिसमाप्तेरिति।

(सवर्णसंज्ञाका निषेध न होना) यह सिद्ध होता है।

सो कैसे?

शकारका अन्तर्भाव स्वरोंमें नहीं होता है इसलिए।

उसका अन्तर्भाव स्वरोंमें क्यों नहीं होता?

(ककारसे मकारतक) 'स्पर्श' नामक पचीस वर्णोंका 'स्पृ' नामका आभ्यन्तर प्रयत्न है। अन्तःस्थ नामके य र ल व इनका 'ईषत्स्पृष्ट' है। ऊष्मनामक श ष स ह वर्णोंका 'विवृत' प्रयत्न है। परन्तु पूर्ववाक्यमें से 'ईषद्' पदकी अनुवृत्ति होनेके कारण वह 'विवृत' प्रयत्न 'ईषद् विवृत' होता है। स्वरोंका 'विवृत' नामक आभ्यन्तर प्रयत्न है। परन्तु पूर्ववाक्यमेंसे 'ईषद्' पदकी अनुवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् स्वरोंका 'विवृत' प्रयत्न है, 'ईषद् विवृत' नहीं (ऐसा शौनक प्रातिशाख्यमें कहा गया है)। (अतः इकार और शकार इन दोनोंका आभ्यन्तर प्रयत्न अलग अलग होनेके कारण शकार इकारका सवर्ण नहीं है। इसीलिए इकार शकारका ग्राहक नहीं होता है। यही कारण है कि शकारका स्वरोंमें अन्तर्भाव नहीं होता)।

(वा. ४) अथवा 'वाक्यापरिसमाप्ति' न्यायसे (इष्ट कार्य सिद्ध होता है)।

अथवा 'वाक्यापरिसमाप्ति' न्यायसे यह बात सिद्ध होती है।

'वाक्यापरिसमाप्ति' न्याय क्या है?

---

१. तब दो शकारोंमें परस्परसवर्णसंज्ञाका निषेध न होनेसे 'परश्शत' यह उदाहरण सिद्ध हुआ। और इस तरह स्वर और श् ष् स् इनके ह् प्रयत्नोंमें भिन्नता होनेके कारण 'नाज्झलौ' यह प्रश्न सूत्र ही अनावश्यक होता है। अत 'सिद्धमनच्त्वात्' ऐसा कहनेवाले वार्तिककारोंने सूत्रप्रत्याख्यानका ही यह मार्ग यहाँ दिखाया है ऐसा समझा जाय।

२. वाक्यका अर्थात् महावाक्यका अर्थ पूर्णतया निश्चित होनेतक उस वाक्यमें कही हुई बातोंका उपयोग नहीं किया जा सकता है यह इस न्यायका स्वरूप है। अनेक उपवाक्योंके समूहको महावाक्य कहते हैं। उन उपवाक्योंमें एक मुख्य अर्थात् अंगी और दूसरा उसका अंग ऐसा संबंध रहता है। 'अणुदित्सवर्णस्य०' मेंके 'सवर्ण' पदका अर्थ निश्चित करनेवाले 'तुल्यास्य०' और 'नाज्झलौ०' ये दो वाक्य 'अणुदित्०' इस वाक्यके अंग हैं। तथा 'अण्' पदका अर्थ बतानेवाला वाक्य भी 'अणुदित्०' का अंग है। उसमें भी 'आदिरन्त्येन'

वर्णानामुपदेशस्तावत् । उपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा । इत्संज्ञोत्तरकाल आदिरन्त्येन सहेता [१-१-७१] इति प्रत्याहारः । प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा । सवर्णसंज्ञोत्तरकालमणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः [१-१-६९] इति सवर्णग्रहणम् । एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति । न चात्रेकारः शकारं गृह्णाति ॥ यथैव तर्हीकारः शकारं न गृह्णात्येवमीकारमपि न गृह्णीयात् । तत्र को दोषः । कुमारी ईहते कुमारीहते । अकः सवर्णदीर्घत्वं न प्राप्नोति ।

प्रथमतः वर्णोंका उपदेश । उपदेशके पश्चात् इत्संज्ञा । इत्संज्ञाके बाद "आदिरन्त्येन सहेता" (१।१।७१) सूत्रसे प्रत्याहारसंज्ञा । प्रत्याहारसंज्ञाके बाद सवर्णसंज्ञा । और सवर्णसंज्ञाके पश्चात् "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" (१।१।६९) इस सूत्रसे सवर्णोंका ग्रहण। इन सब वाक्योंसे समुदित (युक्त) महावाक्यसे एतद्-व्यतिरिक्त स्थानपर सवर्णोंका ग्रहण होता है। और यहाँ (इस महावाक्यमेंसे "तुल्यास्यप्रयत्नम्०"—१।१।९—इस उपवाक्यके अर्थका ज्ञान निश्चित होनेके पहले उस निश्चयके लिए 'नाज्झलौ' इस वाक्यके अर्थका ज्ञान आवश्यक होनेके कारण और उस समय सवर्णसंज्ञाविधायक उपवाक्यके अर्थका ज्ञान निश्चित न होनेके कारण अच् पद्से मनमें आनेवाले) इकारसे शकारका ग्रहण नहीं होता। (इसीलिए स्वरोंमें शकारका अन्तर्भाव नहीं होता।)

तो फिर जिस तरह इकार शकारका ग्राहक नहीं होता उसी तरह वह (दीर्घ) ईकारका भी ग्राहक नहीं होगा।

वैसा होनेसे क्या दोष आता है ?

कुमारी + ईहते = कुमारीहते यहाँ "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) सूत्रसे दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता।

यह 'नाज्झलौ' मेंके 'अच् हल्' इस पदका अर्थ बतानेवाला होनेके कारण उसका भी अंग है।
'आदिरन्त्येन०' मेंके 'इत्' पदका अर्थ दिखानेवाला 'हलन्त्यम्' वाक्य 'आदिरन्त्येन०' उसका
का अंग है। 'हलन्त्यम्' को उपदेशकी आवश्यकता होनेसे 'अइउण्' इत्यादि उपदेश उसका
अंग है। अंगवाक्यका अर्थ किये बिना अंगीका अर्थ नहीं किया जा सकता है। उससे यह क्रम
निश्चित होता है—आरंभमें वर्णका उपदेश, उसके बाद इत् संज्ञा, तदनंतर प्रत्याहार, तदनंतर
सवर्णसंज्ञा, तदनंतर सवर्णोंका ग्रहण। इस क्रमके अनुसार सवर्णका ग्रहण अन्तमें होनेके कारण
उसका उपयोग उसके पूर्व होनेवाले 'नाज्झलौ' इस उसके अंगभूत वाक्यार्थमें नहीं किया जा
सकता है। अतः उसमेंके अच् पद्से मनमें आया हुआ जो इकार उससे उसके सवर्णका अर्थात्
शकारका ग्रहण नहीं होता। इसलिए शकारको अच् नहीं कहा जा सकता है।

१. कारण कि इकारका शकार सवर्ण है यह बात उस समय ध्यानमें नहीं आती है।

नैष दोषः। यदेतदकः सवर्णे दीर्घ इति प्रत्याहारग्रहणं तत्रेकार ईकारं गृह्णाति शकारं न गृह्णाति॥

अपर आह। अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्त्वात्॥ अज्झलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्नोति। किं कारणम्। अज्झल्त्वात्। अज्चैव हि शकारो हल्च। कथं तावदच्त्वम्। इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमच्त्वम्। हल्पूपदेशाद्धल्त्वम्॥ तत्र को दोषः। तत्र सवर्णलोपे दोषः॥ तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति। परश्शतानि कार्याणि झरो झरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोति॥ सिद्धमनच्त्वात्॥ सिद्धमेतत्।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि यह जो "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) यहाँ प्रत्याहार नामका 'अक्' शब्द है, उसमेंका इकार (दीर्घ) ईकारका ग्रहण करता है, सकारका ग्रहण नहीं करता।

अन्य कोई वैयाकरण (उपर्युक्त वार्तिकोंका) स्पष्टीकरण यों करता है—अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्त्वात्। स्वर और व्यञ्जन इनकी सवर्णसंज्ञाका जो निषेध किया उसमें शकारके साथ शकारकी सवर्णसंज्ञाका निषेध प्रसक्त होता है।

क्या कारण है?

शकारका अंतर्भाव स्वरोंमें भी होता है और व्यञ्जनोंमें भी होता है इसलिए।

स्वरोंमें कैसे होता है?

('अज्झलो' यहाँके 'अच्' पदसे मनमें आया हुआ) इकार ('अणुदित्०' इस) सवर्णग्राहक शास्त्रसे शकारका भी ग्राहक होता है। इसीलिए (शकारका अन्तर्भाव) स्वरोंमें होता है और हल् नामके वर्णोंमें (शकारका) प्रत्यक्ष पाठ होनेके कारण (उसका अन्तर्भाव) व्यञ्जनोंमें भी होता है।

वैसा होनेसे क्या दोष आता है?

"तत्र सवर्णलोपे दोषः" (वा. २)। वैसा होनेपर सवर्णनिमित्तक लोपके विषयमें दोष आता है। 'परश्शतानि कार्याणि' यहाँ ('अनचि च'—८।४।४७—इससे द्वित्व करनेपर बीचके शकारका) "झरो झरि सवर्णे" (८।४।६५) सूत्रसे लोप प्राप्त नहीं होता।

---

४. अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्त्वात्। तत्र सवर्णलोपे दोषः। सिद्धमनच्त्वात्। इन चार वार्तिकोंके अर्थकी योजना अबतक एक रीतिसे करके दिखायी है। इन्हींकी अन्य रीतिसे योजना कैसे की जा सकती है यह यहाँसे भाष्यकार दिखाते हैं।

कथम्। अनच्त्वात्॥ कथमनच्त्वम्। वाक्यापरिसमाप्तेर्वा॥ उक्ता वाक्यापरिसमाप्तिः॥ अस्मिन्पक्षे वेत्येतदसमर्थितं भवति। एतच्च समर्थितम्। कथम्। अस्तु वा शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञा मा वा भूत् ननु चोक्तं 'परश्शतानि कार्याणि झरो झरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोतीति। मा भूल्लोपः। ननु च भेदो भवति। सति लोपे द्विशकारमसति लोपे त्रिशकारम्। नास्ति भेदः। असत्यपि

"सिद्धमनच्त्वात्" (वा. ३)। (शकारके साथ शकारकी सवर्णसंज्ञा) सिद्ध होती है।

सो कैसे?

शकारका अन्तर्भाव स्वरोंमें नहीं होता इसलिए।

उसका अन्तर्भाव स्वरोंमें क्यों नहीं होता?

"वाक्यापरिसमाप्तेर्वा" (वा. ४)। ("नाऽज्झलौ" इस शास्त्रके अर्थके समय 'अणुदित्' इस वाक्यके अर्थकी परिसमाप्ति अर्थात् पूर्णता नहीं होती इसलिए।) वाक्यापरिसमाप्ति क्या है सो पहले समझाया ही गया है।)

परन्तु इस योजनाके समय वार्तिकमेंका 'वा' शब्द मेल नहीं खाता। (क्योंकि इस योजनामें शकारका अन्तर्भाव स्वरोंमें नहीं होता इसके विषयमें हेतुके नाते वाक्यापरिसमाप्ति की गयी है, दूसरा उत्तर नहीं हो सकता।)

इस समय भी 'वा' शब्द मेल खाता है।

सो कैसे?

'शकारकी शकारके साथ सवर्णसंज्ञा हो वा न हो, कोई दोष नहीं आता, (—ऐसा एक स्वतंत्र अलग पक्ष 'वा' इस शब्दसे यहाँ सूचित किया गया है।)

परंतु (शकार शकारकी सवर्णसंज्ञा न हो तो) 'परश्शतानि कार्याणि' यहाँ ("अनचि च" सूत्रसे शकारको द्वित्व करनेपर बीचके शकारका) "झरो झरि सवर्णे" (८।४।६५) इस सूत्रसे लोप नहीं हो सकता (यहाँ दोष पहले दिया गया है न?)

(बीचके शकारका) लोप न हो (तो भी कुछ बाधा नहीं है)।

परन्तु लोप होना और न होना इन दो प्रकारोंमें भेद होता है।—लोप हुआ तो दो शकारोंसे युक्त उदाहरण बनेगा और लोप न हुआ तो तीन शकारोंसे युक्त उदाहरण बनेगा।

यह भेद नहीं होता। क्योंकि बीचके शकारका लोप न हुआ तो भी दो शकारोंसे युक्त रूप बनता ही है।

सो कैसे?

लोपे द्विशकारमेव । कथम् । विभाषा द्विर्वचनम् । एवमपि भेदः । असति लोपे कदाचिद् द्विशकारं सति लोपे द्विशकारमेव । स एव कथं भेदो न स्यात् । यदि नित्यो लोपः स्यात् । विभाषा तु स लोपः । यदाभेदस्तथास्तु ॥

॥ इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे चतुर्थमाह्निकम् ॥

(" अनचि च "—८।४।४७—इस) द्विर्वचनका विकल्प⁵ है इसलिए।

तो भी (लोप होना और न होना इनमें) भेद है। लोप न हुआ तो द्वित्वके विकल्पके कारण एक बार दो शकारोंसे युक्त रूप और एक बार तीन शकारोंसे युक्त रूप बनता है, और लोप हुआ तो सदा दो शकारोंसे युक्त एक ही रूप होता है।⁶

तो यह भेद क्यों नहीं होगा ?

पर यदि लोप नित्य होगा (तो यह भेद होगा)। और वह लोप तो वैकल्पिक है।

अतः यहाँ जिस रीतिसे यह भेद मिट जाय वही रीति रहने दें। (अर्थात् द्वित्वकी तरह लोपका भी विकल्प होनेके कारण बीचके शकारका लोप नहीं हुआ तो रूपमें भेद नहीं होता।)

इस प्रकार श्रीभगवान् पतञ्जलिके रचे हुए व्याकरणमहाभाष्यके पहले अध्यायके पहले पादका चौथा आह्निक समाप्त हुआ।

---

५. तब द्वित्व किया ही नहीं तो दो शकारोंका रूप होगा ही।

६. कारण कि द्वित्व हुआ तो भी मध्यगत शकारका लोप होनेवाला ही है।